THE BOOK WAS DRENCHED

हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी

नन्ददुलारे वाजपेयी

१९४९

इंडियन बुकडिपो, लखनऊ

मूल्य ५)

प्रकाशक
श्री ओंकार सहाय श्रीवास्तव,
मैनेजर, इंडियन बुकडिपो,
लखनऊ

मुद्रक
श्री अपूर्वकृष्ण बोस,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस ब्रांच

सम्मान्य

श्री अमरनाथ झा जी को

सादर समर्पित

सूची-पत्र

—

विज्ञप्ति

—o—

यह पुस्तक भी मेरी पहली पुस्तक की ही भाँति विभिन्न समयों में लिखे गये मेरे निबन्धों का संग्रह है। महत्त्वाकांक्षावश मैंने इसका नाम 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' रख दिया है। यह शताब्दी ईसा की है, विक्रम की नहीं; अभी इसके चालिस बयालीस वर्ष ही व्यतीत हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन चालीस वर्षों के ही कुछ प्रमुख साहित्यिक व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस समय के सभी प्रमुख साहित्यकार पुस्तक में नहीं आ सके हैं, पर मुझे सन्तोष है कि जितने आये हैं उतने ही इस काल के साहित्य के स्वरूप, उसकी समृद्धि-सीमा और उसकी-विकास-दिशा को दिखा देने के लिए पर्याप्त हैं। छूटे हुओं में आचार्य श्यामसुन्दरदास, 'कविसम्राट्' अयोध्यासिंह उपाध्याय और हरिवंशराय 'बच्चन' के नाम सब से पहले ध्यान में आते हैं। बाबू साहब ने समीक्षा-सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा था जिसके टक्कर की दूसरी पुस्तक अब भी प्रकाशित नहीं हुई। निःस्वार्थ और सङ्घटित साहित्य-सेवा के कार्य में आपका नाम प्रथम गण्य है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा आप के ही उद्योगों का स्मारक है। शैली-निर्माण के कार्य में भी आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु आप के सम्बन्ध में एकदम तटस्थ दृष्टि रखकर लिख सकना मेरे लिए सम्भव न था। इसी प्रकार उपाध्यायजी का 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का अनूठा और युगप्रवर्तक काव्य है। उसके सङ्गीत और सहज उन्मेष की समता उस युग की कोई रचना नहीं कर सकती। उनकी अन्य कृतियों से भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार और आचार्यत्व सिद्ध होता है, किन्तु काव्यदृष्टि से उन कृतियों की आलोचना करना मेरे लिए कठिन था। इसी लिए हमें तत्कालीन काव्यजगत् के एक प्रधान ज्योतिस्तम्भ को छोड़ देना पड़ा। 'बच्चन' जी के सम्बन्ध में यहाँ अधिक कहना उचित न होगा। नई भाषा, नई अभिव्यंजना और नये किस्म की अनुभूति—उनका सब कुछ नया ही नया है। भाषा और अभिव्यंजना

पर लिखने में हमें कोई दिक्कत न थी, पर प्रश्न अनुभूतियों का था। निराशा और पराजय से आक्रान्त ये अनुभूतियाँ हमारे साहित्य में कौन-सा स्थान ग्रहण करेंगी, उच्च साहित्य जो सदैव हमारे अबाध और अपराजित जीवन का सङ्गीत है; इन विच्छत स्वरों का कितना सम्मान करेगा, यही विचारणीय है। बच्चन जी की ख्याति और उनकी अनास्थामयी काव्यरागिनी के बीच इतनी गहरी खाई है कि सहसा कोई सम्मति देने का साहस नहीं होता। बच्चन की आरम्भिक रचनाएँ हमारे देखते-देखते कालकवलित हो चली हैं, या वे कवि-सम्मेलनों के श्रोताओं के मनोविनोद के लिए ही रह गई हैं। किन्तु उनकी कुछ रचनाएँ हिन्दी साहित्य में स्थायित्व ग्रहण करने की भी सूचना देती हैं। वे रचनाएँ कौन-सी हैं और उनके स्थायित्व का हेतु और आधार क्या है, इस पर हम फिर कभी विचार करेंगे। अभी बच्चन एकदम ठहर नहीं गए हैं, न उनकी रचनाओं पर हिन्दी-जगत् की प्रतिक्रिया ही पूरी हुई है। अभी समय भी है, हम प्रतीक्षा कर सकते हैं।

श्री० 'उग्र' भी प्रथम श्रेणी के ही लेखक हैं जिनका परिचय हम इस पुस्तक में नहीं दे सके।

इन चार के अतिरिक्त और भी व्यक्ति हैं जो बिल्कुल प्रथम श्रेणी के न सही, उसके अत्यन्त निकट अवश्य हैं और बहुतों की सम्मति में प्रथम श्रेणी का कार्य कर चुके हैं। इनमें से कुछ तो अब भी काम में लगे हुए हैं। स्वर्गगतों में श्री० पद्मसिंह शर्मा और जीवितों में श्री० भगवतीचरण ऐसे ही दो व्यक्ति हैं। शर्माजी ने अपने कार्य का मुख्य आधार 'बिहारी' को बनाया, इससे उनके सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है कि वे भी शृङ्गारिक परम्परा के ही आलोचक थे। किन्तु वे समीक्षक थे शब्द और अर्थ के, शृङ्गारिकता से उनका सम्बन्ध न था। वे अभिव्यंजना-परीक्षा के आचार्य थे, शब्दगत और अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा अबाध प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया। इस अभाव के कारण हिन्दी की कुछ कम हानि नहीं हुई है। अपने विशेष प्रकार के सम्पर्कों के कारण मैं शर्माजी के सम्बन्ध में निष्पक्ष धारणा उनके जीवनकाल में नहीं बना पाया, किंतु स्वतन्त्र अध्ययन का अवसर मिलने पर उनका महत्त्व समझ सका। शर्माजी की आलोचना पुरानी रसालङ्कार शैली पर नहीं चली

है, उसमें नवीनता और शर्माजी का निजत्व है। शर्माजी की भाषाशैली मार्मिक प्रभाव रखती है। उसमें कहीं भी बनावट और बोझ नहीं है। श्री० भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं में बराबर परिवर्तन होता जा रहा है और प्रौढ़ता बढ़ रही है। उनका व्यक्तित्व दो स्वरूपों वाला है—एक तो मादकता और खुमारी से भरा और दूसरा वास्तविक विद्रोही। इन दोनों का पृथक्करण हो जाने पर स्वस्थ विद्रोह की परिचायक उनकी रचनाओं में नवीन कला और नई सृष्टि के दर्शन होते हैं। यह पृथक्करण वर्मा जी में अभी बहुत कुछ विरल अवश्य है। ये दोनों महानुभाव भी मेरी पुस्तक में सम्मिलित नहीं किये जा सके।

श्री० बालकृष्ण शर्मा, श्री० 'भारतीय आत्मा' और श्री० 'दिनकर' वीररस के स्वदेशप्रेमी कवि हैं। इनका भी हमारे साहित्य में सम्मानित स्थान है। शर्माजी की भावुकता और उनकी काव्यशक्ति के बीच उच्चकोटि का सामंजस्य थोड़ी ही रचनाओं में मिलता है। प्रारम्भ में उनकी कविता सूक्तिप्रधान थी, अब सङ्गीतप्रधान हो गई है। सूक्ति और सङ्गीत काव्य के अलंकरण है, वे स्वतः काव्य नहीं हैं। शर्माजीका पीछा इन अलङ्करणों से कभी नहीं छूटा, इसलिए उनका काव्य अभिव्यंजना-प्रधान ही रहा। जब और जहाँ कहीं अभिव्यंजना की प्रमुखता कम हुई, शर्माजी का काव्य और भी नीरस हो गया। उदाहरण के लिए उनका 'उर्मिला' आख्यान। किन्तु इन शिकंजों से छूटी हुई उनकी कुछ महत्तर रचनाएँ भी हैं जो उन्हें सच्चे कवि के आसन पर बैठा देती हैं। 'भारतीय आत्मा' का काव्य व्यवस्थिति रूप में प्रकाशित होकर हमारे सामने नहीं आया। यह उनके और उनसेभी अधिकहिन्दी संसार के लिए दुर्भाग्य की बात हुई।* 'भारतीय आत्मा' केवल कवि ही नहीं हैं, अपने प्रान्त के नवयुवक कवियों के आराध्य भी हैं। इससे उनके व्यापक प्रभाव और प्रेरक व्यक्तित्व का पता लगता है। बालकृष्ण शर्मा की अपेक्षा 'भारतीय आत्मा और भी अधिक भावुक और सूक्तिप्रिय हैं। उन्हें हिन्दी में उर्दू काव्य-शैली का प्रतिनिधि कहा जासकता है। आश्चर्य यह है कि उनका विकास स्वतन्त्र और उर्दू की सङ्गति से अछूता है। इसलिए उन्होंने हिन्दी में जो अपनी

* हाल में उनका एक संग्रह 'हिमकिरीटिनी' प्रकाशित हुआ है—लेखक

विशेष शैली प्रवर्तित की उसका और भी अधिक महत्त्व है। स्मरण रखना चाहिए कि 'भारतीय आत्मा' में उर्दू कवियों की-सी शृङ्गारिकता भी नहीं है। किन्तु उनके मुक्तकों का निर्माण और तैयारी टकसाली उर्दू कवियों की-सी है। 'भारतीय आत्मा' को मैंने सूक्ति-प्रधान कवि कहा है। उनकी सूक्तियों में उपदेशात्मकता कारण नहीं है, भावना का अतिरेक ही कारण है। इसलिए उनके मुक्तकों में प्रगीतात्मक सौष्ठव भी रहता है, जो साधारणतः सूक्ति प्रिय कवियों में नहीं देखा जाता। यही बात 'नवीन' जी के सम्बन्ध में भी लागू होती है। रामधारीसिंह 'दिनकर' का काव्य इन दोनों से बहुत पीछे का है; किन्तु परिमाण में और काव्य-प्रकर्ष में भी कदाचित् उनसे आगे बढ़ गया है। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि कवि 'नवीन' और माखनलाल देश-सेवा के व्यावहारिक कार्य और उस से उत्पन्न होनेवाली अशान्तियों में व्यस्त रहते हैं, जब कि 'दिनकर' का रास्ता अधिक सुगम और निरापद है। मैं इन तीनों का समावेश भी अपनी पुस्तक में नहीं कर सका।

इनसे भी आगे बढ़िये तो कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्होंने समय को देखते हुए नवीन कार्य किया है और जिनकी कुछ कृतियाँ साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं, किन्तु पर्याप्त साधना और सृजनशक्ति के अभाव में वे अपने कार्य से विरत हो गये हैं अथवा दूसरे प्रकार के साहित्यिक प्रयोग करने लगे हैं। 'प्रयोगवादी' साहित्यकों के सम्बन्ध में मेरी धारणा कभी बहुत ऊँची नहीं रही। 'प्रयोग' शब्द में ही एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यञ्जना है। यह अभ्यास श्रेष्ठ साहित्य का उद्भावक मेरी निगाह में कभी नहीं रहा। परिश्रम के द्वारा कलापूर्ण और सुरुचिपूर्ण साहित्य का निर्माण हो सकता है, प्राणपूर्ण और जीवनप्रद साहित्य का नहीं। किन्तु ऐसे निर्माताओं का भी हिन्दी जैसे विस्तृत और अभ्युदयशील साहित्य में स्थान है। श्री० पदुमलाल बख्शी और श्री० रामकुमार वर्मा के नाम यहाँ स्मरण किये जा सकते हैं। यह मेरी मध्यम श्रेणी है। और भी कुछ नाम हैं जिन्हें गिनाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इन लोगों का विवरण भी मैं इस पुस्तक में नहीं दे सकता।

इन सबसे भिन्न और इनमें से कितनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण नाम श्री० ईलाचन्द्र जोशी का है। जोशी जी का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में एकदम निराला

है। अध्ययन और अनुभव की दोहरी ज्योति से उनकी रचनाएं दीपित हैं। उनके काव्य में पहाड़ी झरने का स्वर और प्रवाह है, उनकी शैली में उसी का प्रवेग है उनके गद्य-लेखों में और विशेषकर उनकी साहित्यिक आलोचनाओं में एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण है। उनकी रचनाओं पर उन्नीसवीं शताब्दी के फ़ान्सीसी यथार्थवादियों का प्रभाव पड़ा है। उनका उपन्यास 'संन्यासी' यथार्थवादी शैली की प्रमुख विश्लेषणात्मक कृति हिन्दी में है। किन्तु उनकी रचनाएँ इतनी देर से प्रकाशित हुईं कि मेरी पुस्तक, प्रस्तुत संस्करण में,उनके विस्तृत विवेचन से वंचित ही रही।

समय के पीछे भी कुछ मनोहर रचनाएँ उपस्थित की गई हैं, किन्तु उनके निर्माण में मौलिक रचना का स्वातन्त्र्य और अनिवार्यता नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों को लीजिए और उनकी तुलना कौशिक, सुदर्शन या श्री० चतुरसेन की कृतियों से कर देखिए और तो और, श्री० वृन्दावनलाल वर्मा या श्री० सियारामशरण के उपन्यासों को ही उनके सामने ला रखिए जिनकी प्रेरणाएँ बहुत कुछ स्वतन्त्र भी हैं, किन्तु केवल समय की दौड़ में पिछड़ी हुई हैं। आप यहीं स्रष्टा और अनुगामी का अन्तर समझ लेंगे और काल के कठोर न्याय का अनुभव कर सकेंगे। परवर्ती रचनाएँ एक तो समय का प्राथमिक और जागृत संस्पर्श न पाकर बासी हो गई हैं और दूसरे रचयिता का अछूता हृदय-स्पन्दन न प्राप्त कर म्लान बनी हुई हैं। वे बनाव शृङ्गार और निर्माण की सुघरता में मौलिक कृतियों को भी मात कर सकती हैं। किन्तु साहित्य की रङ्गभूमि में उतना ऊँचा पद किसी प्रकार नहीं पा सकतीं। काव्य में श्री गुरुभक्त-सिंह और रूपकों में श्री० गोविन्ददासजी की रचनाएँ किसी हद तक इसी श्रेणी की हैं। किन्तु जितने अंशों में ये लेखक और कवि अपनी रचनाओं को परप्रभाव से मुक्त रख सके हैं, उतने अंशों में नवीनता का आनन्द भी देते ही हैं। इन परवर्ती लेखकों का उल्लेख भी मैं अपनी पुस्तक में नहीं कर सका।

तीन और नाम छूट गये हैं जिनका छूटना साहित्य की किसी भी विवरण-पुस्तक में उचित न होता। वे नाम हैं श्री० सनेही, श्री० रामनरेश त्रिपाठी और श्री० गोपालशरण सिंह के। ये तीनों ही 'द्विवेदी युग' और 'प्रसाद युग' के बीच की कड़ियाँ हैं और इस

दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी हैं। इनकी रचना में दोनों युगों के स्मारक-चिह्न मिलते हैं। किन्तु मेरी यह पुस्तक इन विवरणों में नहीं जा सकी है।

मेरी अन्तिम क्षमा-याचना नई पौद के उन लेखकों के प्रति है जिनके नाम भी इस पुस्तक में नहीं आ सके हैं। श्री० अश्क, श्री० अज्ञेय, श्री० रामविलास शर्मा और श्री० नरोत्तमप्रसाद आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। नरोत्तम के 'एक मातावृत' पर, जो गाँधीजी को लेकर की गई नई विश्लेषणात्मक रचना है, मैं अपने विचार कुछ दिन पहले प्रकाशित भी किये थे, पर उस लेख को पुस्तक में स्थान नहीं दिया जा सका। अभी इस वर्ग के लेखक अपने सुस्पष्ट व्यक्तित्व और कला का विकास नहीं कर सके हैं, इसलिए उन पर विचार करना न तो उनके लिए ही न्याय होता न पुस्तक के लिए ही; फिर भी उनकी आंशिक चर्चा आगे इस विज्ञप्ति में की गई है।

अब यहाँ उन लेखकों और कवियों के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है जिनके व्यक्तित्वों और कृतियों का इन निबन्धों में उल्लेख किया गया है। सबसे प्रथम नाम श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी का है जिनसे इन शताब्दी का साहित्यिक कार्य आरम्भ होता है। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक का व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताख पर रखकर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे कायल न थे। संस्कृत से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। इसी लिए द्विवेदीजी की शैली में सम्पूर्ण नवीनता के दर्शन होते हैं, उतनी नवीनता जितनी उनके पीछे आनेवाले रामचन्द्रशुक्ल जैसे प्रशस्त लेखकों में भी नहीं दिखाई देती। नवीन निर्माण को नेतृत्व करनेवाले द्विवेदीजी के यह उपयुक्त ही था। नवनिर्माण का कार्य हाथ में लेकर पहले उन्होंने भाषा और व्याकरण की नींव मजबूत की। इस कार्य को उन्होंने स्वतः किया और अपनी 'स्कीम' के अनुसार उन्होंने दूसरों के हाथ दूसरे काम दिये। द्विवेदी जी का यह नवीन साहित्य-भवन किन सामग्रियों से बना है और वैसा बन पाया है, इसी की चर्चा मेरे निबन्ध में की गई है।

अक्सर कहा जाता है कि यह नवीन भवन विदेशों की नक़ल पर बना है। इसमें

पाश्चात्य मध्यवर्गीय उत्थान काल के आदर्श और 'डिजाइन' की अनुकृति है। इस सम्बन्ध में मेरा कहना इतना ही है कि ईंट, चूना, गारा और मिट्टी जब स्वदेशी है तब केवल डिजाइन विदेशी होने से क्या ! और वह भी इसी अर्थ में विदेशी कही जा सकती है कि विदेशों में उससे मिलती-जुलती इमारतें बन चुकी थीं। किन्तु वे डिजाइनें स्वतः कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता (Nationalism) के प्रभावों से बनी हैं, उनमें एक दूसरे की नकल के लिए अधिक गुञ्जाइश ही नहीं थी।

यह द्विवेदीकालीन साहित्यिक भवन कितनी नवीनता लेकर बना है, यह दिखाने के लिए ही हमने द्विवेदी जी के बाद रत्नाकर जी का नाम रक्खा है। एक ही युग की नवीनता और प्राचीनता का स्वरूप एक साथ देखना हो तो द्विवेदी और रत्नाकर के साहित्यों को देखें। एक ओर प्राचीन भाषा-वैभव और अलङ्करण की भरमार है तो दूसरी ओर तुकहीन, तालहीन, रागहीन रागिनी का चमत्कार ! रत्नाकर की मधुर बीन के सामने द्विवेदीकालीन कवियों का शंखनाद कर्कश अवश्य था, किन्तु स्वागत उसी का किया गया। नया जीवन-प्रवाह उसी में पाया गया।

द्विवेदी-युग के साहित्यिकों में तीन प्रधान हैं—मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द। इन तीनों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। ये तीनों ही नीतिवादी, बुद्धिवादी और आदर्शवादी लेखक हैं जिन्होंने मध्यवर्ग में जन्म लेकर मध्यवर्गीय पराजय के दर्शन नहीं किये थे। नवीन औद्योगिक सभ्यता की हलचल और मध्यवर्ग पर उसका अनिष्टकारी परिणाम उन पर नहीं पड़ा था। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ व्यक्ति के स्वरूप और उसके महत्त्व को अत्यधिक उज्वल बनाकर प्रकट करती हैं।

काव्य और कला की दृष्टि से यह उत्थान हिन्दी के लिए उतना अधिक गौरवप्रद नहीं सिद्ध हुआ जितनी आशा की जाती थी। इसके कई कारण हैं। प्रथम यह कि यह आदर्शवादी उत्थान हिन्दी में थोड़े ही वर्ष रहा। द्वितीय यह कि इसको नवीन और अनगढ़ भाषा का परिष्कार करने में भी शक्ति लगानी पड़ी। तृतीय यह कि परिस्थितियाँ और वातावरण (राजनीतिक पारतंत्र्य, समाजव्यापी अशिक्षा आदि)

इसके अनुकूल न थे। चतुर्थ यह कि संयोगवश उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा वाले व्यक्ति थोड़े थे।

इन व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ अन्तर है ही। मैथिलीशरण में भारतीय भक्तपरम्परा का प्रभाव होने के कारण भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति अधिक है। शुक्लजी में पाश्चात्य बुद्धि-वादियों का असर अधिक है। प्रेमचन्दजी का रङ्ग-ढङ्ग मुंशियाना है, उर्दू का प्रभाव लिये हुए।

मैंने अपने निबन्धों में इन तीनों के साहित्यिक व्यक्तित्व को विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसलिए एक-एक के सम्बन्ध में दो-दो और तीन-तीन लेख लिखने पड़े हैं। मैंने इस भ्रम से बराबर बचने और पाठकों को बचाने की चेष्टा की है कि उच्च आदर्शों के प्रति आसक्ति दिखाना ही उच्च साहित्य की सृष्टि करना है। यह बात मैथिलीशरण जी की विवेचना करते हुए सामने रक्खी गई है। ऊँचे से ऊँचे दार्शनिकवाद या सिद्धान्त की भी काव्य-विवेचन में एक सीमा है जिसके आगे वह नहीं जा सकता, यह शुक्लजी के विवेचन में दिखाया गया है प्रेमचन्दजी के विवेचन में मैंने उनके कला-निर्माण और उनके स्थूल बुद्धिवाद की खामियाँ दिखाई हैं।

काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है; किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण, बाह्य, स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।

द्विवेदी-युग के साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऊँचे से ऊँचे आदर्श भी महान् काव्य के निर्माण में सब समय सहायक नहीं होते। यह बात साहित्य के अन्य अङ्गों के सम्बन्ध में उतनी चरितार्थ चाहे न हो, पर काव्य के सम्बन्ध में

पूरी तरह लागू होती है। द्विवेदी-युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन न कर सकी, काव्य-विकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे। एक कपाट खोलने का उपक्रम श्री० श्रीधर पाठक के प्राकृतिक वर्णनों और उनके अँगरेज़ी के अनुवादों ने किया। दूसरा कपाट प्रसादजी के प्रयत्नों द्वारा खुला।

प्रसादजी का साहित्य और विशेषकर उनका काव्य किन्हीं भी नीतिवादी या उपयोगितावादी तुलाओं पर नहीं तौला जा सकता। प्रसादजी का काव्य उनके व्यक्तित्व का विकास है। उस काव्य की बाह्य कारीगरी और अन्तरङ्गानुभूति प्रसादजी की जीवनी के साथ ही प्रौढ़तर होती गई है। किसी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने के कारण प्रसादजी का काव्य-विकास निर्बाध और स्वच्छन्द गति से, तथा बहुमुखी साहित्यिक सृष्टियों में हो पाया। द्विवेदी-युग ने उनकी परवाह नहीं की, भरसक उन्हें दबाया ही, पर उन समस्त दबावों की अवमानना कर प्रसादजी का साहित्य आज जिस रूप में हमारे सम्मुख मौजूद है, अपनी महत्ता का प्रमाण आप ही देता है।

समय और समाज की आवश्यकता के आधार पर भी प्रसादजी का साहित्य नहीं आँका जा सकता। उसकी मुख्य विशेषता है जीवन की बहुरूपता का चित्रण। वैदिकयुग, पौराणिकयुग, प्रारम्भिक इतिहासयुग, मौर्ययुग, शुङ्गयुग, गुप्तयुग, मध्ययुग और आधुनिकयुग, सभी के पात्रों और परिस्थितियों का अङ्कन प्रसादजी ने किया है। नारी, पुरुष, वृद्ध, बालक; राजा, रईस, अमीर, ग़रीब; भले, बुरे, छोटे, बड़े; कोई भी छूटे नहीं हैं। जय-पराजय, विनय-उद्दण्डता, आत्मगर्व-आत्मग्लानि रूपगर्व-रूपनिन्दा शतशः जीवन-प्रसङ्गों और भावों की अभिव्यक्ति उन्होंने की है। संक्षेप में प्रसादजी अपने समसामयिक कवि रवीन्द्रनाथ की ही भाँति बहुमुखी जीवन के कवि हैं। प्रेमचन्द में इतना विस्तार और बहुरूपता नहीं पाई जाती! वे आधुनिक जीवन तक ही सीमित हैं और उनमें वर्गगत या जातिगत चित्रण की प्रधानता है, वैयक्तिक चित्रण की नहीं।

जीवन की इस विशालता का निर्माण स्वतः एक महत् कार्य है। ऊँची साहित्यिक सृजनप्रतिभा द्वारा ही यह सम्भव है। अँगरेज़ लेखक डिकेन्स की ख्याति इसी

लिए इतनी अधिक है। किन्तु डिकेन्स में अँगरेज़ समीक्षक मध्यवर्ता जीवन-दर्शन के अभाव की शिकायत करते हैं। यहाँ डिकेन्स से प्रसादजी की तुलना नहीं की जा रही, पर इतना कहने में कोई आपत्ति नहीं कि प्रसाद के वैचित्र्यबहुल साहित्य में एक सुस्पष्ट दार्शनिक अनुबन्ध भी पाया जाता है।

प्रसाद का वह जीवन-दर्शन क्या है? वह जीवन-दर्शन है विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम, रहस्यवाद। कवि रवीन्द्रनाथ का भी यही जीवन-दर्शन था। कवि प्रसाद और रवीन्द्र में सृजनात्मिका शक्ति की मात्रा और वैशिष्ट्य का अन्तर नहीं है, यह मैं नहीं कह सकता। पर वह जितना है उससे कहीं अधिक विज्ञापित किया गया है। इन दोनों कवियों का अधिक अन्तर दोनों के प्रचार को लेकर ही है।

प्रश्न किया जाता है कि अनेक युगों के अनेक पात्रों का चित्रण, उनकी अनेकविध रूपरेखा और उनका मध्यवर्ती रहस्यवाद क्या निर्दिष्ट से अनिर्दिष्ट की ओर भागना या पलायन करना नहीं है? रवि बाबू के विषय में भी यह प्रश्न किया गया है और प्रसादजी के विषय में भी अनेक बार। किन्तु यह कोरा तर्क प्रसाद और रवीन्द्र की महती जीवन-प्रेरणाओं पर पर्दा नहीं डाल सकेगा। यह पलायन नहीं है, जीवन की वास्तविक विशालता को स्वीकृति है; वर्तमान अभावों का, वैषम्य से, इङ्गित है और उक्त विशालता के आधार पर रहस्यमय जीवन-ऐक्य की स्थापना का प्रयत्न है। इन कवियों का जीवन-दर्शन परम्परा से गृहीत या पढ़कर सीखा हुआ नहीं है। यह उनकी अनुभवसिद्ध जीवनसाधना का परिणाम है जिसके द्वारा उनकी कलाकृतियाँ अनुप्राणित हैं।

फिर प्रश्न होता है कि ऐसा साहित्य भी किस काम का जो हमारे सामयिक जीवन और उसके प्रश्नों पर कोई प्रकाश न डालता हो। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि प्रसादजी अनावश्यक रूप से साधारण प्रेम-प्रसङ्गों को प्रच्छन्न, ऐकान्तिक और रहस्यमय रूप देते हैं। तीसरी बात यह कही जाती है कि प्रसादजी नवीन औद्योगिक जीवन और उसकी वास्तविकता से अपने अन्तिम काव्य 'कामायनी' में भी दूर ही रहे। पहले प्रश्न का उत्तर यह है—उच्च साहित्य किसी भी समय असामयिक या अनुपयोगी

नहीं हो सकता। वह स्थायी संस्कृति और सौन्दर्य का उपादान है। फिर, स्थूल दृष्टि से भी, काव्य की सामयिक उपयोगिता और आवश्यकता को परखने की शक्ति भी तो हममें होनी चाहिए। दूसरे आरोप का उत्तर यह है—प्रसादजी के प्रच्छन्न प्रेम-वर्णनों में क्रमशः उनका व्यक्तित्व उद्घाटित होता गया है और 'कामायनी' में आकर वह पूर्णतः उद्घाटित हो गया है। 'कामायनी' में किसी प्रकार की प्रच्छन्नता नहीं रह गई है। यह व्यक्तित्व का उद्घाटन स्वतः काव्य को एक अपूर्व स्वस्थता और विशालता प्रदान कर सका है। तीसरी आपत्ति का उत्तर यह है—काव्य को उसको ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर देखने से यह प्रकट होगा कि सबसे पहले प्रसादजी ने ही इस सांस्कृतिक द्वन्द्व का निरूपण किया है। इस पर उनकी प्रतिक्रिया एकदम निषेधात्मक नहीं है। वह समझौते की-सी स्थिति तक गई है। समय को देखते हुए इतना आगे कोई दूसरा कवि नहीं जा सका।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रसादजी का रहस्यवादी जीवन-दर्शन प्रच्छन्न प्रेम-वर्णनों में नहीं, न वह नवीन वास्तविकता के निषेध में है। यदि ऐसा होता तो हम प्रसाद के काव्य और उनके व्यक्तित्व को किसी हद तक पलायनवादी कह सकते थे किन्तु तब उसमें शक्ति की और सौन्दर्य की वह धारा न दीखती, जो दीखती है। प्रसादजी का रहस्यवाद जीवन-द्वन्द्वों की स्वीकृति और उनके परिहार में देखा जाता है। सुख और दुःख की विपरीत परिस्थितियों के सामञ्जस्य और सहन में देखा जाता है। अथवा वह कहीं-कहीं करुणा की विश्वव्यापिनी सत्ता के निरूपण में देखा जाता है प्रसादजी का रहस्यवाद वास्तविक (Positive) सत्ता है। उनका नियतिवाद और निराशावाद उनके चरम सिद्धान्त नहीं हैं। वे उनके चरमसिद्धान्तरहस्यवाद का उन्मेष करने, उसे प्रखर बनाने और अधिकाधिक शक्ति-सम्पन्न करने में सहायक हुए हैं।

द्वन्द्वों की तीव्रता के कारण प्रसाद का साहित्य प्राणमय और उदात्त हो गया है। दोनों पक्षों का समान सौकर्य के साथ चित्रण करना (जैसा उनकी प्रौढ़ रचनाओं में देखा जाता है) प्रसाद के निस्संग व्यक्तित्व का सूचक है और जो बाहुल्य और प्रसार उनके काव्य में पाया जाता है वह उनकी महती जीवनाभिलाषा का परिचायक

है। इस विशालता के साथ जो परिणति या समन्वय उन्होंने दिखाया है वह समाज और साहित्य को 'प्रसाद' का अपना प्रसाद है।

यह चर्चा यहाँ इतनी इसलिए बढ़ा दी गई है कि प्रसादजी और नवीन रहस्यवादियों के सम्बन्ध में नये और पुराने दोनों ही वर्गों के लेखकों में बहुत काफ़ी भ्रान्ति फैली हुई है। काव्य और कला की कोई माप स्थिर न होने के कारण नये समाजशास्त्री और मनोविश्लेषक इस क्षेत्र पर मनमाने हमले कर रहे हैं और अपनी नई विद्या इस पर आज़माने में लगे हुए हैं। यदि इनका लक्ष्य वास्तविक ज्ञान-विस्तार होता और ये साहित्य-समीक्षा के अन्तर्गत अपने-अपने विषयों की सीमा समझते हुए तटस्थ वैज्ञानिक अनुशीलन करते तो साहित्य-समीक्षकों की बहुत कुछ सहायता और साहित्य का उपकार भी कर सकते थे, पर इनका लक्ष्य तो है साहित्य-क्षेत्र पर एकछत्र आधिपत्य जमाना और साहित्य की अपनी सत्ता को मिटा देना। ऐसी अवस्था में इनसे साहित्य के किस लाभ की आशा की जाय!

छायावाद और रहस्यवाद पर इनका आक्रमण नादिरशाही ढङ्ग का है, क्योंकि इसी से ये अधिकार छीनना चाहते हैं। 'छायावाद या पलायनवाद' यही इनका नारा है जिसके बूते ये साहित्य के एक युग-विशेष को हड़प जाना चाहते हैं। इस युग के साहित्य की हरी-भरी खेती पर ये क़हर ढाते फिरते हैं। भाँति-भाँति के फ़िक़्रे निकालकर इन्हीं अस्त्रों से केवल छायावाद और रहस्यवाद के काव्य को ही नहीं, पूर्ववर्ती सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को—हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की अमिट धारा को—मिटा देना चाहते हैं। देखें, इनकी उछल-कूद से पैदा हुई अराजकता कितने दिन टिकती है!

छायावाद युग को चाहे जिस नाम से पुकारिए, इसका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। राष्ट्रीय इतिहास में जिन सुस्पष्ट प्रेरणाओं से यह उत्पन्न हुआ और जिस आवश्यकता की पूर्ति इसने की, उसकी ओर ध्यान न देना आश्चर्य की बात होगी। हिन्दू जाति के नाना भेदों-प्रभेदों के बीच एक सङ्घटित जातीयता का निर्माण, हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई आदि विभिन्न धर्मानुयायियों में एक अन्तर्व्यापी मानवसूत्र का अनुसन्धान, राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच खाइयाँ पाटना—महायुद्ध के पश्चात् अपने देश के

सामने ये प्रधान प्रश्न थे। देश की स्वतन्त्रता का भी कुछ कम प्रधान प्रश्न न था। पर वह जातीय और राष्ट्रीय एकसूत्रता के आधार पर ही खड़ा हो सकता था और अन्तर्राष्ट्रीय मानवसाम्य का एक अङ्ग बनकर ही शोभा पा सकता था। यह सम्मिलन और सामञ्जस्य की भावना भारतीय संस्कृति की चिरदिन की विशेषता रही है, इसलिए महायुद्ध की शान्ति के पश्चात् ये प्रश्न सामने आते ही वह सांस्कृतिक प्रेरणा जाग उठी और तीव्र वेग से तत्कालीन काव्य और कलाओं में अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगी।

प्रतिकूल परिस्थितियों की प्रतिक्रिया भी हुई। कविगण उस अवरुद्ध वातावरण का उद्घाटन करने में भी प्रवृत्त हुए जो चारों ओर छाया हुआ था। प्राच्य और अधुनातन जीवन का विभेद और तज्जन्य सङ्कल्प-विकल्प तथा संशय भी नवीन साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ। कुछ दुर्बल हृदय व्यक्तियों पर इस परिस्थिति का अनिष्टकारी प्रभाव भी पड़ा, किन्तु ऐसे गुमराह व्यक्तियों की निःशक्त सत्ता पर हमारा इस समय का साहित्य नहीं टहरा है। इसकी नींव बलिष्ठ भूमि पर रक्खी हुई है।

समृद्धि और अलङ्करण के लिए इसने विभिन्न दिशाओं में प्रसरण किया। उपनिषदों का दिव्य दर्शन इसने अपनाया जिसमें अलौकिक ओज और प्रसार था। महात्मा बुद्ध और उनकी क्रान्तिकारिणी शिक्षाओं से भी इसने सबक़ सीखा। भारतीय इतिहास के समृद्धिशाली युगों का वृत्तान्त छाना। प्राचीन रहस्यवादियों और सन्तों की वाणी का भी अनुशीलन किया। अजन्ता और इलोरा, साँची और सारनाथ की प्राचीन कला-सामग्री का भी अध्ययन और उपयोग किया। पाश्चात्य 'टेकनीक' या निर्माण-कौशल भी इसमें कुछ न कुछ दिखाई दिया और पश्चिमी 'पालिश' भी लगी। उतने बड़े पैमाने पर न सही, किसी हद तक यह नया कला-आन्दोलन जो हिन्दी साहित्य में छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप के सुप्रसिद्ध 'रिनेसाँ' या पुनरुत्थान-आन्दोलन से समानता रखता है। पर समुचित विज्ञप्ति के अभाव में इसकी पूरी प्रतिष्ठा भी नहीं हो पाई थी कि उस पर ऊपर कथित हमले शुरू हो गए। यदि आक्रमणकारियों की बात सच मानी जाय तो यह सारी कला-सामग्री कोरा पलायन ही सिद्ध होगी। पर यह है क्या, इसका निर्णय तो पाठकों की स्वतन्त्र बुद्धि ही कर सकती है।

प्रसाद के बाद निराला और पन्त दो प्रमुख व्यक्तित्व हिन्दी में आये। तुलसी और सूर, देव और बिहारी के बाद यह तीसरी जोड़ी हिन्दी में प्रसिद्ध हुई। मेरा अपना अटकल यह है कि तुलसी और देव में प्रेमी निराला की ओर और बिहारी के प्रेमी पन्त की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। एक के काव्य में पौरुष और पांडित्य की प्रधानता है, दूसरे के काव्य में कोमलता और कला का विकास है। दोनों की विशेषताएँ इकट्ठी होकर इतनी समतोल-सी हो गई हैं कि 'को बड़-छोट कहत अपराधू' की-सी दशा आ पहुँची है?

यहाँ उस दलबन्दी की बात नहीं की जा रही जिसके फल-स्वरूप हिन्दी का सारा काव्य-विवेचन चौपट होता जा रहा है और जिसके कारनामे का कुछ जिक्र ऊपर किया जा चुका है! पन्तजी को उनकी अपनी काव्यप्रतिभा से दूर हटाकर एक नकली वातावरण में घसीट लाने का श्रेय इसी दलविशेष को है। यदि इन दलबन्दियों का शीघ्र खात्मा नहीं हो जाता तो पता नहीं किस कवि को कौन-सा आसन कब किस आधार पर दे दिया जायगा और उस आसन के खिसकने पर उस कवि की कब कैसी दुर्गति होगी।

भ्रम यहाँ तक फैल गया है कि 'स्वच्छन्दता' (Romantism के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आविष्कृत इस शब्द को हम यहाँ उन्हीं के अर्थ में स्वीकार करते हैं) की प्रकृति और वास्तविक प्रेरणा से प्रकट हुई 'पल्लव', 'ज्योत्सना' या 'गुञ्जन' जैसी रचनाओं को शुक्लजी सरीखे समीक्षक भी हेठी देते हैं और 'युगवाणी' सरीखे कोरे बुद्धि-प्रसूत पद्यों को स्वच्छन्दतावाद के अन्दर शुमार करते और प्रवर्द्धना देते हैं। काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक भी जब इस प्रकार की सम्मति देते हैं तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्यसृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।

यहाँ मैंने किसी विशेष युग के साहित्य की वकालत करने का बीड़ा नहीं उठाया। पर साहित्य के विभिन्न युगों की सृष्टियों के बीच जो संतुलित आकलन या समानुपात होना चाहिए और एक ही युग के दो या अनेक कवियों के बीच उनकी यथायोग्य

साहित्यिक मर्यादा की जैसी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, दोनों का ही वर्तमान हिन्दी में प्राय: अभाव दीखता है और यह नहीं समझ पड़ता कि अवस्था किस प्रकार स्थापित होगी। मैंने यहाँ जो कुछ लिखा है इसी दृष्टि से लिखा है, इसी लिए यह चर्चा कुछ विस्तृत भी हो गई है जो मुझे इष्ट न था, और शब्दों में कुछ कटुता भी आ गई है, जो एकदम ही अभिप्रेत न थी। किन्तु मेरी लाचारी देखकर और मेरा आशय समझकर, आशा है, मुझे क्षमा किया जायगा।

द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयतावाद और छायावादी मानवऐक्य की भावनाओं ने कैसी पृथक् काव्य-शैलियों को जन्म दिया इसका एक स्थूल परिचय मैथिलीशरण गुप्त, निराला और प्रसाद की देश-प्रेमसम्बन्धी कविताओं का अध्ययन करने पर मिल जाता है। मैथिलीशरणजी की 'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है' वाली सुन्दर कविता में देश की एक स्थूल चौहद्दी कायम करके उसी की विशेषताओं का अधिक आग्रह के साथ उल्लेख है। प्रसाद में कुछ स्थानों पर यह चौहद्दी भी है, पर अधिकतर ऐसे वर्णन हैं— 'उड़ते खग जिस ओर मुँह किये समझ नीड़ निज प्यारा, अरुण वह मधुमय देश हमारा' जिन्हें कोई भी देशप्रेमी अपने देश के सम्बन्ध में गा सकता है। उनका सम्बन्ध किसी देश-विशेष से नहीं है। और निरालाजी के 'भारति जय विजय करे' गीत को देखिए तो प्रकट होगा कि इसमें और भी प्रादेशिकता का अभाव है। 'तरु तृण वन लता वसन, अञ्चल में खचित सुमन' अथवा 'प्राण प्रणव ओंकार ध्वनित दिशाएँ उदार' आदि पंक्तियाँ प्राकृतिक और ज्ञानजन्य मानवऐक्य का निर्देश करती हैं, वे स्थूल देश-प्रेम से दूर जा पड़ी हैं। गुप्तजी की सारी रचनाएँ राष्ट्रीय और माननीय आदर्शों पर आधारित होती हुई भी आराधनात्मक ही रहीं जब कि परवर्ती रचनाएँ जीवन की वास्तविक सीमा के अंतर्गत आ गईं। यदि विश्वविद्यालयों की डाक्टरेट डिग्रियों के प्रयासी अपने स्थूल विभाजनों और वर्गीकरणों में इतने मोटे भेद भी दे दिया करें तो काव्य-विवेचन एक क़दम आगे बढ़ जाय और काव्य की ऐतिहासिक तथा कलात्मक परीक्षा में, जो आगे की श्रेणियाँ हैं, कुछ अधिक सहायता मिले। मेरा उनसे निवेदन है कि वे इस ओर ध्यान दें।

निराला और पंत की काव्यगत विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। मूल पुस्तक में उनका विवरण दिया गया है। यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है कि साहित्य के इतिहास में नवीन क्रान्ति और प्रवर्तन का कार्य इन दोनों ने किया। काव्य के केवल बाह्य स्वरूप (छन्द, भाषा आदि) में नहीं, अन्तर बाह्य दोनों में (नवीन भावना-कल्पना, नव्य जीवन दर्शन और नव-निर्माण में भी) सुस्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया। इनके अतिरिक्त कवियों और लेखकों का एक वृहत् समुदाय (इतना बड़ा जितना हिन्दी के इतिहास में शायद ही कभी देखा गया हो, जिस समुदाय के सब व्यक्तियों के नाम गिनाना यहाँ असम्भव है, किन्तु जिनमें से बहुतों के व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अपनी छाप छोड़ चुके हैं) इस स्वच्छन्दतावादी कला-आन्दोलन में सम्मिलित हुआ।

सन् १९२० से ३५ तक इस आन्दोलन की विकासावस्था थी। इस समय तक वह अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा कर सका था। 'कामायनी' काव्य का निर्माण इस उत्थान की पूर्णता का प्रतीक है। निराला का विद्रोह समाप्त हो रहा था, 'गीतिका' में वे सङ्गीत और आभरणयुक्त रचना करने लगे थे। 'गीतिका' के चित्रों में सफाई और काट-छाँट प्रौढ़ता की सीमा पर पहुँच गई थी और इस दिशा में अधिक आगे बढ़ने को स्थान न था। 'पल्लव' के पश्चात् पन्तजी का 'गुञ्जन' प्रकाशित हुआ जिसमें उनके कथनानुसार सरगम के 'सा' से (जिसका प्रयोग पल्लव में था) आगे बढ़कर 'रे' के स्वर का सन्धान किया गया था। किन्तु 'सा' के सार्थक प्रयोग के सामने 'रे' की बहुत कुछ निरर्थक पाद-पूर्ति मेरी दृष्टि में कविता को आगे नहीं बढ़ा सकी। अवश्य उसमें अभ्यास और सजावट की प्रचुरता आ गई।

एक ही अपवाद श्री० महादेवी वर्मा का काव्य है। किन्तु वर्माजी के काव्य में सृजन की उत्कट लालसा किसी समय नहीं दिखाई दी। वह सदैव स्त्रियोचित साज-सजा और शालीनता के साथ उपस्थित हुई है। जैसे बाहरी प्रकाशन में वैसे ही भीतरी विन्यास में भी महादेवी जी की कृतियाँ ऐश्वर्यशालिनी और परिश्रम-साध्य हैं। सर्वजन-सुलभ वे कभी नहीं रहीं।

किसी विशेष कला-शैली के विकास में ऐसे समय भी आते हैं, जब उस शैली की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी रहती है, फिर भी निर्माण-कार्य जारी रहता है। ऐसे समय में ही उस कला-परिपाटी का ऐश्वर्य और असाधारण चमत्कार देखा जाता है। जो ऐश्वर्य और आभरण के उपासक होते हैं वे इन रचनाओं के प्रेमी हुआ करते हैं। उस कलायुग को साहित्यिक इतिहास में स्थायित्व देने के लिए ऐसी रचनाएँ अपना अलग मूल्य रखती हैं, किन्तु जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं अनावश्यक ऐश्वर्य का उपासक नहीं हूँ। इसी लिए जब नवीन सरलतर रचनाएँ सामने आईं, तब मैं उनकी ओर भी झुका।

देवीजी की रचनाएँ सर्वजन-सुलभ नहीं हैं और उनके पीछे आनेवाली रचनाएँ सरलतर हैं, इन दोनों वाक्यों का प्रसंग-प्राप्त अर्थ ही लेना चाहिए। इनका यह मतलब नहीं है कि नई कला जनसमूह या श्रमिकवर्ग की प्रतिनिधि है या उनके काम आ रही है और महादेवीजी की रचनाएँ अल्पसंख्यकों की प्रतिनिधि हैं। इस दृष्टि से तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखेगा। यहाँ मेरा मतलब केवल काव्यशैली या अभिव्यञ्जना-सम्बन्धी भिन्नता से है। महादेवीजी की शैली में असाधारण अलंकृति है, इतना ही यहाँ कहना था।

नये परिवर्तनकारी यह भी पूछ रहे हैं कि महादेवीजी की कविता किस लोक में विचरण करती है और किस प्रियतम के पीछे पड़ी हुई है? वर्तमान जगत् और उसकी स्थितियों से उनका क्या सम्बन्ध है? काव्य और कलाओं का कुछ भी परिचय रखनेवाले आसानी से इसका उत्तर दे सकते हैं। महादेवीजी की कविता चाहे जिस लोक में विचरण करती हो और चाहे जिस प्रियतम के पीछे पड़ी हो—उसकी ऊपरी रूपरेखा चाहे जैसी भी हो—उसमें नवीन विषम स्थितियों की प्रतिक्रिया काव्य के करुण संवेदनों के रूप में दिखाई देती है। परवर्ती कवियों के निराशामूलक संवेदनों और महादेवीजी के इन करुण संवेदनों में यदि कुछ अन्तर है तो इतना ही कि आध्यात्मिक आधार ग्रहण कर लेने के कारण उनके काव्य में अब भी एक आस्तिकता और आश्वासन है जब कि नवीनतर काव्य अपने सारे आश्वासन खोकर नग्न निराशा और विद्रोह में परिणत हो गया है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है महादेवीजी अब भी पुरानी

प्रतीकात्मक शैली पर काम कर रही हैं जब कि नये कवियों ने नई और स्पष्टतर शैलियाँ अपना ली हैं। कहानियों और उपन्यासों में पुरानी कल्पनाशीलता और आदर्शवादिता के स्थान पर नई वास्तविकता का प्रभाव बढ़ रहा है। किन्तु इस नवीन कलाशैली के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने के पहले हमें पुस्तक में आये कुछ अन्य व्यक्तियों का ज़िक्र करना होगा।

जैनेन्द्रकुमार भी मूलतः स्वच्छन्दतावादी युग के ही प्रतिनिधि हैं। उनके पात्र और पात्रियाँ आदर्शवादी पद्धति पर ही गढ़े गये हैं। उनकी पहली रचना 'परख' में यह पद्धति बहुत ही स्पष्ट है। किन्तु परवर्ती रचनाओं में जैनेन्द्रकुमार की तार्किक अतिवादिता उन्हें असम्भव सीमाओं तक ले गई है और उनकी कल्पनात्मक भावुकता चिन्ताप्रद हो गई है। मैंने कहा है कि यह स्वस्थ आदर्शवाद नहीं है, यह कोरी तार्किक अतिवादिता आदर्शवाद की उस हद तक पहुँची है जो एकदम ऐकान्तिक ही नहीं, सामाजिक शृङ्खला की विरोधी भी है। विवेचन की दृष्टि से इसे आदर्शहीन आदर्शवाद कहा जा सकता है जो अतिवादी मानसिक स्थिति का लक्षण है। अनुमान से इसे मैंने जैनेन्द्रकुमार पर जैन तर्क-प्रणाली का प्रभाव माना है जिसे वे अस्वीकार करते हैं। किन्तु उनकी अस्वीकृति-मात्र से वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता। प्रच्छन्न मन पर कितने प्रभाव पड़ते हैं इसकी गणना सचेतन मन नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में सचेतन मन के निषेध का मूल्य भी थोड़ा ही है। 'सुनीता' की आदर्शवादिता उसे नग्नता की सीमा पर पहुँचा देती है, उसका सतीत्व बाह्य व्यभिचार के रूप में प्रकट होता है! इस आदर्शवाद को समझने की शक्ति किसमें है? उनकी 'मृणाल' और 'कल्याणी' भी ऐसे ही महान् आदर्शों की उपासिका होकर ऐसे ही गहन गर्तों में गिरती हैं। ऐसी अवस्था में हम इसे कोरा तार्किक आदर्शवाद न कहें तो क्या कहें?

जैनेन्द्रजी के दार्शनिक निबन्धों में भी, यही अतिवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है। सामाजिक व्यवहार-भूमि पर लाकर रखिए तो उनके विचारों में बेहद काल्पनिकता झलकने लगती है। स्वयं लेखक होकर भी लेखकों और प्रकाशकों के प्रश्न पर उन्होंने जिस प्रकार लेखकों की भर्त्सना की है वह आत्महनन से बहुत दूर की वस्तु नहीं है। यही धारा

उनके अधिकांश निबन्धों में बह रही है। ध्यान देने की बात यह है कि अत्यन्त व्यावहारिक विषयों और प्रश्नों पर उनके विचार इतने अव्यावहारिक हैं।

सब होते हुए भी जैनेन्द्रजी की रचना-शैली में मौलिकता है। घरेलू वातावरण और भावुकतामय आदर्शवाद के कारण उनकी रचनाओं में एक अनोखा आकर्षण है। उनकी शैली में शक्ति और प्रवाह दोनों हैं और यदि आप अधिक सचेत होकर अध्ययन नहीं कर रहे हैं तो भय है कि आपको उनकी कोई त्रुटि दिखाई नहीं देगी। यह जैनेन्द्रजी की 'टैकनीक' का ही सामर्थ्य है कि वे मृणाल-जैसी नारी के प्रति उत्कट सहानुभूति की सृष्टि करते और आदि से अन्त तक उसमें कमी नहीं आने देते। अस्पष्टता और रहस्य से काम लेते हैं। हमारी कार्य-कारण बुद्धि को सुला रखते हैं। यह उनकी शक्ति है किन्तु दूसरी दृष्टि से यही उनकी दुर्बलता भी है।

मेरे ही एक लेख पर प्रकाश डालते हुए जैनेन्द्रजी ने एक स्थान पर लिखा है कि उनकी 'पुस्तकों की नायिकाएँ सब बेचारी हैं, जो हैं वही हैं, और उनमें से किसी के हाथ में जैन आदर्श की ध्वजा नहीं है।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि आपकी नायिकाएँ बेचारी हैं तो ठीक है, उनके बेचारेपन का स्वरूप तो समझने दीजिए! पाठकों से इतना दुराव क्यों? 'जो हैं वही हैं' की अभेद्य दीवाल किस लिए? जैन-आदर्श न सही 'जैनेन्द्र-आदर्श' की ध्वजा तो उनके हाथों में है ही, उसी की छान-बीन हो जाने दीजिए।

न मालूम क्यों जैनेन्द्रजी के अनुयायी भी उनकी रचनाओं को समीक्षा के प्रकाश में नहीं आने देना चाहते। जिन परिस्थितियों के बीच जैनेन्द्रजी की पात्रियाँ जैसा आचरण करती हैं यदि उसमें किसी को कुछ अस्पष्टता दीखे (अस्वाभाविकता कहना तो और भी बड़ी हिमाक़त होगी) तो उसकी भी शिकायत नहीं करनी होगी! जो कुछ लिखा गया है ब्रह्मवाक्य वही है। उस पर किसी प्रकार की शङ्का उठ ही नहीं सकती, नहीं तो शङ्काकार की वह स्थिति हो जायगी जो मौसी के मुँह पर मूँछ की कल्पना करनेवालों की महाराष्ट्र में हुआ करती है—बक़ौल प्रोफ़ेसर माचवे। पर अपने यहाँ बिल्ली मौसी के मूँछें भी हुआ करती हैं और छोटे-छोटे बच्चे भी क्रीड़ावश उनका उपयोग किया करते हैं; इसमें अस्वाभाविकता या अनौचित्य कोई नहीं देखता।

मेरा तो विचार है कि समीक्षा की खुली हवा में आना ही जैनेन्द्रजी की रचनाओं के लिए लाभप्रद होगा। किन्तु यह चर्चा यहीं तक।

श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का साहित्य किसी हद तक जैनेन्द्र के साहित्य की भी अपेक्षा अधिक विवादास्पद है। जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती होकर भी उत्तरोत्तर परिवर्तन की दृष्टि से वे उनके परवर्ती ही ठहरते हैं। इसी लिए मूल पुस्तक में उनका उल्लेख यथा-स्थान करके यहाँ उनकी चर्चा जैनेन्द्रजी के बाद की जा रही है। रचना की दृष्टि से आज उनकी कहानियों और उपन्यासों मे वह प्रौढ़ता है जो किसी मँजे हुए लेखक में ही पाई जाती है। निरन्तर अभ्यास ही इस विशिष्टता का जनक है जो उन्हें हिन्दी कथाकारों की श्रेणी में ऊँचा आसन दे सका है।

भगवतीप्रसादजी की रचना के मूल में सेक्स-सम्बन्धी वही अतृप्ति है जो डी० एच० लारेन्स की रचना में देखी जाती है। यह अतृप्ति ही लारेन्स की असफलता का मूल है। फिर भी जहाँ तक हो सका लारेन्स ने उक्त अतृप्ति को सामाजिक जामा पहनाया और उसे समाज के अधिकारी वर्गों के प्रति विद्रोह का साधन बनाया। जिस हद तक वह स्वस्थ रूप में ऐसा कर सका उस हद तक उसके साहित्य की सफलता भी स्वीकार करनी पड़ेगी, किन्तु अपने व्यक्तित्व से यह सेक्स-अतृप्ति एकदम बहिष्कृत कर पूर्णतः तटस्थ साहित्य का निर्माण वह नहीं कर सका।

यही अवस्था उन्नीसवीं शताब्दी के फ़्रान्सीसी यथार्थवादियों की भी थी। उन्होंने सामाजिक चित्रणों में यथार्थवादी वैज्ञानिकता का दावा किया और वस्तुन्मुखी सृष्टि में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिली, पर किसी प्रकार का उच्च या प्रगतिशील जीवन-सन्देश उनकी रचनाओं से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में, प्रकट न हो सका। उनकी समस्त मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शिता और वैज्ञानिक यथार्थता साहित्य को नीचे गिरने से न रोक सकी। ह्रास के बीज लेखकों के व्यक्तित्व में ही मौजूद थे।

यहाँ विद्रोही लारेन्स या फ़्रान्सीसी यथार्थवादियों से भगवतीप्रसादजी की तुलना का उद्देश्य नहीं है। किन्तु यह तो देखना ही होगा कि वाजपेयी जी की कला में उनका व्यक्तित्व सम्बन्धी यह द्वन्द्व कितनी सीढ़ियाँ पार कर चुका है और कितने ऊँचे

पहुँच चुका है। आरम्भ में जब उन्हें उसकी अभिज्ञता भी न थी—आत्मविश्लेषण का सूत्रपात भी न हुआ था—उनकी रचना में वह स्थूल वैयक्तिक स्वरूप धारण किये हुए रहा। तब तक पक्ष-विपक्ष का प्रश्न ही उनके सामने न था, आदर्शीकरण (rationalisation) की समस्या ही उपस्थित न थी। क्रमशः वह उपस्थित हुई और भगवतीप्रसादजी उसके सम्बन्ध में अधिक सचेत हो गये। सर्वत्र एक ही प्रकार के उद्‌गार अब नहीं रहे, पात्र-अपात्र की ओर भी उनका ध्यान गया। परिस्थितियों का चुनाव भी वे करने लगे और क्रमशः परिस्थिति और वातावरण-प्रधान कहानी-लेखक बन गये। यथार्थवादी साहित्य सृष्टि की ओर यह उनका पहला क़दम था। इसी समय 'प्रगति-शील साहित्य' की भी आवाज़ उठी और सत्ताधारी वर्ग के विरुद्ध साहित्यिक जिहाद शुरु हो गया। वाजपेयीजी को अवसर मिला, वे भी विद्रोही बन गये और सारा आक्रोश सत्ताधारियों के सिर ढहने लगा।

इस प्रकार वाजपेयीजी की कला और उसकी सामाजिक उपयोगिता बराबर ऊँची उठती गई है, यद्यपि अब भी वह अपनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँची है और उनका साहित्यिक तथा मानसिक विकास अब भी जारी है।

ऊपर मैंने यथार्थवादी साहित्य-सृष्टि की ओर वाजपेयी जी के आगे बढ़ने का उल्लेख किया है। प्रश्न उठता है कि यह यथार्थवाद और आदर्शवाद क्या है और साहित्य में इनका कौन-सा स्थान है? इस प्रश्न पर बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से विचार किया है। मेरा अपना मत यह है कि ये दोनों साहित्य की चित्रण-शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्यसत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। किन्तु एक में (आदर्श-वाद में) विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है (यहाँ 'इष्ट' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में रसवादी 'रस' का प्रयोग करते हैं) और दूसरे में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यञ्जना होती है। (यहाँ मैं रससिद्धान्त को ध्यान में रखकर यह परिभाषा कर रहा हूँ।)

मूलतः इन दोनों वादों का इतना ही भेद है, किन्तु साहित्य के इतिहास में इन्होंने

अनेकानेक स्वरूप धारण किये और नाना मत-मतान्तरों की सृष्टि की है। दृष्टि-भेद और उपकरण-भेद के कारण इन दोनों कलास्वरूपों में कुछ-न-कुछ अन्तर होना तो अनिवार्य ही है, किन्तु ये दोनों ही वाद समय-समय पर भयानक अति की ओर चले गये हैं, यहाँ तक कि साहित्य अपने मूल स्वरूप से ही दूर जा पड़ा है। उदाहरण के लिए आदर्शवादी अति के युगों में वह कोरे नीरस उपदेशों का संग्रह मात्र बन गया है (कला की सत्ता ही मिट गई है) और यथार्थवादी अति के युगों में कला के लिए कला; सत्य में लिए और वैज्ञानिक चित्रण आदि के नाम पर अपेक्षाकृत कम महत्त्व की तथा अनिर्दिष्ट बातों में उलझ गया है।

यहाँ इन दोनों वादों का इतिहास लिखने की हमें आवश्यकता नहीं है। सामान्य रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि आदर्शवादी साहित्य-शैली में असाधारण वातावरणों और उदात्त वर्णनों की प्रधानता होती है जब कि यथार्थवादी शैली में जीवन की सामान्य परिस्थितियाँ और व्यवहार बहुतायत से ग्रहण किये जाते हैं।

अस्तु, भगवतीप्रसादजी के बाद श्री० इलाचन्द्र जोशी दूसरे उल्लेखनीय साहित्यिक हैं; जिनका ध्यान यथार्थवादी रचना-पद्धति की ओर गया है और जो इस दिशा में सफलता प्राप्त कर रहे हैं।

श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल', जिनके सम्बन्ध में इस पुस्तक का अन्तिम निबन्ध लिखा गया है, की गणना यथार्थवादियों में नहीं की जा सकती। इनका व्यक्तित्व इनकी रचना में बहुत ही स्पष्ट है और इनका उद्देश्य भी छिपा हुआ नहीं है। इनमें मनोवैज्ञानिक तटस्थता या चित्रण के लिए चित्रण की प्रवृत्ति एकदम ही नहीं देख पड़ती, जो यथार्थवादी रचना के लिए अनिवार्य सी है। अतः जहाँ कहीं इनकी रचनाओं में उन्मादक प्रवृत्तियों की प्रधानता है अथवा अन्य किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक मर्यादा-हीनता है वहाँ मानना पड़ेगा कि इस अभ्युदयशील लेखक के विकास में कमी है।

मेरा कहना यह नहीं कि यथार्थवादी रचनाओं में ये त्रुटियाँ क्षम्य हो जाती हैं, या इन्हें तरह दे दी जाती है। अन्तर यह पड़ जाता है कि यथार्थवादी रचना में ये

चत्रण तटस्थता और निस्संगता लिये होते हैं और लेखक के निजी उन्माद को नहीं व्यक्त करते। फलतः पाठकों पर उनका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

श्री सर्वदानन्द वर्मा और श्री० 'पहाड़ी' की रचनाएँ भी उन्मादक प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पा सकी हैं। और, दूसरी ओर प्रसिद्ध लेखिका सुमित्राकुमारी सिनहा की कृतियाँ भी करुणा का दुर्भर बोझ फेंककर सीधे विद्रोह की ओर नहीं बढ़ सकी हैं। किन्तु ये सभी प्रगतिशील लेखक क्रमशः स्वस्थ विकास की ओर पदार्पण कर रहे हैं।

'साहित्य-सन्देश' के हाल के एक अङ्क में एक बड़ा ही प्रासंगिक और मनोरञ्जक प्रश्न उठाया गया है—क्या प्रगतिशीलता अश्लीलता पर पर्दा डाल सकती है? मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो—और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है—पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।

साहित्य की इसी मनोवैज्ञानिक स्वस्थता और सबलता को स्पष्ट करने के लिए यदि अब यहाँ 'हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर एक सरसरी निगाह डाल ली जाय तो अनुचित न होगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है सन् ३० या ३१ की 'सुधा' के एक विशेषाङ्क में, जिसका सम्पादन श्री० चतुरसेन शास्त्री ने किया, प्रथम पृष्ठ पर एक भयावना चित्र—हड्डियों का ठट्टर—प्रकाशित हुआ था जिस पर चित्रकार का नाम था 'अज्ञेय' और चित्र का शीर्षक दिया था केवल प्रश्नचिह्न—? इस चित्र की कुरूपता से उस समय एक ऐसा धक्का लगा था जो अब तक याद आता है। शायद इसी धक्के से हिन्दी में नई प्रगतिशीलता का प्रवेश हुआ। हिन्दी में उस समय प्रशान्त छायावादी प्रवाह बह रहा था। कथा-साहित्य में प्रेमचन्दजी की रचनाएँ पुरानी आदर्शप्रधान लीक पर चली जा रही थीं, पर उनके अतिरिक्त अन्य लेखकों पर स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का स्पष्ट प्रभाव था। वे प्रेमचन्द के स्थूल चरित्र-चित्रण और सतह पर के द्वन्द्वों से नीचे उतरना और गहरे पैठना चाहते थे। ये 'स्वच्छन्दतावादी'

ही नहीं, बर्नार्ड शा की तर्क-प्रधान शैली से प्रभावित लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे नये बुद्धिवादी भी प्रेमचन्द के नपे-तुले आदर्शवाद से बेहद असन्तुष्ट थे।

उसी समय के आस-पास (सन् ३०-३१) लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में नया बुद्धिवादी उन्नयन देखा गया। किन्तु स्वच्छन्दतावादी प्रवाह इतना तीव्र था कि ये नाटक शैली-सम्बन्धी अपनी विशिष्टता लिये भी, उसी धारा में बह गये। 'सिन्दूर की होली' जो उनकी सबसे प्रौढ़ रचना है, इसी प्रवाह में पड़ी हुई है। किन्तु लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने उस समय के साहित्य-प्रवाह में एक नई हलचल अवश्य उत्पन्न की। उनकी टेकनीक में नवीनता है और रचना में नूतन जीवन की विशृंखलता का आभास है।

काव्य में नया आन्दोलन पहले 'अञ्चल' और बाद को 'बच्चन' के आने पर आरम्भ हुआ। अञ्चल में छायावादी शैली का परित्याग नहीं था, पर बच्चन सारा साँचा बदलकर आये थे। अञ्चल आरम्भ में अतृप्ति से आक्रान्त थे, बच्चन निराशा से। बच्चन की 'मधुशाला' उन दिनों (आवारा नहीं तो) बेकार युवकों के लिए साहित्य में सब से बड़ा प्रलोभन थी। इसके प्रशंसक थे या तो वे युवक या 'शेष-स्मृतियाँ' के प्रसिद्ध निर्माता महाराजकुमार रघुवीर सिंह।

और जब बच्चन आगे बढ़े, 'एकान्त सङ्गीत' और 'निशानिमन्त्रण' की प्रौढ़तर रचनाओं तक पहुँचे, तब उनके वे प्रशंसक पीछे हटने लगे। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कवि और उसके प्रशंसकों में कहाँ तक साम्य है। हाँ, 'मधुशाला' और 'शेष-स्मृतियाँ' एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती हैं—मध्यकालीन मादक स्वप्न।

'अञ्चल' में ओज अधिक है। किन्तु व्यक्तित्व का पूरा परिष्कार उनके साहित्य में भी अब तक नहीं आया। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के बाद उनका तीसरा काव्य-संग्रह 'किरण बेला' विषय की दृष्टि से ईप्सित दिशा में आगे बढ़ा है, किन्तु अभिव्यक्ति का उन्माद इसमें भी है। अपने अन्तिम काव्य-संग्रह 'करील' में तटस्थ चित्रण और सादगी की ओर कवि कई क़दम आगे बढ़ा है। यह शुभ लक्षण है और हम विश्वस्त होकर अञ्चल के आगामी कार्य की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

'नरेन्द्र' आप ही अपने को क्षयशील कवि कहते हैं। उनका कहना है कि पानी में डूबता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार हाथ-पैर मारकर बचने की चेष्टा करता है, वैसी ही चेष्टा उनकी भी है। हमें आशा करनी चाहिए कि यह डूबता हुआ कवि अनुकूल तरंगाघातों में पड़कर बच निकलेगा और स्वस्थतर रागिनी सुना सकने योग्य सबलता भी धारण करेगा।

नवीन कवियों में एक नाम, जिसे किसी प्रकार नहीं छोड़ा जा सकता किन्तु जिसकी अक्सर उपेक्षा की जाती है, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का है। वाद-विवाद से दूर रहने के कारण उनकी रचना में मध्यवर्ग की वर्तमान अवस्था के बड़े ही सच्चे चित्र उतरे हैं। उसका ऐतिहासिक मूल्य है और उसके निर्माण में दो टूक सफ़ाई है।

श्री० उदयशंकर भट्ट छायावाद की भूमि पार कर नवीन क्षेत्र में आये हैं। 'अश्क' जी को शब्द-शक्ति जितनी ही सीमित है भट्टजी की उतनी ही विस्तृत। इनकी रचनाओं में 'प्रगति' और 'प्रतिक्रिया' पराकाष्ठा पर पहुँची मिलती हैं, जिससे प्रकट होता है कि ये अनुभूति-प्रधान कवि हैं, किसी वाद के वश में नहीं। अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियों के युग में पड़कर इस सच्चे कवि का व्यक्तित्व बिखर न जाय, यही भय है।

इसे मैं अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियों का युग इसलिए कहता हूँ कि ये रचनाकार तो जा रहे हैं एक ओर और इन्हें रास्ता दिखाया जा रहा है एक ओर। रास्ता दिखानेवालों की संख्या रास्ता देखनेवालों से भी अधिक है। श्री० अज्ञेय, श्री० नरोत्तम, डाक्टर रामविलास, श्री० शिवदानसिंह, प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र और माचवे ये सब मार्ग-प्रदर्शक हैं रास्ते पर चल कितने रहे हैं, यह प्रश्न दूसरा है। इसी रास्ते का नाम है प्रगतिवाद।

ये ही प्रोफ़ेसर और डाक्टर मज़दूरों और किसानों का राज्य चाहते हैं। उद्देश्य ऊँचा है. पर अभी इसमें वास्तविकता कम है। नई शैलियाँ और नये प्रयोग निकल रहे हैं, पर नये प्राणों का निर्माण नहीं हुआ।

क्या ये प्रोफ़ेसर और डाक्टर, मज़दूर और किसान की दृष्टि से दुनिया को देखते हैं? क्या ये अपने वर्गगत और जातिगत संस्कारों का परित्याग कर चुके हैं?

यदि नहीं तो कोरी विवेचना से क्या होगा ? एक नया पन्थ भले ही खुल जाय, राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न हो सकेगा।

यदि काव्य-साहित्य को किसी 'वाद' के अंकुश पर न चलाकर उसे स्वाभाविक गति से चलने दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। 'वाद' पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।

इस सम्बन्ध में सबसे ताज़े उदाहरण पन्त जी की 'ग्राम्या' और अज्ञेय की 'शेखर: एक जीवनी' के लिये जा सकते हैं। 'शेखर: एक जीवनी' में लेखक का व्यक्तित्व, उसकी आकांक्षाएँ और विरक्तियाँ जिस तीव्रता और सफ़ाई के साथ व्यक्त हुई हैं, 'ग्राम्या' में वह बात नहीं है, पर 'वादी' कसौटी पर कसने पर श्री० शिवदानसिंह चौहान को पन्तजी की प्रशंसा में 'हंस' के पचीसों पन्ने रँगने पड़े (समझदार पाठकों पर प्रभाव क्या पड़ा यह तो पाठक ही जानें) और 'शेखर: एक जीवनी' की सबल रचना पर आपने इधर-उधर शिकायत ही लिखी।

शिवदानसिंह तो शिवदानसिंह, स्वयं अज्ञेय जी के लिए यह निर्णय करना कठिन होगा कि उनके 'वाद' और उनकी इस सृष्टि के बीच कहाँ तक साम्य है। प्राय सभी प्रगतिवादी, आलोचक की हैसियत से कुछ और कहते हैं रचयिता की हैसियत से कुछ और रचते हैं। अज्ञेय और यशपाल जैसे क्रान्तिवादी भी अब साहित्य की 'दूसरी दुनिया' का मर्म समझने लगे हैं। यह शुभ लक्षण है क्योंकि इससे साहित्य में स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा होगी और कला की अपनी सत्ता पर विश्वास बढ़ेगा।

'दूसरी दुनिया' से मेरा मतलब यह नहीं कि सामने के संसार से आँखें मूँदी जायँ और कल्पना लोक में विचरण किया जाय। उससे मेरा मतलब केवल यह है कि कोरी बौद्धिक सृष्टि और कला-सृष्टि का भेद समझा जाय।

उल्लेखनीय बात यह भी है कि दुःखान्त सृष्टियों के सम्बन्ध में पहले से ही निषेधात्मक धारणा नहीं बनाई जा सकती। कवि के उन लक्ष्यों और संकेतों को भी ध्यान में रखना होगा जो दुःखान्त रचना में आकर उसके वास्तविक मर्म को प्रकट

करते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के स्वरूप और उसके प्रभावों की पूरी परीक्षा हो जाने पर ही उसकी प्रगतिशीलता या अप्रगतिशीलता का निर्णय हो सकेगा।

और तब काव्य में सैद्धान्तिक चर्चा के स्थान पर कलात्मक और मनोवैज्ञानिक चर्चा की प्रधानता हो जायगी और बहुत-सा वितण्डावाद जो साहित्य के वास्तविक मूल्यनिरूपण में बाधक बना रहा है, आपसे आप दूर हो जायगा। तब पन्त जी सरीखे कवियों का अपनी पूर्व की सुन्दर रचनाओं के सम्बन्ध का हीनताभाव मिट जायगा और वे काव्य को सिद्धान्तचर्चा का पर्यायवाची मान लेने के धोखे से बच जायँगे। साथ ही 'भौतिक विज्ञानवाद', 'अध्यात्मवाद', 'वर्गसङ्घर्ष' आदि के फ़िक़ों से भी हमारे साहित्य की रक्षा हो जायगी।

जो कुछ हो, इस नवीन साहित्यिक उत्थान के प्रति मेरा यथेष्ट सम्मान है और अपने नये साहित्य के सामने आई हुई समस्याओं से मेरी पूरी सहानुभूति है। मुझे आशा है कि सच्ची क्रान्तिकारी या प्रगतिशील चेतना से अनुप्राणित होकर (जिसके लिए जीवन को भी उसी साँचे में ढालना आवश्यक है) हमारा नया साहित्य नये युग को नई कला की मूल्यवान् विरासत दे जायगा, जिससे हमारी परम्परा-प्राप्त सांस्कृतिक सम्पत्ति पुष्ट से पुष्टतर होगी।

संक्षेप में यही विवरण है हमारे नवीनतर साहित्य का और इसी विवरण में 'साहित्य-सन्देश' के श्लीलता-अश्लीलता (या व्यापक शब्दों में मानसिक स्वास्थ्य) सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर भी मोटे तौर पर आ गया। बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य अभी यहीं तक पहुँचा है, इसलिए स्वभावतः हमारी यह विज्ञप्ति भी यहीं समाप्त हो जाती है। अब केवल कुछ आत्मनिवेदन करना है और तत्पश्चात् क्षमायाचना।

ऊपर बीसवीं शताब्दी के साहित्य की जिस सामान्य रूपरेखा का उल्लेख किया गया उससे इस साहित्य का विस्तार और इसकी अनेकरूपता तो प्रकट हुई ही, इसके आलोचना-कार्य की पेचीदगी का भी कुछ-न-कुछ आभास मिला। अनेक जटिल प्रश्न उपस्थिति हो गये हैं जो इसके पहले उपस्थित नहीं थे। यहाँ यह भी निवेदन करना अनुचित न होगा कि इन निबन्धों में इस युग के साहित्य की समीक्षा का प्राथमिक

प्रयास किया गया है। इसके पहले इस विषय की कोई व्यवस्थित सामग्री उपलब्ध न थी। आचार्य शुक्लजी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इनमें से अधिकांश निबन्धों के लिख जाने के बाद प्रकाशित हुआ है और उसमें भी आधुनिक साहित्य का विवेचन बड़ी मोटी कलम से किया गया है। नवीन साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तित्वों और नये विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छानबीन में शुक्लजी एक प्रकार से उतरे ही नहीं। वे अभिव्यक्ति की प्रणालियों तक ही पहुँचे अथवा अपनी पहले से बँधी दार्शनिक धारणाओं के आधार पर सम्मतियाँ देते गये। यही कारण है कि 'शेष स्मृतियाँ', 'नूरजहाँ' और 'युगवाणी' उन्हें नवीन साहित्य के गद्य और पद्य में तीन सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ प्रतीत हुईं। नवीन विश्लेषण और नये साहित्य की वास्तविक विकास-दिशा के अध्ययन में शुक्लजी ने सम्भवतः अधिक समय नहीं लगाया।

फिर उनकी और मेरी समीक्षा-दृष्टियों में भी कुछ न कुछ अन्तर है ही। तुलना की धृष्टता न करते हुए भी यह संकेत किया जा सकता है कि शुक्लजी का ध्यान सदैव काव्य के उदात्त स्वरूप और उसमें निहित लोकादर्शवाद की ओर रहा है। काव्य के उदात्त स्वरूप को उन्होंने प्रबन्धकाव्य में सीमित कर दिया और लोकादर्शवाद को एक सामान्य नैतिक आधार देकर बहुत कुछ रूढ़ बना दिया। जीवन का वैचित्र्य और बहुरूपता, लोकादर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य स्वरूप का नव-नव विकास और विन्यास उनका ध्यान अधिक आकृष्ट न कर सके। फलतः उनकी समीक्षा में बड़ी हद तक एकरूपता है और निजी विचारों की छाप है। विश्लेषण का समारोह, ऐतिहासिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता उतनी नहीं जितनी सामान्य रूप से साहित्य मात्र और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेषपूर्ण और प्रसरणशील साहित्य के लिए अपेक्षित थी। किन्तु, इससे शुक्लजी के महान् प्रवर्तन और आचार्यत्व में कोई कमी नहीं आती।

अब मैं सूत्ररूप में साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी अपनी प्रयास-दिशा का भी उल्लेख कर दूं तो अनुचित न होगा। इससे पाठकों को इस पुस्तक के निबन्धों को समझने

में सहायता ही मिलेगी। समीक्षा में मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टाएं हैं जिनमें क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है—

१—रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic spirit)।

२—रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation)।

३—रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्याङ्गों का अध्ययन (Study of technique)।

४—समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५—कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण)।

६—कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनितिक विचारों आदि का अध्ययन।

७—काव्य के जीवन सम्बन्धी सामञ्जस्य और सन्देश का अध्ययन।

इन सूत्रों की संख्या अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि इनमें से एक-एक के कई-कई उपविभाग भी किये जा सकते हैं। यदि एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हूं। मेरी समझ में समस्त वादों के परे साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सांस्कृतिक मूल्य आँका जा सकता है।

यहाँ इतना और निवेदन करना है कि दयानन्द-युग, गाँधी-युग और समाजवादी युगों के नाम से इस शताब्दी के साहित्यिक उत्थानों का नामकरण करना मेरी समझ में ठीक नहीं है। प्रसाद, निराला अथवा पन्त के साहित्य में गाँधी-सिद्धान्तों का प्रभाव देखना बौद्धिक दासता-मात्र है। इसी प्रकार और भी।

अन्त में मैं निवेदन करूँगा कि ये निबन्ध किसी एक नियमित क्रम या शैली

पर नहीं लिखे गए हैं। लेखकों की सम्पूर्ण रचनाओं को सब समय सामने नहीं रक्खा गया है। कहीं-कहीं तो किसी एक ही रचना पर पूरा निबन्ध आधारित है (यद्यपि ऐसे निबन्धों में लेखक को अन्य रचनाएँ भी अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान में रही हैं)। किसी निबन्ध में किसी लेखक पर प्रशंसात्मक चर्चा की गई है और किसी अन्य पर विरोधी ढङ्ग से लिखा गया है। जिनकी आवश्यकता से अधिक उपेक्षा हो रही थी, उनकी प्रशंसा की गई है और जिनकी बेहद प्रशंसा हो रही थी, उनके सम्बन्ध में दूसरे पक्ष को सामने रक्खा गया है। इसमें मेरा लक्ष्य लेखकों की स्थिति में सामञ्जस्य स्थापित करने का रहा है। किन्तु प्रशंसा या अप्रशंसा द्वारा भी रचियता के व्यक्तित्व को सीमित और साकार करने की चेष्टा ही मुख्य रही है। इस प्रकार अनुकूल या प्रतिकूल विवेचन से लेखकों की वास्तविक रचना-क्षमता ही स्पष्ट हुई है। कम-से-कम इतना तो कहूँगा ही कि ऐसा करते हुए कोई दूसरा लक्ष्य मेरे सामने नहीं था।

फिर भी उन लेखकों और कवियों से मैं करबद्ध क्षमाप्रार्थी हूँ जिनके सम्बन्ध में, किसी कारण हो, कड़े शब्दों का व्यवहार हो गया है। मुझे उनके महत्त्व पर विश्वास है इसी लिए उनके प्रति ऐसे शब्द लिखने का साहस भी हुआ। इस पुस्तक में आये सभी नामों के प्रति मेरे हृदय में सम्मान और श्रद्धा है। वे सभी असाधारण व्यक्ति हैं। मुझे प्रसन्नता है कि मेरी पुस्तक में, लेखक का नाम छोड़कर, कदाचित् एक भी साधारण नाम नहीं आया।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

लेखों की रचना-तिथि—'विज्ञप्ति' सन्' ४२। श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी '३३। 'रत्नाकर' '३३। श्रीमैथिलीशरण गुप्त ३१। 'साकेत' '३१। श्रीरामचन्द्र शुक्ल (१) '४१। (२)'३१। (३) '४०। 'प्रेमचंद' ' ३२। आत्मकथा विवाद '३२। जयशंकरप्रसाद '३१। श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी निराला '२१। 'गीतिका' '३६। निरालाजी के उपन्यास और आख्यायिकाएँ '३६। श्रीसुमित्रानन्दन पंत '३१। श्री महादेवी वर्मा '४०। श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी '४०। श्री० जैनेन्द्रकुमार '४०. श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' '३९

श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी

[लेखक का यह निबंध सन्' ३३ के आरंभ में लिखा गया था, जब द्विवेदी जी जीवित थे। यह लेख सर्व-प्रथम 'द्विवेदी-अभिनंदनग्रंथ' की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित हुआ था, किन्तु कारणवश वहाँ लेखक का नाम न दिया जाकर, उसके स्थान पर ग्रंथ के संपादकों का नाम दे दिया गया था। यहाँ यह पहली बार लेखक के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।]

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, आधुनिक हिंदी के युगप्रवर्तक लेखक और आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति संसार में नवीन विचार धारा प्रवाहित करती है 'ते नरवर थोरे जग माँही।' किन्तु जो नई नहरें निकालकर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिए सुगम कर देते हैं, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस-चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा, पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान सम्पत्ति—सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त हस्त से वितरित की; जिसके लिए हम उनके ऋणी हैं। संयोग से इन दिनों पश्चिम में पण्डिताई अधिक सुलभ हो गई है; किन्तु परिग्रह की व्याधि बढ़ जाने के कारण वहाँ की वास्तविक बुद्धि-विभूति के घट जाने का भी भय कम नहीं है। प्रत्येक आगन्तुक प्रश्न को नवीन समस्या कहने और प्रत्येक विचार को नव्य दिव्य सन्देश के नाम से घोषित करने की जो प्रथा चल गई है, उससे मनुष्य अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता का कपटाचरण करने लगा है। यही नहीं, उनके चिर-काल-व्यापी महान् उद्योग की शक्ति न समेटकर स्वयं क्षीणता की ओर बढ़ने लगा है। हमारे द्विवेदी जी भी पण्डित हैं, किन्तु बहुत कुछ अपरिग्रही। उन्होंने हिन्दी को, हमको, जो कुछ प्रदान किया यह कहकर नहीं किया कि यह मेरा है, इसे लो। उन्होंने हिन्दी से जो कुछ

प्राप्त किया—सहस्रों पुस्तकें और सहस्रों रुपये—वह सब हिन्दी की हितैषिणी संस्थाओं को दे दिया और अब अपने जन्म-ग्राम में जाकर साधारण गृहस्थ का-सा स्वल्पसाध्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जो जिसका प्राप्य है, वह उसे सौंपकर द्विवेदी जी अब इस देश के चिर-प्रचलित मुक्ति-मार्ग पर आ गये हैं। भगवान् उनका मङ्गल करे।

साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रक्खी जयँगी? क्या उनके अनुवाद? 'कुमारसम्भव-सार', 'रघुवंश', 'हिन्दी महाभारत', अथवा 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'स्वाधीनता' और 'सम्पत्तिशास्त्र'? किन्तु ये सब तो अनुवाद ही हैं, इनमें द्विवेदी जी की भाषा-शैली स्वयं ही परिष्कृत हो रही थी—क्रमशः विकसित हो रही थी—और आज-कल की दृष्टि से उसमें और भी परिवर्तन किये जा सकते हैं। इन सब मे भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किन्तु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत कुछ ढूँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी सम्भवतः यह न कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा मे पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व है। किन्तु वह व्यवस्था उनकी क़लम के मॅजने पर हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-सम्पत्ति और भाषा की संघटित प्रतिभा कालान्तर में प्रतिष्ठित हुई है।

तो क्या उनकी रचित कविताएं प्रदर्शनी मे रक्खी जायँ? किन्तु वे तो स्वयं द्विवेदी जी के ही कथनानुसार 'कविता' नहीं हैं और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत हैं।

उनके लेख? 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास की निरंकुशता', 'मिश्र-बन्धु का हिन्दी नवरत्न', 'तिलक का गीता भाष्य' और ऐसे अन्य अनेक आलोचनात्मक लेख तथा टिप्पणियाँ द्विवेदी जी की जाग्रत प्रतिभा का परिचय कराते हैं। इनमें हिन्दी की भाव-प्रकाशिका शक्ति निस्संशय विस्तृत रूप में प्रकट हुई है। इनके द्वारा हिन्दी के समीक्षा-साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है। द्विवेदी जी के दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखों पर उनके कर्मठ जीवन और अन्तर की अनुभूति की छाप लगी है उनमें विचारों की शृंखला

भी है और उनका क्रम भी निर्धारित है। किन्तु द्विवेदी जी की ख्याति उन लेखों से नहीं है। उन्हें कोई नवीन विचार-प्रवर्तक या दर्शन का सूक्ष्मदृष्टि अन्वेषक नहीं मानता।

तो क्या आचार्य की शिष्य-मण्डली ही उक्त प्रदर्शन में सजा दी जाय? उनका शिष्य तो हिन्दी का अधिकांश समाज ही है; किन्तु उनके जो निकटस्थ सहयोगी और छात्र थे, जिन पर उनकी कृपा की विशेष दृष्टि रहती थी, जिनके लेखों और कविताओं पर द्विवेदी जी की 'सरस्वती' वाली क़लम चलती थी—उनमें भी कतिपय ऐसे कवि और पण्डित हो गये हैं जिनकी कृतियाँ साहित्य में संरक्षणीय और सम्माननीय समझी जाती हैं। क्या द्विवेदी जी के ये नवीन संस्करण ही उनके प्रतिनिधि-रूप में मान लिये जाएँ। किन्तु क्या यह न्याय होगा?

जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया, वह अनुवाद का हो, काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-संस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो—वह स्थायी महत्त्व का हो या अस्थायी—हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उसी के आधार पर नवीन युग का साहित्य-प्रासाद खड़ा किया जा सका है। उनकी समस्त कृतियाँ युग की प्रतिनिधि होने का गौरव रखती हैं।

क्यों न 'सरस्वती' की सब संख्याएँ जिनमें द्विवेदी जी और उनकी मित्र-मण्डली की कृतियाँ हैं, हिन्दी के स्थायी कला-भवन में रख दी जायँ? और उनके साथ ही द्विवेदी जी का वह सब संशोधन, काट-छाँट और कायापलट भी एकत्र कर दिया जाय जो उन्होंने मूल प्रतियों में किया था और जिनके कारण वे प्रतियाँ मुद्रित प्रतियों से भी अधिक दर्शनीय और संग्राह्य हो गई हैं। जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदी जी के सम्पर्क में आये उन्होंने उनका मंत्र ले लिया और जिन पर द्विवेदी जी की लेखनी चल गई, वे कला की शब्दावली में 'द्विवेदी-क़लम' के लेख हो गए, तब क्यों न उनकी बीस वर्षों की सम्पादित 'सरस्वती' पर 'द्विवेदी-काल' का लेबल लगाकर रख दिया जाय? वे ऐसे-वैसे सम्पादक नहीं थे, सिद्धान्तवादी और सिद्धान्तपालक सम्पादक थे। जान पड़ता है कि वे निश्चित नियम बनाकर उनके अनुसार अपनी रुचि के लेख मँगाते और वही छापते थे। संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान; खड़ी बोली कविता का उन्नयन; नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यंजन; संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय; साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा—जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका

सिद्धान्त था, अतः 'द्विवेदी-काल' की 'सरस्वती' में केवल द्विवेदीजी की भाषा की प्रतिमा ही गठित नहीं है, उनके विचारों का भी उसमें प्रतिबिंब पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु 'सरस्वती' की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन संस्थाओं के सञ्चालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। एक बार उन्होंने सोचा कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिन्दी के क्षेत्र में लाना चाहिए. बस 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अङ्क में अँगरेज़ी के विद्यार्थी-लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, हिन्दी पर अँगरेज़ी का गहरा रङ्ग चलने लगा और आज उस पर अँगरेज़ी के विद्वानों का बहुत कुछ अधिकार हो गया है। यह तो केवल एक उदाहरण है। द्विवेदी जी के सरस्वती-संपादन का इतिहास ऐसे अनेक आन्दोलनों का इतिहास है। वह उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाज के विकास का इतिहास भी कहा जा सकता है।

जिस व्यक्ति ने लगातार बीस वर्षों तक लगभग दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया, वह लखनऊ की तलहटी का रहनेवाला एक ग्रामीण ब्राह्मण है। जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थे, तब उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश के ये निवासी हैं—इस काल में उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन गया है। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नहीं होतीं, इसलिए प्राचीन संस्कार भी कभी सुयोग पाकर पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष में वाल्मीकि के कविकण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकल-कर बहती है। वे आम्रकानन जो वहीं सोए पथिकों के समीप अपने अमृतफल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक् अपना वही उपहार लिये खड़े हैं। वैशाख का महीना यद्यपि गर्मी का है, किन्तु रात को अच्छी ठण्डक पड़ती है। ऐसे ही समय इस ग्राम में शिशु महावीरप्रसाद ने जन्म लिया। सरस्वती का बीज-मन्त्र उनकी जिह्वा पर अङ्कित कर दिया गया। ज्योतिष-विद्या सत्य हुई!

शिशु महावीरप्रसाद की शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था न हो सकी। उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा पाठशाला में मिली। घर पर 'शीघ्रबोध' वाली संस्कृत की ग्रामीण विधि का कुछ अभ्यास ही किया। फिर अँगरेज़ी पढ़ने रायबरेली गये। पुरवा, उन्नाव आदि में भी इनकी पढ़ाई कुछ दिन चली। जो लोग इन दिनों के ग्रामों की परिस्थिति जानते हैं या उस प्रदेश के ब्राह्मणों की अवस्था से परिचित हैं, उन्हें यह सुनकर आश्चर्य न होगा कि स्कूली शिक्षा भी उनके लिए दुर्लभ हो गई थी। दरिद्रता मनुष्य को उद्योगी बना

सकती है—बहुधा बनाती भी है। शिशु द्विवेदी अपने घर से १५ कोस दूर रायबरेली पैदल जाता था और सप्ताह भरके खाने-पीने का सामान साथ ले जाता था। अपने हाथ से भोजन बनाना तो साधारण बात थी; ऊपर से फ़ीस की विकट समस्या थी, यद्यपि वह कुछ आनों से अधिक नहीं पड़ती थी। बाल्यावस्था की दरिद्रता मनुष्य में विनय, आत्म-विश्वास आदि उत्पन्न कर सकती है, किन्तु एक प्रच्छन्न उग्रता भी प्रायः साथ लाती है। कुछ और गुणों के योग से यह उग्रता अवसर पाकर विचारों की दृढ़ता और क्रिया की निष्ठा आदि सद्गुण भी उत्पन्न करती है, किन्तु इससे मनुष्य के स्वभाव में जो और दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं उनसे द्विवेदी जी ने बचने की बराबर उत्तरोत्तर चेष्टा की है।

पढ़ाई-लिखाई का क्रम भङ्ग होने पर ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये और कुछ समय बाद इन्हें रेलवे में एक नौकरी मिल गई। इसी बीच इन्होंने मराठी और गुजराती भाषाओं की जानकारी भी प्राप्त कर ली और कुछ अँगरेज़ी भी सीखी। नौकरी के सिलसिले में ये नागपुर, अजमेर और बम्बई रहे। बम्बई में रहते हुए इन्होंने तार का काम सीखा और सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में तार बाबू हो गये। हरदा, खण्डवा, होशङ्गाबाद और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती गई। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे) के ट्रैफ़िक मैनेजर श्री डब्ल्यू० बी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ़ इन्स्पेक्टर बनाकर झाँसी भेज दिया। नई तरह का लाईन-क्लियर ईजाद करके इन्होंने वहाँ भी अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया। तारबर्की की एक पुस्तक भी अँगरेज़ी में लिखी। इन दिनों ये कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-सम्बन्धी काम देखते थे और बङ्गालियों की सङ्गति में रहकर बँगला भी सीखते थे। यद्यपि दौलतपुर का यह ग्रामीण ब्राह्मण रेलवे के एक उच्च पद पर पहुँचकर किसी प्रकार की माथा-पच्ची किये बिना सुख के साथ समय बिता सकता था, परन्तु द्विवेदी जी की उदात्त प्रकृति के वह अनुकूल न था। झाँसी के पुराने डी० टी० एस० की बदली होने पर जो नये साहब आए उनसे एक दिन द्विवेदीजी की कहा-सुनी हो गई; दूसरे दिन रेलवे का काम साहब के सुपुर्द कर आप हिन्दी के क्षेत्र में चले आये। तब से वे वहाँ और ये यहाँ।

द्विवेदी जी की यह जीवनी एक नये युगोन्मेष की सूचक तो है ही, वह राष्ट्रोत्थान के उस काल-विशेष की प्रतीक भी है। यह पूर्व-कथा इसलिए आवश्यक थी कि द्विवेदी जी के साहित्य-सम्बन्धी क्रिया-कलाप में उनके बाल्यकाल के सञ्चित संस्कारों की गहरी छाप लगी है; और उनकी लेख-शैली तो मानो उस लौह-लेखनी से प्रकट हुई है जिसे वे रेलवे आफ़िस में इस्तेमाल करते थे। खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों में

उन्होंने वही लौह-लेखनी चलाई जो इतिहास में 'द्विवेदी-कलम' के नाम से प्रचलित होगी। पहले कुछ समय तक तो द्विवेदीजी ने पद्य में खड़ी बोली का थोड़ा-बहुत शैथिल्य सहन किया जैसे उन्हीं के 'कुमार-सम्भव-सार' के इस पद्य में :—

> अधरौं के रँगने में अपना अतिशय कोमल कर न लगाय,
> कुच-गत अङ्गराग से अरुणित कंदुक से भी उसे हटाय।
> कुश के अङ्कुर तोड़-तोड़कर घाव उँगलियों में उपजाय,
> किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने बन में आय॥

यहाँ 'अधरौं का 'औ'कार अभी मिटकर 'ओ'कार में परिणत नहीं हुआ और न 'लगाय' 'हटाय' 'उपजाय' और 'आय' के अन्तिम 'य'कार का लोप कर 'लगा' 'हटा' 'उपजा' और 'आ' के स्पष्ट प्रयोग ही निकले हैं। यही नहीं' 'आग' के बदले 'आगी' भी आई है जिसे लेकर पण्डित श्रीधर पाठक की 'कहाँ जले है वह आगी' पर काफी छेड़खानी की गई थी। यह सन् १६०२ की रचना है, जब द्विवेदीजी हिन्दी-पद्य की नई प्रणाली चला रहे थे।

परन्तु जो बात किसी प्रकार प्रकट हुए बिना रह नहीं सकती, वह यह है कि खड़ी बोली के आरम्भिक पद्यों में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय का भी थोड़ा-बहुत अनियम क्यों न हुआ हो, पर एक नई परिपाटी—भावाभिव्यक्ति की तीखी लाइन-क्लियर की-सी स्वच्छ सपाट शैली अवश्य चल निकली है जिसमें संस्कृत का-सा दूरान्वय दोष या अर्थ-क्लिष्टता कहीं नहीं है। मस्तिष्क लड़ाकर अर्थ निकालने का झगड़ा हमें नहीं करना पड़ता।

किन्तु रस ? रस के विषय में यही कहना चाहिए कि भाषा की चुस्ती और अर्थ की सफ़ाई में ही द्विवेदी जी ने विशेष रूप से रस लिया। उस काल के चित्रकार जैसे रवि वर्मा थे, वैसे ही कवि द्विवेदी जी और उनके साथी हुए। ये लोग आचारी और सुधारक व्यक्ति हैं। कविता जिस प्रकार की सौन्दर्य-सामग्री का व्यवहार कर अन्तर का पवित्र रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने में ये जैसे लोक-लाज से डरते रहे हों। इनकी कविताएँ इसी लिए उपदेश-प्रधान हैं; वस्तु की व्यञ्जना करती हैं, अन्तर के तारों को झनझनाती नहीं। बाहर ही ठकठक कर चुप हो रहती हैं। 'कविता-कलाप' में द्विवेदी-काल के जिन प्रधान कवियों का काव्य-संग्रह है, प्रायः उन सब में यही बात है।

तथापि यह आरम्भ की बात है; कालान्तर में इसका परिवर्तन भी हुआ। स्वयं द्विवेदी जी ने प्राचीन सरसतम काव्यों का अनुवाद किया। उनके कविता-क्षेत्र के प्रधान सहकारी मैथिलीशरण जी गुप्त ने हिन्दी-भिन्न सामयिक साहित्य का अध्ययन करके सरस काव्य की आत्मा पहचानी और हिन्दी के नवीन उत्थान के कुछ वास्तविक कवियों का भी अनुसरण किया। द्विवेदी जी ने भी साहित्य की सक्रिय सेवा से अवसर ग्रहण करने के उपरान्त भक्ति के स्रोत में निमज्जित होकर कविता-मुक्ता के दर्शन किए। किन्तु सामयिक साहित्य मे कविता की जो उनकी विरासत है, वह अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं ही कहीं मिलता है।

'कविता-कलाप' का अध्ययन करने से यह भी प्रकट होता है कि द्विवेदी जी आदि को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है। घटना का सूत्र न रहने के कारण मुक्तक के कवि को कल्पना-भूमि में एक प्रकार से निरवलम्ब हो जाना पड़ता है। जहाँ कोई कथा आ जाती है, वहाँ और कुछ नहीं तो वर्णन का एक आधार, आकर्षण का कुछ हेतु तो मिल ही जाता है; किन्तु मुक्तक तो सब प्रकार से मुक्त गीत है। उस समय द्विवेदी जी जिस जरूरी काम में लगे हुए थे, उसे छोड़कर गीत गाने की फुर्सत भी तो हो! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन कई महानुभाव दूसरी ही रुचि रखते थे। उनका मन साहित्य के प्रत्येक अङ्ग की श्री-शोभा बढ़ाने, उसका शृङ्गार करने की ओर था। उन लोगों ने कविता की, नाटक रचे, निबन्ध लिखे, उपन्यासों का भी श्रीगणेश किया; और उनकी ये सब रचनाएँ सचमुच हमारे आधुनिक आरम्भिक साहित्य का शृङ्गार है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में कल्पना की बड़ी ही कमनीय शक्ति थी। उनके समसामयिक कितने ही लेखक सजीव और सरस साहित्य की अवतारणा करने में सिद्धहस्त हुए। 'द्विवेदी-काल' का साहित्य सब से पहले खड़ी बोली का आग्रह करके चला। गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का सन्देश पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। साहित्यिक सामग्री को समाजव्यापी बनाने का ध्येय लेकर ये लोग निकले थे। खड़ी बोली को छन्दों के साँचे में ढाल देना—एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना—जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छन्द की मेशीनरी को भी अपने उसी प्रचार-कार्य में लगाया। उस काल की कविता का अलङ्कार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्गार—चाहे वे रूखे उद्गार ही हों—उसमें भरे हैं। ब्रज-भाषा

की शृङ्गारिक कविता से विरक्ति हो जाने के कारण समाज में इस नवीन काव्य साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कहीं-कहीं छोटी-छोटी रचनाओं में भी बड़े ही मधुर भाव भरे मिलते हैं। कविता का चोला बदल गया।

कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतों को होगी; परन्तु वे उनके फुटकर निबन्धों को पढ़कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। यह एक बात प्रत्यक्ष है कि उन्होंने सामयिक और लोक-हितैषी विचारों के पक्ष में शक्ति-शाली प्रेरणा उत्पन्न की। कुमारसम्भव के आदि के ही पाँच सर्गों का सार प्रकाशित करके उन्होंने अतिशय शृङ्गारिकता से हिन्दी को बचाने का प्रयत्न किया। जब 'हिन्दी-नवरत्न' में मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की श्रेणी-शृङ्खला तैयार की और उन पर अपने विचार प्रकट किये, तब लोगों को हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की राय जानने का अवसर मिला। 'हिन्दी-नवरत्न' की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि कवियों के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करने की एक व्यवस्था, एक क्रम होना चाहिए। किन्तु व्यवस्था क्या हो और क्रम कैसा हो इस पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ा। यह अवश्य देखने में आया कि द्विवेदी जी ने सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की एक कोटि बना दी, देव आदि को अलग स्थान दिया और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को इन सब से पृथक् रखने की सम्मति दी। यद्यपि यह नहीं स्पष्ट हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किस विशेष श्रेणी में रखने की उन्होंने सिफ़ारिश की और किस आधार पर, किन्तु इससे भारतेन्दु के प्रति द्विवेदी जी की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट हुई। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का साध्य था। अतः नव्य साहित्य का निर्माण करनेवाले प्रथम महापुरुष होने के कारण हरिश्चन्द्र को द्विवेदी जी ने 'नवरत्न' के कवियों में अधिक उच्च आसन का अधिकारी समझा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र खड़ी बोली-गद्य के यशस्वी विधायक थे और द्विवेदी जी भी उसी पथ के पथिक थे। सम्भव है, भारतेन्दु के प्रति इनके श्रद्धा रखने का एक हेतु यह भी हो।

हिन्दी की साहित्य-समीक्षा का इतिहास विशेष रूप से मनोरञ्जक है। आरम्भ में जब भक्तगण भजनानन्द में लीन होकर काव्य-रचना कर रहे थे, तब जान पड़ता है कि भक्तवर नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु तुलसीदास को बनाकर उनकी कविता के गौरव की उतनी व्यञ्जना नहीं की थी जितनी भक्तों की परिपाटी की रक्षा की थी। अथवा की भी हो तो पता नहीं। लोक-प्रचलित कुछ पदों से, जैसे 'सूर सूर तुलसी ससी,

उडुगन केशवदास', 'तुलसी गङ्ग दुऔ भये सुकविन के सरदार', 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'—यद्यपि जनता के साहित्य-विषयक सामान्य ज्ञान का पता चलता है, परन्तु यह नहीं जाना जाता कि इनमें वास्तविक कला-समीक्षा कितनी है। उन्नीसवीं शताब्दी के विलायत के साहित्यिक समाज में डॉक्टर जानसन का विनोदपूर्ण पाण्डित्य विशेष प्रख्यात है। एक बार जब वे अपनी साहित्यिक मण्डली में बैठे थे, तब कोई महत्त्वाकांक्षी महानुभाव वहाँ अपने साहित्य-ज्ञान का परिचय देने पहुँचे। आपने बड़े तपाक से कहा, 'महाशयगण, शेक्सपियर की कविता बहुत अच्छी है।' डॉक्टर जानसन की मण्डली के लोग आगन्तुक की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने समझा कि शायद ये शेक्सपियर के बारे में कुछ और बातें कहेंगे; परन्तु आगन्तुक महाशय इससे अधिक कुछ जानते ही न थे। उनकी तो सारी समीक्षा बस यहीं समाप्त होती थी। डॉक्टर जानसन से न रहा गया। बोले—"शायद इनकी खोपड़ी की जाँच करने की ज़रूरत है।" हमारे हिन्दी-समाज का मस्तिष्क यद्यपि उक्त महानुभाव का-सा विलक्षण नहीं था, परन्तु यहाँ भी साहित्य-समीक्षा की गाड़ी 'सूर-ससी', 'उडुगन' 'जड़िया' और 'गढ़िया' आदि के दलदल में ही अटक रही थी आगे नहीं बढ़ रही थी।

जब संस्कृत की साहित्यिक रीति हिन्दी में आई, तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विचित्र हो गई। कवियों ने काव्य के गुणों और दोषों के उदाहरण अपनी ही कविता में दिखाने आरम्भ किये। यह न उनका अहङ्कार था, न उनकी विनयिता; यह एक प्रकार की अन्ध परम्परा बन गई थी। श्रीपति नाम के एक कवि ने दोष दिखाने के लिए कविवर केशवदास की कविता के उदाहरण लिये जिससे काव्य-सम्बन्धी उनके विवेक का—किन्तु इससे भी अधिक उनकी स्वतन्त्र बुद्धि का—थोड़ा-बहुत परिचय मिला। परन्तु परम्परा को ये भी न बदल सके। बिहारी की सतसई की उस काल में अनेकानेक टीकाएँ की गईं जिससे यह अनुमान हो सकता है कि उनकी कविता की ओर साहित्यिक समाज की अधिक रुचि थी; किन्तु वह रुचि भी रीतिबद्ध हो रही थी, वास्तविक जीवन से दूर हट आई थी। कविता के संग्रह-ग्रन्थ—'हज़ारा' आदि—भी लोगों ने निकाले, पर उनमें भी सङ्कलन का कोई उत्तम क्रम नहीं दिखाई देता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पिछले कई सौ वर्षों से साहित्यालोचन का कोई गम्य मार्ग प्रशस्त नहीं किया गया; और यदि कुछ साहित्य-पारखियों में वास्तविक जानकारी रह गई थी तो वह केवल बीजरूप में थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविवर देव के सुन्दर पदों का संग्रह प्रकाशित कर अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया; परन्तु इतना प्रकाश पर्याप्त नहीं था। उन्होंने कवियों के सम्मेलन की भी नये सिरे से प्रतिष्ठा की जिसमें केवल लोकरुचि को आकर्षित करना

ही अभीष्ट नहीं था, बल्कि पारस्परिक विचार-विनिमय से नई सूझ तथा साहित्य-विषयक स्वच्छ, सूक्ष्म दृष्टि के भी उदय होने की शुभाशंसा थी। परन्तु भारतेन्दु के अस्त होते ही ये कवि-सम्मेलन अपना वह पूर्व लक्ष्य भूल गये, और बाद में तो उनका बहुत ही विकृत रूप हो गया। सम्मेलनों की साहित्य-समीक्षा केवल कवित्त सुनाने में रह गई। रात-रात भर यही देखा जाता था कि कौन किस तर्ज़ से किस रस के, कितने कवित्त सुना सकता है। आगे चलकर इसने जलसे का रूप धारण किया और स्कूलों, कालेजों तक में इसका सिक्का जमने लगा। पुरस्कार बँटने लगे, इनाम मिलने लगे। गलेबाज़ी दिखाने का शौक़ चढ़ा। कविता-सम्मेलन नहीं रहे। सङ्गीत-सम्मेलन और ताली-सम्मेलन बन गये। इन्हें परिहास-सम्मेलन भी समझ सकते हैं। लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।

इस समय तक मेकाले साहब की डाली हुई अँगरेज़ी शिक्षा की नींव हमारे प्रान्तों में भी पड़ चुकी थी। लोग अँगरेज़ी की समीक्षा-शैली से भी परिचित हो रहे थे। संस्कृत, प्राकृत और देश-भाषाओं के अभ्यासी कतिपय विदेशी विद्वान् और उनके हिन्दुस्तानी शिष्य क्षेत्र में आने लगे थे। सभा-सोसाइटियाँ यद्यपि पहले भी थीं, परन्तु एकदम नवीन उत्साह और उत्तरदायित्व लेकर अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त तीन नवयुवकों ने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जिसे समय ने देश की एक प्रमुख साहित्यिक संस्था सिद्ध कर दिया है। यद्यपि पत्र-पत्रिकाएँ भी हिन्दी में निकल रही थीं, परन्तु नवीन रुचि के अनुसार नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभा की ओर से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। ऐसे ही अवसर पर डॉक्टर ग्रियर्सन महोदय ने, जो भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित माने गये हैं, हिन्दी-साहित्य के कतिपय कवियों की जीवनी और प्रशंसात्मक समीक्षा अँगरेज़ी में लिखी। उसमें तुलसीदास को उन्होंने एशिया के उत्कृष्ट कवियों में स्थान दिया जिससे हिन्दी के अँगरेज़ीदाँ विद्वानों में एक अच्छी हलचल-सी मची और एक नवीन उत्साह-सा देख पड़ा। 'नवरत्न' नामक हिन्दी कवियों का समीक्षा-ग्रंथ इसी उत्साह-काल में प्रकट हुआ। उसमें केवल डॉक्टर ग्रियर्सन के ही विचारों की पुष्टि नहीं की गई; बल्कि बहुत-सी नवीन उद्भावनाएँ भी दिखाई पड़ीं। परन्तु इसके कुछ पहले ही पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बँगला, उर्दू और अँगरेज़ी की अपनी बहुज्ञता के साथ नवोदिता 'सरस्वती' में बुला लिये गये थे। 'नवरत्न' की परीक्षा करते हुए इन्होंने साहित्य और कविता-सम्बन्धी अपने जो विचार 'सरस्वती' में प्रकट किये, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। अतः यहाँ उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

द्विवेदी जी ने संस्कृत अथवा अँगरेज़ी आदि के साहित्यिक सिद्धान्तों का अनुसरण करके अपने विचार नहीं प्रकट किये, यह कहना ही मानो साहित्य-सरणि में उनकी गति जान लेना है। वे हिन्दी का साहित्य-शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे। स्टील, एडिसन, जानसन, लैम्ब, हेज़लिट या हमारे देश के रवीन्द्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। यहाँ हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवीन्द्र आदि की समीक्षा की तुलना करें। परन्तु इतनी समता तो सब में है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवीन्द्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यमय अंतःपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है? परन्तु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्त्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल, उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्त्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई, कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जीने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की—'निरस बिसद गुनमय फल जासू।'

फलतः लोगों में साहित्य-विषय की जानकारी अच्छी बढ़ी और द्विवेदी जी के विचारों का अनुकरण भी होने लगा। प्राचीन हिन्दी से भी अधिक संस्कृत की ओर द्विवेदी जी की रुचि थी। जनता में भी 'सरस्वती' द्वारा उस रुचि का प्रवेश हुआ कविता की अन्तरङ्ग शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार 'सरस्वती' के पाठकों को अधिक भेंट किया जाता था। तदनुसार हिन्दी के उस काल के कवि भी चमत्कार की खोज करने लगे और समीक्षक भी उस पर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। द्विवेदी-काल की इस अभिरुचि का पूर्ण परिपाक आगे चलकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' महाकाव्य में हुआ जिसमें कथनोपकथन का चमत्कार—जिसे सभा-चातुरी कह सकते हैं—विशेष मात्रामें रखा गया। समीक्षा में उसका परिपाक लमगोड़ा जी की तुलसीदास-समीक्षा में समझना चाहिए जिसमें एक-एक पंक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया गया, पर काव्य की संघटित शोभा नहीं देख पड़ी। द्विवेदी-युग की मनोवृत्ति

के वृक्ष पर ये जो दो फूल फूले हैं, इनकी श्री-शोभा स्वयं द्विवेदी जी को मुग्ध कर चुकी है। इनके अतिरिक्त साहित्य के प्रायः प्रत्येक विभाग में कतिपय कृतविद्य लेखक और कवि कार्य कर रहे हैं जिनकी कृतियाँ अब भी द्विवेदी जी के आशीर्वचन से अलंकृत हो रही हैं।

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचन्द्रजी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियंत्रण करने लगता है, तब साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है। कभी-कभी समाज की कुछ विशेष रीतियों का समर्थन करनेवाला यह आदर्शवाद उक्त समाज की बहुजनमान्यता का ही एकमात्र आश्रय लेकर बुद्धि-जन्य संस्कार का त्याग कर देता है और केवल उन प्रथाओं के प्रचार की पद्धति पकड़ लेता है। कभी यह आदर्शवाद वीर-पूजा की प्रकृति पर प्रतिष्ठित होकर महत् चरित्रों का आविर्भाव करता है। आदर्शवादी कभी—जैसे राम-चरितमानस में—प्रतिस्पर्द्धी पात्रों के काले पट पर ईप्सितनायक का उज्ज्वल चित्र अंकित करते हैं; और कभी—जैसे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासों में—स्वयं नायक के ही उत्तरोत्तर विकास में अपना आदर्शवाद निहित रखते हैं। इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साह भरे उदात्तकार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक सात्त्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी-युग के आदर्श हैं। मध्यवर्ग की राष्ट्रीय भावना जो अमीरों के आतंक से छुट नहीं पाई थी द्विवेदी-युग की आधार-शिला है। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी कलात्मक पूर्णता का अवलम्ब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु अपनी सत्यवृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह कला धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करती है; परन्तु जो कला उदात्त और प्रशस्त न होती हुई भी समय और समाज के अन्धकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करती है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखती है। द्विवेदी जी का ऐसा ही साहित्यिक आदर्श था।

साहित्य और कविता से भी अधिक द्विवेदी जी ने भाषा, व्याकरण और पद-प्रयोगों पर विचार किया। 'प्राचीन कवियों की दोषोद्भावना' निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट-कथन की आवश्यकता दिखाते हुए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अरविंद घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चिपलूणकर आदि के जो प्रमाण दिये, हिन्दी में उनका भरपूर निर्वाह करनेवाले उस काल में स्वयं द्विवेदी जी ही थे। 'नवरत्न' की आलोचना का अधिकांश भाषा-संस्कार के विषय का है। उस समय द्विवेदी जी स्पष्ट-कथन के बदले अप्रिय-कथन भी कह देते थे और व्यंग्य उन्हें अप्रिय नहीं थे। उनके संघटन में व्यंग्य का एक विशेष स्थान हो गया था। कई बार उनसे और हिन्दी के अन्य विद्वानों से तर्क-वितर्क भी हुआ। यहाँ उन प्रसंगों का कोई प्रयोजन नहीं। उन अस्थायी अप्रिय घटनाओं से हमारी भाषा की वैसी ही एक स्थायी सुष्ठु विशेषता बन गई, जैसे कीचड़ से कमल निकलता है।

'हिन्दी-नवरत्न' तो एक उदाहरणमात्र है। लाला सीताराम-कृत कालिदास के हिन्दी-पद्यानुवादों पर द्विवेदी जी की और भी तीव्र दृष्टि पड़ी थी। 'भारतमित्र' के बाबू बालमकुन्द गुप्त, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र और द्विवेदी जी का भाषा-सम्बन्धी विवाद कई कोटियों तक चला। फिर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'पुस्तक-परिचय' का एक स्थायी स्तम्भ ही बना लिया था और प्रति मास नवीन प्रकाशित पुस्तकों के साधारण गुण-दोष-विवेचन के साथ प्रमुख रूप से भाषा की अशुद्धियाँ दिखाने लगे थे। शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का मध्यम मार्ग मानना चाहिए। जैसा कि 'अनस्थिरता' वाले विवाद से प्रकट भी हुआ, द्विवेदी जी हिन्दी की एक नई चलन अवश्य चाहते थे, यद्यपि उस चलन में भी एक व्यवस्था थी। संस्कृत से हिन्दी का साधारण व्यावहारिक सम्बन्ध भी उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिन्दी 'मृदुता' के पक्षपाती थे; परन्तु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छन्दता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर', और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिन्दी में अपना लिया गया हो, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं; परन्तु इसके आगे वे प्रायः नहीं बढ़ते। भाषा के संस्कार की रक्षा वे चाहते थे, अतः ग्रामीण एक देशीय शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते थे। तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्य-विन्यास के साथ-साथ सलीस उर्दू की मुहावरेबाजी दिखा देने का भी उन्हें पहले शौक था। यह उनके आरम्भ और मध्यकाल की गद्य-शैली की बात है। पद्य में और अपने प्रौढ़काल के गद्य में द्विवेदी

जी की वही टकसाली हिन्दी—न संस्कृत और न उर्दू—की पद-रचना चलती रही। वही भाषा जो इन दिनों हिन्दी के पठित समाज की—काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, देहली आदि में बोल-चाल की—भाषा बनी हुई है और जिसमें सैकड़ों साहित्यिक पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित हो रही हैं।

अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुन्दर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है, व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसङ्गानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पद-विन्यास केवल निघण्टु का विषय नहीं है, उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुन्दर प्रयोग वह है जो सङ्गीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से सङ्घटित हो, जिसके ध्वनन मात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृत अभिन्न अङ्ग बनकर वहीं निवास करने लगे। अभी तो हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने की भ्रान्त धारणा फैली हुई है; परन्तु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गम्भीर अध्ययन आरम्भ होगा तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई सङ्गीत नहीं—केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों को पुष्ट करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी' ईंटें दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे-छोटे वाक्य भी!

द्विवेदी जी की लेख-शैली का भविष्य अब तक यथोचित प्रकाश में नहीं आया है। हिन्दी-प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचार-पत्रों की भाषा में अच्छी मात्रा में अपना लिया है और हिन्दी के प्लेटफ़ार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है। इसका अर्थ यही है कि हिन्दी-जनता के श्रवणों को यह अच्छी लगी है और उसने समूह रूप से उसका सत्कार किया है। यह सामूहिक सत्कार शैली के भविष्य के लिए बहुत बड़े

द्वार का उद्घाटन कर देता है और उसकी सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। अभी द्विवेदी जी की भाषा-शैली को गुम्फित विचार-राशि के वहन करने का यथेष्ट अवसर नहीं प्राप्त हुआ है—अभी विचारों का तार हिन्दी में बँधा नहीं है। परन्तु इस युग के तीक्ष्ण, संश्लिष्ट विचारों का प्रकाशन—चाहे वह समाचार-पत्रों द्वारा हो, चाहे सामयिक पुस्तकों-द्वारा—अब अधिक काल तक समय की बाट नहीं जोह सकता। जब कभी वह अवसर आवेगा, (हम समझते हैं कि शीघ्र ही आवेगा), तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा। वह सरल, रूक्ष अभिव्यक्ति, जिसके गर्भ से गहन विचारों की परम्परा फूट निकलेगी, हिन्दी के क्षेत्र में एक दर्शनीय वस्तु होगी। व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खड़ी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदी जी की भाषा को भली-भाँति फूलने-फलने का मौक़ा मिलेगा। कविता और अलंकृत गद्य तब भी रहेंगे, मयूर-पङ्ख की लचकीली लेखनी तब भी उपयोग में आवेगी, बहुत-सी नवीन शैलियों से हमारा अनुरञ्जन तब भी होगा। किन्तु देश की जो व्यापक सामाजिक भाषा हमारे सामूहिक जीवन में सर्वत्र अभिज्ञता की लहर उत्पन्न करेगी, जो हमारे व्यवस्थापकों, व्यापारियों और वोट देनेवालों की, जो हमारी नित्य-प्रति की दुनियादारी की भाषा होगी वह पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा का ही विकसित रूप होगी, इसमें सन्देह करने की अधिक जगह नहीं है।

द्विवेदी जी की भाषा-शैली बहुत कुछ उनकी परिस्थिति की उपज है। जब वे 'सरस्वती' में सम्पादकीय कार्य करने आये, तब देश में एक ऐसी विचित्र बहुज्ञता का बाज़ार गर्म हो रहा था जो इसके पहले देखी सुनी नहीं गई थी। स्कूलों के विद्यार्थी भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अँगरेज़ी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो इतने शास्त्र पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव मुनि ने भी न पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परन्तु इसमें जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ, वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पाण्डित्य न हो, परन्तु एक अभिज्ञता, जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी तृप्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकाएँ अँगरेज़ी में निकलीं, उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी। देशी भाषाओं की पत्रिकाएँ भी अब ऐसी निकलीं जिनकी सबसे स्पष्ट विशेषता बहुविध विषय-विन्यास ही हुई। हिन्दी में अब तक जितने

ही वृत्तपत्र निकल चुके थे; परन्तु उनमें प्रायः किसी एक विषय की ही प्रधानता रहती थी और उनकी भाषा सम्पादक की मनोभिलाषा की उपज होती थी। भारतेन्दु-काल के हिन्दी-पत्र ऐसे ही थे जिनमें सम्पादक अपने पसन्द के विषयों पर अपनी पसन्द की भाषा में ऐसे लेख लिखते थे जो एक बँधे हुए घेरे तक ही पहुँच पाते थे। अब वह समय आ गया था जब सम्पादक जन-समाज का स्वेच्छाशित्तक बनकर ही काम नहीं कर सकता। उसे अपना व्याख्यान आरम्भ करने के पहले जनता की रुचि भी समझ लेनी पड़ेगी। अब सम्पादक महोदय जो भाषा लिखेंगे, उस पर हज़ारों पाठकों की दृष्टि पड़ेगी। जिस विषय पर वे विचार करेंगे, उस पर और लोग भी विचार करेंगे। जब तक एक ही विषय की प्रधानता रखकर पत्र निकलते रहे, तब तक भाषा-अलङ्करण को बहुत कुछ सुविधा थी। पण्डित बदरीनारायण चौधरी जैसे रसिक व्यक्तियों को छोड़कर, जो राजनैतिक टिप्पणियों में भी साहित्यिक छटा छहराने की चाह रखते थे, जिन्हें उन विषयों की वास्तविकता से मतलब था, वे ऐसी उधेड़बुन पसन्द नहीं कर सकते थे। व्यावहारिक दृष्टि से भी सम्पादक के लिए यह अशक्य हो चला था कि वह विभिन्न विषयों का विवेचन करता हुआ उनमें कविता की कलाबाज़ी दिखाने की चेष्टा भी किया करे।

'सरस्वती' आरम्भ से ही विविध विषयों की पत्रिका बनकर निकली और निकलते ही वह हिन्दी का हृदयहार बन गई। उसका कलेवर उज्ज्वल-वसन और निरलङ्कार था; वैसा ही उसका अन्तस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था। उसके निश्छल विचार थे; स्पष्ट, स्फुट भाषा थी। उसमें विद्या थी, किन्तु विद्या का प्रदर्शन न था। कठिन परिश्रम था, उपालम्भ न था। सङ्गठन था, विज्ञापन न था। ऐसी वह हिन्दी-जनता की 'सरस्वती' शीघ्र ही हमारी श्रेष्ठ पत्रिका बन गई। द्विवेदी जी जब उसके सम्पादक हुए, तब उन्होंने समाज की बहुमुखी आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों के विशिष्ट लेखक तैयार किये। उन्हें हिन्दी में लिखने की प्रेरणा की। उनकी हिन्दी सुधार-सँवारकर प्रकाशित की। आज उनमें से कतिपय लेखक इन प्रान्तों के प्रसिद्ध पण्डित, अध्यापक और विचारकर्ता माने जाते हैं। उनमें से कुछ ने तो द्विवेदी जी के 'सरस्वती' छोड़ने पर हिन्दी में लिखना भी बन्द कर दिया। ऐसा उनका पारस्परिक सम्बन्ध था। बहुत-से लेखक 'सरस्वती' से आकृष्ट होकर स्वयं ही उसमें आये। इन सब का इतना नियमित सङ्गठन हो गया कि 'सरस्वती' को दूसरे लेखकों की आवश्यकता ही न रही। जो 'सरस्वती' के लेखक थे, वे दूसरी पत्रिकाओं में लिखने की चाह नहीं रखते थे—प्रायः नहीं ही लिखते थे—

दूसरे लेखकों के लेख बहुधा अस्वीकृत होकर लौट भी जाते थे। लेखकों की संख्या इतनी बढ़ रही थी कि सब लेख छप भी नहीं सकते थे। द्विवेदी जी के निजी सिद्धान्त भी अनेक लेखों के छपने में बाधक हुए होंगे।

द्विवेदी जी सिद्धान्तवादी सम्पादक थे। यद्यपि लोकरुचि और लोकमत का उन्हें ध्यान था, परन्तु अपने सिद्धान्तों का अधिक ध्यान था। वे 'सरस्वती' के लेखकों का सुचारु संघटन कर चुके थे और उनकी सहायता से अपने मनोनुकूल विषयों की विवृति करते रहते थे। संस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसन्धान, इतिहास, जीवन-चरित, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, हिन्दी का प्रचार आदि विषयों से 'सरस्वती' का प्रायः प्रत्येक अङ्क विभूषित रहता था। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। यदि हम इस कसौटी पर 'सरस्वती' की समीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रान्तीय भाषाएं न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने देशवासी भिन्न-भाषा भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक 'सरस्वती' की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मति-गति निर्माण करते थे, वे देश को पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (सम्भवतः कविता को छोड़कर) किसी विषय में संकुचित होने का कुछ भी अवसर नहीं था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'सरस्वती' अपने समय की हिन्दी-जनता की विद्या-बुद्धि की माप-रेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। यह उनके उत्कट अध्ययन और चयन-शक्ति का द्योतन करता है कि वे प्रतिमास मराठी, गुजराती, उर्दू बँगला और अँगरेजी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियाँ 'सरस्वती' में उद्धृत करते थे।

'सरस्वती' विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका अधिक थी, परन्तु द्विवेदी जी ने उसे व्यक्तिगत प्रचार (प्रोपेगैंडा) का साधन नहीं बनाया। अवश्य वह उनके व्यक्तिगत विचारों का प्रचार भी करती रही; अवश्य उसने अपनी एक परिधि भी बना ली, जिसके अन्दर प्रतिस्पर्द्धी लेखकों का प्रवेश-निषेध था। अपने स्थायी लेखकों के विषय में कोई अन्यथा बात अपनी पत्रिका में छापना द्विवेदी जी को इष्ट न था। इन कारणों से हिन्दी में कतिपय अन्य पत्रिकाएँ भी निकाली गईं, परन्तु इनमें से किसी को

'सरस्वती' का-सा स्थायित्व न मिला। वह गुण जो 'सरस्वती' की स्थायी सफलता का मुख्य हेतु बना, द्विवेदीजी का विलक्षण अध्यवसाय था। वे कठिन परिश्रम करके प्रत्येक लेखक की भाषा को अपनी शैली के साँचे में ढालते थे और इस क्रिया में लेखों का कायापलट कर देते थे। 'सरस्वती' के भाषा में जो अधिकाश एकरूपता है, वह इसी क्रिया का परिणाम है। 'सरस्वती' में रहते हुए नवयुवक लेखकों को भी विमुख न करके उनकी कृतियाँ सुधारकर छापने में द्विवेदी जी को कई-कई महीने लग जाते थे। पत्रिका को शुद्ध रूप में ठीक समय पर निकाल देना वे अपना सम्पादकीय कर्त्तव्य समझते थे, और यह सम्पादकीय कर्त्तव्य कर चुकने के बाद वे प्रति मास उसकी ग्राहक-संख्या और आय-व्यय का हिसाब भी जानते रहते थे।

ऐसे उद्योगी और कार्य-कुशल व्यक्ति का उन्नति के उच्च आसन पर पहुँच जाना आश्चर्य की बात नही है। किसी को यह देखकर विस्मय नहीं हुआ कि द्विवेदी जी ने अनेक वर्षों तक 'सरस्वती' की सेवा करते हुए हिन्दी के बहुजन-समाज पर साहित्यिक अनुशासन किया। बहुत दिनों से वे हिन्दी के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर के अधिवेशन में वे स्वागत-कारिणी के प्रधान थे। पिछले कई-वर्षों से सम्मेलन उन्हें अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति बनाकर गौरव प्राप्त करना चाहता है, परन्तु अस्वस्थता आदि कारणों से द्विवेदी जी वह पद अस्वीकार करते आ रहे हैं। अब तो उक्त पद से द्विवेदी जी की उतनी शोभा नहीं, जितनी द्विवेदीजी से उक्त पद की शोभा हो सकती है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भाँति भाँति से प्राप्त हुआ है जिसके लिए सभा उनकी कृतज्ञ रहेगी। सभा को अपने विद्या-वैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य सम्पत्ति, सहस्रों पुस्तकें और 'द्विवेदी-पदक' की निधि के रूप में प्रदान की है। परन्तु इन सबसे कही अधिक साहित्यिक महत्त्व की वस्तु जिसके लिए सभा उनकी चिरऋणी रहेगी, उन लेखों की मूल प्रतियाँ है जो 'सरस्वती' में छपे थे और जिनमें द्विवेदी जी के सुधार के सुवर्णाक्षर अनोखी दीप्ति से चमक रहे है। ये वे लेख हैं जो हिन्दी की सम्पादन-कला और भाषा-शैली के विकास के इतिहास में स्मरणीय रहेंगे। हिन्दी के स्थायी कला-भवन में द्विवेदी-युग की यह स्मरणीय धरोहर रहेगी और आदरपूर्वक देखी जायगी। काशी-विश्वविद्यालय को भी द्विवेदी जी ने कई सहस्र रुपये दिये है जो उनके समान श्रमजीवी पुरुष के आजीवन अर्जित धन का बृहदंश है। द्विवेदी जी के ये दान—वृद्धावस्था की लकड़ी का सहारा भी छोड़ देना—आत्मोत्सर्ग की सीढ़ियाँ हैं जिन्हें भविष्य की सन्तान सादर स्मरण रक्खेगी।

हमारे साहित्य में 'द्विवेदी-युग' अब समाप्त हो रहा है, यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी काम कर रहा है और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील हैं। परन्तु संप्रति एक नवीन लहर उठ रही है जिसके सामने प्राचीन प्रगति स्वभावतः अपना आकर्षण खोने लगी है। वह सरल शुभ आदर्श और वह प्रांजल व्यवस्था आज एक व्यापक अविश्वास और शक्तिपूर्ण अराजकता में विलीन-सी हो रही है। साहित्य का कोई एक मार्ग नहीं रह गया—चतुर्दिक आक्रांति की सूचना मिल रही है। आधुनिक मस्तिष्क किसी एक दिशा में काम करने को तैयार नहीं, सब दिशाएँ छान डालने का उद्योग कर रहा है। कोई कह नहीं सकता कि विचारों के क्षेत्र में विस्तार हो रहा है या विशृङ्खलता बढ़ रही है। बहुत से दुर्बलमस्तिष्क क्षीणबुद्धि व्यक्तियों के बीच थोड़े-से सच्चे विचारवान् साहित्यसेवी भी नवीन उत्थान का साथ दे रहे हैं; परन्तु अभी इसकी गति विधि निरूपित नहीं हुई है। प्रतिभा का एक नवीन उन्मेष देख पड़ता है; परन्तु नवीन साहित्यिक आकांक्षा अब तक प्रकट नहीं हुई है।

—

रत्नाकर

—o—

कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के निधन के अवसर पर हमने अपनी श्रद्धाञ्जलि में निवेदन किया था कि रत्नाकर जी की मनोवृत्ति मध्ययुग की-सी थी, वे मध्ययुग के ही वातावरण में रहते थे और अँगरेज़ी पढ़कर भी उन्हें आधुनिकता से कोई विशेष रुचि न थी। मध्ययुग हिन्दी-साहित्य का सुवर्णयुग था और रत्नाकर जी उसी की रम्य विभूति में रम गये थे। उनकी भाषा, उनके साहित्यिक विषय सब तत्कालीन ही थे। यहाँ तक कि उनके आचार-व्यवहार में भी उसी समय की मुद्रा थी। उस युग की कल्पना को वास्तविक बनाकर रत्नाकर जी पूरे प्रसन्नभाव से रहते थे और उन्होंने हमारे इस युग की भाव-भाषा की कोई विशेष चिन्ता नहीं की। अँगरेज़ी में ऐसे लेखकों और कवियों को 'क्लैसिक' नाम देने की चाल है जो स्वभावतः अपने भावों, पात्रों और भाषा आदि को प्राचीन यूनान आदि का साहित्य-शैली में ढालते हैं और वहीं से अपनी साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। धीरे-धीरे ऐसे 'क्लैसिक' साहित्यकारों की एक परम्परा बन गई है जिनकी विशेषताओं को श्रेणीबद्ध करते हुए वहाँ के समीक्षक कहते हैं कि ये साहित्यकार प्राचीन वातावरण को पसन्द करते, पुरानी ग्रीक, लैटिन अथवा अँगरेज़ी के काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन करते और उन्हीं की शैली को अपनाते हैं। पौराणिक या धार्मिक ग्रन्थों के पात्रों का ही चित्रण करने की इनकी प्रवृत्ति होती है, और ये भाषा ही नहीं, उपमा, रूपक आदि साहित्यालङ्कारों को भी प्राचीन परिपाटी में ही ढालने का प्रयास करते हैं। मिल्टन से लेकर अब तक अँगरेज़ी में इस प्रकार के अनेक क्लैसिक रचनाकार हो गये हैं जिनमें मेथ्यू आर्नल्ड अन्तिम प्रसिद्ध क्लैसिक समझा जाता है जिसके 'होमरिक' रूपकों की अच्छी ख्याति है। यह साहित्यिक वर्ग भाषा में प्रौढ़ता, भावों में संयम और गंभीरता का आग्रह करता है। किन्तु नवीन जीवन और नूतन संस्कृति का स्पर्श न कर सकने के कारण इस वर्ग के लेखकों के विरुद्ध नवीन साहित्यिक उन्मेष की आवश्यकता समझी गई और यूरोप के साथ-साथ इँग्लैण्ड में भी नवीनतावादी लेखकों ने क्रांति की। भावों में अस्वाभा-

विकता, भाषा में व्यर्थ का भार, पात्रों का रुढ़िगत चित्रण आदि के आरोप लगाकर नवीन क्रान्तिकारियों ने इन 'क्लेसिकों' का तख्त उलट देने का आन्दोलन किया और उसमें वे सफल भी हुए। परन्तु इससे 'क्लेसिक' शैली का ही अन्त नहीं हो गया, बल्कि परम्परा टूट जाने पर अब तो इस शैली के साहित्यकारों में एक अनोखा आकर्षण मिलने लगा है और यूरोप के कुछ नए साहित्य-समीक्षक इन प्राचीनतावादियों के पक्ष में ज़ोरदार प्रेरणा उत्पन्न कर रहे हैं।

हमारी हिन्दी में इस प्रकार के साहित्यिक आन्दोलन हुए हैं, पर अभी इस विषय में अधिक प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है। हिन्दी में 'क्लेसिक'-परम्परा सूर और तुलसी के आधार पर ही चली है यद्यपि आचार्यत्व की दृष्टि से केशवदास इसके अधिक अधिकारी हैं। रत्नाकर जी ने सूरदास, नन्ददास आदि के भावों और उक्तियों का आधार लिया है। इसका यह आशय नहीं कि रत्नाकर जी और उपर्युक्त कवियों में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में अन्तर बहुत बड़ा है। सूर आदि मध्ययुग की संस्कृति के उन्नायक कवि थे, किन्तु रत्नाकर तो उस उन्नत युग की स्मृति-रक्षा या अनुकरण का उद्देश्य लेकर ही चले थे। जो अन्तर मूलकृति और उसकी अनुकृति में है वही इनमें भी है। विगत युग के संस्कारों की स्थापना नव्यतर युग में करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है किन्तु वह युग का अनिवार्य काव्य नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है। तुलसी ने वाल्मीकि-रामायण और सूर ने श्रीमद्भागवत से काव्य-प्रेरणा प्राप्त की थी और काव्य-सामग्री भी। परन्तु हिन्दी के ये प्रतिनिधि कवि इतनी अपार मौलिकता लेकर आये थे कि हिन्दी के लिए वे ही आदर्श बन गये और हिन्दी की सामान्य साहित्यिक परम्परा में पृथक् रीति से संस्कृत की आवश्यकता ही नहीं रह गई। सूर और तुलसी ने संस्कृत का त्याग कर जो ग्राम्य-भाषा अपनाई थी (यद्यपि इस ग्राम्य भाषा को ही उनकी लेखनी ने संस्कृत बना दिया) उसे शास्त्रीय या क्लेसिक परम्परा का त्याग ही समझना चाहिए। फिर एक नवीन धार्मिक उत्थान के प्रवाह में उन कवियों की भावधारा भी नवीन जीवन लेकर ही पहुँची थी जिस पर प्राचीन संस्कृत का प्रभाव कम ही था। किन्तु रत्नाकर जी अपने काव्य में जीवन की ऐसी कोई मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नहीं आये। उसके स्थान पर वे उक्तिकौशल, अलङ्कार, भाषा की कारीगरी और छंदों की सुघरता और पांडित्य लेकर आये थे। इस विषय में विशेष विवाद की जगह नहीं है कि हिन्दी संसार ने तुलसी-सूर की परम्परा

को ही अपनी श्रेष्ठतम श्रद्धाञ्जलि चढ़ाई है। अपितु यहाँ तो यह भी कहा जा सकता है कि तुलसी और सूर आदि की काव्यरचना स्वयम् ही हिन्दी के लिए शास्त्रीय बन-कर अपने अनुगामी 'क्लेसिक' कवियों की सृष्टि करने लगी। इसी कवि-मण्डली में अन्तिम नाम रत्नाकर का लिया जा सकता है। यूरोप में अनेक कवियों को मध्य-कालीन 'फ्यूडल' समाज और काव्य से प्रेरणा मिली थी और अब भी मिलती है। रत्नाकर जी को भी उसी तरह भारत के मध्ययुग का साहित्य और समाज खूब ही भाया था और उन्होंने उसे अपना लिया था।

साहित्यिक और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी रत्नाकर जी को इसी रूप में देखते हैं, परन्तु नवम्बर की 'सरस्वती' में 'कविवर रत्नाकर' शीर्षक लेख में कुछ नये ही ढंग के विचार प्रकट किये गये हैं। सम्पादकीय टिप्पणी में भी इस लेख की ओर पाठकों का ध्यान खींचा गया है, किन्तु लेख का पाठ करने पर लेखक और सम्पादक दोनों ही के भ्रांत दृष्टि-कोण का पता लगता है। लेखक ने रत्नाकर जी को जिस अति नूतन रूप में देखने की चेष्टा की है वह एक हँसी की बात है। 'उद्धव-शतक' में उद्धव के ज्ञानकाण्ड को गोपियों की भक्ति से पराजित करने की योजना नवीन नहीं है, रत्नाकर जी की उक्तियाँ भी अनेक अंशों में सूरदास, नन्ददास आदि से मिलती-जुलती हैं। प्राचीन हिन्दी का प्रत्येक पाठक इसे जानता है। सगुण और निर्गुण भक्ति की रसमयी रागिनी वैष्णवसाहित्य की एक सार्वजनिक विशेषता है। न केवल कृष्णायण सम्प्रदाय ने, तुलसीदास जैसे रामभक्त कवि ने भी इस रागिनी में अपना स्वर मिलाया है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि रत्नाकर जी के 'उद्धवशतक' की गोपियों की उक्तियाँ नवीन युग के व्यक्तिवाद का सन्देश सुनाती हैं, अथवा भावी अनीश्वरवाद का संकेत करती हैं, प्रसंग के साथ अन्याय करना और रत्नाकर जी की प्रकृति से अपरिचय प्रकट करना है। उमर ख़ैयाम से रत्नाकर जी की तुलना करने को सन्नद्ध होना भी केवल एक चमत्कार की सृष्टि करना है। लेखक इस विषय में अपनी कमज़ोरी का आप ही-आप प्रदर्शन करता है जब वह रत्नाकर जी के अन्य काव्यों में प्राचीन कथा और प्राचीन भाषा का पल्ला पकड़े रहने की उनकी विशेषता का उल्लेख करता है। पहले एक सिद्धात बनाकर पीछे रत्नाकर जी के काव्य से उसके उद्धरण देने की चेष्टा करने में खींचतान करनी ही पड़ेगी—विशेषकर वैसी दशा में जब कि सिद्धान्त अपनी ही कल्पना की उपज हो। उसी प्रकार लेखक को भी खींचतान करनी पड़ी है। रत्नाकर जी वैष्णव कवि थे, वे प्राचीन हिन्दी की काव्यधारा में स्नात थे, उनकी प्रकृति भी

उसी साँचे में ढली थी। उनको पंडों, पादरियों और पुरोहितों के विरुद्ध आन्दोलन करने की फ़ुरसत नहीं थी। यदि आधुनिक हिन्दी का कोई कवि प्राचीन पंथ पर चलने का साहस कर सफल-मनोरथ हो सका है तो वह रत्नाकर जी थे। रत्नाकर जी की विशेषता लीक पर ही चलने की थी। यदि अँगरेज़ी के इस अर्थपूर्ण शब्द को उधार लेना अनुचित न हो तो हम कह सकते हैं कि रत्नाकर जी 'मेथ्यूआर्नल्ड' की भाँति हिन्दी के अन्तिम 'क्लेसिक' कवि थे; उनको नवीनतावादी अथवा भावी युग का क्रान्तिकारी कवि बतलाना और शायर-सिंह-सपूत की भाँति लीक छोड़कर चलने की सिफ़ारिश करना भ्रमजाल खड़ा करना और वास्तविक 'रत्नाकर' से कोसों दूर जा पड़ना है। साहित्यिक इतिहास का अध्ययन हमें इसी निर्णय पर पहुँचाता है।

नास्तिकता और नवीनता के इस अग्रगामी युग में यह कवि जिस आशा और विश्वास के साथ पुरानी ही तानें छेड़ने में लगा रहा उसका प्रतिफल उसे अवश्य मिलेगा। इसने हमें पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का संधान किया। इसका यह पुरस्कार कुछ कम नहीं है। यह काशीवासी रत्नाकर पुरातन ब्रज-जीवन की स्वच्छ भावनाधारा में स्नात एकाधार में भाषा और काव्य-शास्त्र का पंडित, कलाविद् और भक्त हो गया है। अपने कतिपय श्रेष्ठ सहयोगियों और समकालीनों में, जो ब्रजभाषा-साहित्य का शृङ्गार कर रहे थे, रत्नाकर की विशिष्ट मर्यादा माननी पड़ेगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में अधिक ऊँची प्रतिभा थी, किन्तु उन्हें अवसर न मिला। कविरत्न सत्यनारायण अधिक ऊँचे दर्जे के भावुक और गायक थे, किन्तु उनका न तो इतना अध्ययन था और न उनमें इतनी कला-कुशलता थी। श्रीधर पाठक ब्रजभाषा से अधिक खड़ी बोली के ही आचार्य हुए। वर्तमान और जीवित कवियों में कोई ऐसा नहीं जो आजीवन इनकी धाक न मानता रहा हो। विक्रम की बीसवीं शताब्दी अब समाप्त हो रही है। अतः जब आगामी शताब्दी के आरम्भ में पुराने कवियों और उनकी कृतियों की जाँच-पड़ताल की जायगी, तब रत्नाकर को इस क्षेत्र में शीर्ष स्थान देते हुए, आशा है, किसी को कुछ भी असमंजस न होगा।

परन्तु यह शीर्ष स्थान नवीन प्रासाद-निर्माण का पुरस्कार नहीं है, केवल पुरानी पच्चीकारी का पारिश्रमिक है। पुरातन और नूतन का यह अन्तर समझ लेना ही रत्नाकर का यथार्थ मूल्य आँकना होगा। भाषा तो भाषा ही है, चाहे वह ब्रज हो या खड़ी बोली; कवि की अभिव्यक्ति के लिए हर एक भाषा उपयुक्त हो सकती है; वह तो साधनमात्र है, साध्य नहीं। इस प्रकार की विवेचना वे ही कर सकते हैं, जो

यह परिचय नहीं रखते कि भाषाओं के भी आत्मा होती है; अथवा उनके जीवन की भी एक गति होती है। प्रत्येक भाषा की प्रगति का एक क्रम होता है जो सूक्ष्म दृष्टि से देखा जा सकता है। भाषा केवल हमारे भावों तथा विचारों का वाहन नहीं है जो ठोंक-पीटकर सब समय काम में लाई जा सके। उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और वातावरण भी होता है। हमारी ही तरह उसकी भी शक्ति, इच्छा और संस्कार होते हैं। समय के परिवर्तनशील पटल पर उसकी भी अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती रहती हैं। उन्हें पहचानना कविजनों के लिए उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है। (जो ब्रजभाषा भक्तों की भावनाओं से भरकर रीति-कवियों की साज-सज्जा से चटकीली हो रही है, उसके साथ आलाप करना या तो किसी बड़े कलाभिज्ञ का ही काम है और या किसी निपट अनाड़ी का ही।) जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ़ प्रतिभा और देशव्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खड़ी बोली को अपना सौभाग्य सौंपकर विवश पड़ी हो, उस मानिनी को सान्त्वना देने के लिए उसके किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी। ब्रज की वह सभ्य सुन्दरी जब ग्रामीण और अनुपयोगी कही जा रही हो, तब उसके रोषदीप्त मुख के अश्रु-मुक्ताओं को सँभालने के लिए बहुत बड़ी सहानुभूति अपेक्षित है।

जो लोग भाषाओं की यह परिवर्तित परिस्थिति नहीं समझते, वे सच्चे अर्थ में कवितारसिक नहीं कहे जा सकते। उनके लिए तो सभी भाषाएँ सभी वेश और सब कामों में लगाई जा सकती हैं। परन्तु वास्तव में भाषा के प्रति यह बहुत ही निर्दय व्यवहार है। बहुत दिन नहीं हुए जब हिन्दी की एक पुस्तक में पढ़ा था कि—ब्रज भाषा और खड़ी बोली में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही हिन्दी हैं। दोनों को मिला-जुलाकर व्यवहार करना ही हिन्दी की सच्ची सेवा है। इनका पृथक् अस्तित्व न मानना ही इनका झगड़ा दूर करना है। इसके लेखक महोदय अपने को ब्रजभाषा का समर्थक और उपकारी मानते हैं और उन्होंने अपनी कविता-पुस्तक की भूमिका में ये बातें लिखी हैं। उनकी पद्य-रचनाएँ पढ़ने पर विदित हुआ कि उन्होंने खिचड़ी भाषा लिखकर अपनी भूमिका को चरितार्थ भी किया है। विषय भी उन्होंने कुछ नये और कुछ पुराने चुनकर अपना सिद्धान्त सोलह आने सार्थक करने का प्रयास किया है; पर हमारे देखने में उनकी यह सारी चेष्टा व्यर्थ हो गई है। उनकी कविता में न तो ब्रजभाषा का उन्नत शब्द-सौंदर्य है और न उसकी चिर दिन की अभ्यस्त भंगिमाएँ। उनकी खड़ी बोली भी मानो शिथिल होकर लेटे-लेटे चलना चाहती हो। रचना में स्वारस्य नहीं आया, तो उससे क्या लाभ!

हम यह नहीं कहते कि ब्रजभाषा का व्यवहार नये विषयों के वर्णन में किया ही नहीं जा सकता। परन्तु इसके लिए दूसरी प्रतिभा चाहिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर ब्रजभाषा के और किसी उपासक को इस युग में वह प्रतिभा कदाचित् ही मिली हो। अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार और अँगरेज़ी कविता के अध्ययन-अभ्यास से खड़ी बोली चैतन्य गति से हमारे हृदय चुराकर चल रही है। ब्रजभाषा को वह सौभाग्य न मिल सका। यद्यपि नवलता ही जगत् के आह्लाद का हेतु है, परन्तु पुरानी कलाएँ भी चिरंतन आनन्द की विषय बनी रहती हैं। यदि जनता की परिवर्तित रुचि के कारण ब्रजभाषा समय का साथ देने में असमर्थ हो, अथवा यदि कोई ऐसा कवि न हो जो अपनी अपूर्व क्षमता से उसका नवीन रूप-विन्यास करके उसे आधुनिक जीवन की सहचरी बना सके, तो भी उसके लिये अपनी पूर्व संचित कान्ति सुरक्षित रखने में कोई बाधा नहीं। यदि ब्रजभाषा केवल मध्यकालीन विषयों और भावों की व्यंजना के लिए ही उपयुक्त मान ली जाय तो भी वह स्थायी और स्मरणीय होगी। यदि बोल-चाल की भाषा का पद ग्रहण करके खड़ी बोली जनसाधारण को आकर्षित कर रही है तो शताब्दियों तक देश की आत्मा की रक्षा और उन्नति करनेवाली ब्रजभाषा अपनी वर्तमान स्थिरता में भी सम्राज्ञी के पद का गौरव बढ़ा रही है।

तात्पर्य यह कि यदि भाषा के स्वभाव को न समझकर बेसुरी तान छेड़नेवालों को छोड़ दिया जाय, तो भी साहित्य के पंडितों में इस समय ब्रजभाषा-विषयक दो विशेष विचार फैल रहे हैं। एक तो यह कि ब्रजभाषा अब भी नवीन जीवन के उपयुक्त बनाई जा सकती है और नव्य संदेश सुना सकती है। दूसरा यह कि वह अपनी विगत शोभा को ही सँवारकर अपनी अभीष्ट-सिद्धि कर सकती है। उसे नवीन विषयों की ओर झुकाने में कोई लाभ नहीं है। यह भी वैसा ही मतभेद है, जैसा प्राचीन अजन्ता की चित्र-विद्या के सम्बन्ध में है। एक ओर तो बंगाल के कलाविद् उसे नवीन उप-करणों में प्रयुक्त करते हैं, और दूसरी ओर कुछ लोग इस मिश्रण का विरोध करते हैं। वस्तुतः यह भाषा के स्थिर सौंदर्य और चलित सौंदर्य का विवाद है। बहुतों की यह एषणा होती है कि हमारी प्राचीन परिचिता हमारे दैनिक जीवन में सदैव साथ रहे, पर बहुतों को उसे यह कष्ट देना इष्ट नहीं होता। वे उसकी केवल स्मृति ही रक्षित रखना चाहते हैं। इस उदाहरण पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि ब्रजभाषा हमारी प्राचीन परिचिता ही नहीं है; वह तो आज भी ब्रज में बोली-चाली-जाती है। परन्तु यहाँ हम साहित्यिक ब्रजभाषा की बात कह रहे हैं जो शताब्दियों की पुरानी है और

खड़ी बोली के नवीन उत्थान की तुलना में प्राचीन ही कही जायगी। हम उस ब्रजभाषा की चर्चा कर रहे हैं जो सारे उत्तर-भारत पर एकछत्र शासन कर चुकी है और देश के ओर-छोर तक अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार कर चुकी है। यहाँ ब्रज की प्रादेशिक बोली से हमारा अभिप्राय नहीं है। अस्तु, इन द्विविध मतों में रत्नाकर जी दूसरे मत के अवलम्बी थे। यद्यपि आरंभिक जीवन में उन्होंने अँगरेज़ी कवि 'पोप' के "समालोचनादर्श" को ब्रजभाषा-पद्य में अवतरित करने की चेष्टा की थी, किन्तु अपनी शेष रचनाओं में उन्होंने ठीक-ठीक ब्रज की काव्य-कला का ही अनुसरण किया है।

काशी और अयोध्या में रहकर ब्रज की काव्य कला का ही अनुसरण बिना गम्भीर अध्ययन के साध्य नहीं है। रत्नाकर जी का अध्ययन बहुत विस्तृत और बहु-वर्ष-व्यापक था। इनके पिता बा० पुरुषोत्तमदास जी फ़ारसी भाषा के विद्वान् थे और उनके यहाँ फ़ारसी तथा हिन्दी-कवियों का जमघट लगा रहता था, बाबू हरिश्चन्द्र उनके मित्रों में से थे। बालक रत्नाकर में कविता के संस्कार इसी सत्सङ्ग से उत्पन्न हुए। एक धनिक परिवार में जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन में सैकड़ों बाधाएँ आ सकती थीं और इसी लिए बिना विक्षेप बी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना इनके लिए एक असाधारण घटना प्रतीत होती है, इसे हम उनके अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल ही कह सकते हैं। यद्यपि इन्हें ब्रज भाषा के अनुशीलन का सुयोग कुछ दिनों बाद प्राप्त हुआ था, तथापि रत्नाकर-ग्रन्थावली के अध्ययन से प्रकट होता है कि ब्रजभाषा पर इनका अधिकार व्यापक और विस्तृत था। आरम्भ की रचनाओं में भी ब्रजभाषा का एक सुष्ठु रूप है, किन्तु प्रौढ़ कृतियों में, विशेषकर 'उद्धवशतक' में, रत्नाकर का भाषा-पांडित्य प्रखर रूप में प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृत की पदावली को इतने अधिकार के साथ ब्रज की बोली में गूँथ देना मामूली काम नहीं है। यही नहीं, रत्नाकर जी ने अपनी काशी की बोली से भी शब्द ले-लेकर ब्रजभाषा के साँचे में ढाल दिये हैं जो एक अतिशय दुष्कर कार्य है। यदि रत्नाकर जैसे मनस्वी व्यक्ति के सिवा किसी दूसरे को यह कार्य करना पड़ता तो वह अपनी प्रान्तीय भाषा को ब्रज की टकसाली पदावली में मिलाते समय सौ बार आगा-पीछा करता। बहुतों ने इस मिश्रण-कार्य में विफल होकर भाषा की निजता ही नष्ट कर दी है। पर रत्नाकर 'अजगुतहाई', 'गमकावत', 'बगीची', 'धरना' 'पराना' आदि अविरल देशी प्रयोग करते चलते हैं और कहीं वे प्रयोग अस्वभाविक नहीं जान पड़ते। उनकी भाषा की नाड़ी की यह पहचान बहुतों को नहीं होती। कहीं-कहीं 'प्रत्युत' 'निर्धारित' आदि अकाव्योपयोगी शब्दों के शैथिल्य और 'स्वामि-प्रसेद पात-थल' 'दन्द-

उम्मस' आदि दुरूह पद-जालों के रहते हुए भी उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नही हुई। फुटकर पदों और कृष्ण-काव्य में वह शुद्ध ब्रज और गङ्गावतरण में संस्कृत-मिश्रित होती हुई भी किसी न किसी मार्मिक प्रयोग की शक्ति से ब्रज की माधुरी से पूरित हो गई है। दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं
तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि
त्यौं ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥
(शुद्ध ब्रज)

स्यामा सुघर अनूप रूप गुन सील सजीली।
मण्डित मृदु मुख चन्द मन्द मुसक्यानि लजीली॥
काम वाम अभिराम सहस सोभा सुभ धारिनि।
साजे सकल सिंगार दिव्य हेरति हिय हारिनि॥
(संस्कृत-मिश्रित)

फारसी के अच्छे पण्डित होते हुए भी रत्नाकर जी ने बड़े संयम से काम लिया है, और न तो कहीं कठिन या अप्रचलित फारसी शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं नैसर्गिकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ कृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं। पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकनेवाला नहीं।

पिछले दिनों 'सूरसागर' का संपादन करते हुए रत्नाकर जी ने पद-प्रयोगों और विशेषत: विभक्ति-चिह्नों के सम्बन्ध में जो नियम बनाये थे वे उनके ब्रजभाषा अधिकार के स्पष्टतम सूचक हैं। भाषा पर इस प्रकार अनुशासन करने का अधिकार बहुत बड़े वैयाकरण ही प्राप्त कर सकते हैं। व्याकरण के साथ रत्नाकर जी का सम्बन्ध बहुत ही

साधारण था, तथापि उनकी वे विधियाँ बहुत अंशों में मान्य ही समझी जायँगी, और यदि किसी कारण से मान्य न भी समझी जाएँ तो भी उनसे रत्नाकर जी की वह अधिकार भावना तो प्रकट ही होती रहेगी जिसके बल पर उन्होंने वे विधियाँ बनाई हैं।

छन्दों की कारीगरी और सङ्गीतात्मकता में रत्नाकर जो की अधिकारपूर्ण कलम स्वीकार की गई है—विशेषतः इनके कवित्त बेजोड़ हुए हैं। हिन्दी और अँगरेज़ी के कवियों की भ्रान्त तुलनाएँ अधिकांश (कलाविद् शीर्षक) पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलती हैं। परन्तु भाषा-सौन्दर्य, संगीत और छन्द-संघटन में—कविता के कला पक्ष की सुघरता में—यदि रत्नाकर की तुलना अँगरेज-कवि टेनीसन से की जाय तो बहुत अंशों में उपयुक्त होगी। टेनीसन की कारीगरी भी रत्नाकर की ही भाँति विशेष पुष्ट और सङ्गीत से अनुमोदित हुई है। इन दोनों कवियों की सर्व-श्रेष्ठ विशेषता यही भाषा-चमत्कार और छन्दों की रमणीयता स्थापित करने में है। चाहे इन दोनों में भावना की मौलिकता अधिक व्यापक और उदात्त न हो, तो भी रचना-चातुरी में ये दोनों ही पारंगत हुए हैं। आधुनिक खड़ी बोली में भी कवित्त छन्द बने हैं और बन रहे हैं; परन्तु उन्हें रत्नाकर जी के कवित्तों से मिलाते ही दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। नवीन हिन्दी के कवियों को 'रत्नाकर' की यह कला वर्षों सीखने पर भी आ सकेगी या नहीं, इसमें सन्देह ही है। खड़ी बोली में 'अनूप' के कवित्त कुछ अधिक प्रौढ़ हैं; पर उनके एक सुन्दर कवित्त से 'रत्नाकर' के किसी छन्द को मिलाकर देखिए—

आदिम वसन्त का प्रभात-काल सुन्दर था
　　आशा की उषा से भूरि भासित गगन था।
दिव्य रमणीयता से भासमान रोदसी में
　　स्वच्छ समालोकित दिगंगना सदन था॥
उच्छल तरङ्गों से तरङ्गित पयोनिधि था
　　सारा व्योम मण्डल समुज्वल अघन था।
आईं तुम दाहिने अमृत बाएँ कालकूट
　　आगे था मदन पीछे त्रिविध पवन था॥

(अनूप)

कान्ह हूँ सौं आन ही विधान करिबै कौं ब्रह्म
मधुपुरियानि की चपल कँखियाँ चहै।
कहै रतनाकर हँसैं कै कहो रोवैं अब
गगन अथाह थाह लेन मखियाँ चहैं॥
अगुन सगुन फन्द बन्द निरवारन कौं
धारन कौं न्याय की नुकीली नखियाँ चहै।
मोर-पँखियाँ कौ मोरवारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं॥
(रत्नाकर)

प्रथम कवित्त में वह असाधारण दृढ़ता है जो खड़ी बोली के कम कवित्तों में मिलेगी, पर उस अन्तरङ्ग गहन सङ्गीत की ध्वनि नहीं जो दूसरे कवित्त से पद-पद पर प्रकट हो रही है—यह केवल शब्द-सौन्दर्य की बात नहीं है। छन्द के घटन-जन्य सौन्दर्य की, पंक्ति-पंक्ति को एक से दूसरी की सन्निधि की, और उस सन्निधि में सन्निहित सङ्गीत की बात है। यहाँ रत्नाकर की ब्रजभाषा और नवीन खड़ी बोली का भेद बहुत कुछ प्रकट हो जाता है। यही उस पुरानी पच्चीकारी की बात है; जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। नवीन प्रासाद-निर्माण के कार्य में और इस मीनाकारी में जो अन्तर है, वह यहाँ थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो जाता है। खड़ी बोली के कवित्त में कलम पकड़ते ही लिख-चलने का सुभीता है। पर ब्रजभाषा के कवित्त के लिए रियाज़ और तैयारी चाहिए। इसी कारण इन दिनों खड़ी बोली में भावना का अधिक सत्य रूप और ब्रज में अधिक अलंकृत रूप उतरने की आशा की जाती है।

रत्नाकर जी के छन्दों की चर्चा करते हुए हमने उनकी जिस रचना-चातुरी की प्रशंसा की वह काव्य का चरम लाभ नहीं है; वह तो कवियों की वह श्रमलभ्य कला है जिसकी सहायता से वे अद्वितीय चमत्कार की सृष्टि करके सुख-संचार करते हैं। बहुधा प्रथम श्रेणी के जगद्विख्यात कवियों में यह कला कम देखी जाती है और मध्यम श्रेणी के सौन्दर्यप्रिय कवि उन अवसरों पर इसका अधिक प्रयोग करते हैं, जब उन्हें वास्तविक काव्य-भावना के अभाव की पूर्ति करनी होती है। इस अनमोल उपाय से कविगण अपना उत्कर्ष-साधन करते हैं। अँगरेज़ी कवियों में टेनीसन ने इसी की सहायता से अपनी मर्यादा भाषा के श्रेष्ठ कवियों के समकक्ष स्थापित की थी। उसमें चासर और कोलरिज की-सी स्वच्छ रचना की मौलिक शक्ति नहीं, स्पेंसर का-सा बहुत भारी और

व्यापक विषय का ग्रहण-सामर्थ्य नहीं। शेक्सपियर की सहज विश्वजनीनता नहीं, न वह उत्थान, न वह विस्तार, न वह सर्व-गुणसम्पन्नता ही है। मिल्टन का गम्भीर स्वर भी उसे नहीं मिला, न वर्ड्सवर्थ की आध्यात्मिक प्रकृति-प्रियता, न शेली की आधिदैविक भावना, न कीट्स का स्वच्छन्द सरस प्रवाह। फिर भी टेनीसन काव्य-कला के आश्चर्य-प्रदर्शन के द्वारा शेक्सपियर को छोड़कर शेष सब के समकक्ष आसन पाने का अधिकारी हुआ है। हम देखते हैं कि रत्नाकर में भी काव्य-कला का वही प्रदर्शन सर्वत्र नहीं, तो कम से कम कवित्तों में अवश्य दृष्टिगोचर है। इनकी अधिकांश भावना भक्तों से ली हुई है। परन्तु भक्तों में इनकी तरह कविता-रीति नहीं थी। वे तो स्वच्छन्द भावनावान् कवि थे। उनके उपरान्त जो रीति-कवि हुए उनमें अनुभूति की कमी और भाषा-शृङ्गार अधिक हो गया। इस कवि-परम्परा में पद्माकर अन्यतम समझे जाते हैं और रत्नाकर जी इस विषय में अपने को पद्माकर से प्रभावित मानते थे। तथापि 'उद्धव-शतक' में उनकी कविता अलंकार-बहुल होती हुई भी भक्ति-भावापन्न हुई है और 'गंगावतरण' में प्रबन्ध का विचार पद्माकर के 'रामरसायन' से अधिक प्रौढ़ है। भक्तों की अपेक्षा रत्नाकर कम रसमय किन्तु अधिक सूक्तिप्रिय हैं। रीति-कवियों की अपेक्षा वे साधारणतः अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी हैं। हम कह सकते हैं कि भक्तों और शृंगारियों के बीच की कड़ी रत्नाकर के रूप में प्रकट हुई थी। उनकी रचना में उनका नया अभ्यास, नया प्रबंध-कौशल, और नए बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व भी दिखाई देता है।

———

श्री मैथिलीशरण गुप्त

श्री मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक हिन्दी का प्रथम कृती कवि कहना चाहिए। यहाँ हम काव्य-साधना की बात कह रहे हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सालाना गद्दियों के लिए जो साधनाएँ की जाती हैं, यहाँ उन पर विचार नहीं किया जा रहा है। इस प्रसङ्ग में हम उस साधना का उल्लेख कर रहे हैं, जो हिन्दी की मरु-भूमि में अन्तःसलिला की भाँति बहती, शुष्क जीवन को प्रसन्न बनाती है। यह साधना कोरी भावुकता के बल पर नहीं जीती, यह एक प्रकार का कर्मयोग है जिसमें भावना का मणिकांचन मेल मिला रहता है। यह जीवन का अन्तर्मुखी प्रवाह है जो संसार की आँखों के ओट ही रहना चाहता है। डाक्टर सुहरावर्दी ने बंगाल के मुसलमानों को सचेत करते हुए कहा था कि यहाँ के हिन्दू रात-रात भर सरस्वती की आराधना करके बड़े हुए हैं, तुम्हारी तरह सो-सोकर नहीं। यहाँ हम जिस साधना का उल्लेख कर रहे हैं वह ऐसी ही है। मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नयी काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी-समाज को अभिसिंचित किया है। उनकी भाषा-सम्बन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियों में व्याप्त देख पड़ती है जैसा कि उनके पहले के आधुनिक किसी कवि में नहीं देख पड़ती। एक चेतन काव्यात्मक अनुभूति के प्रकाश में उनकी रचनाएँ चमक रही हैं। गुप्तजी को इस युग का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। प्रतिनिधित्व के लिए हम विशेष आग्रह नहीं करेंगे क्योंकि स्वयम् महात्मा गाँधी के प्रतिनिधित्व में शङ्का प्रकट की जाती है। परन्तु युग के विकासोन्मुख जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहनाकर नयनाभिराम बना देने के कारण इस युग में गुप्तजी जन-समाज के प्रथम कृती कवि कहे जायँगे।

गुप्तजी खद्दर पहनते हैं और स्वदेशी चाल-ढाल में रहते हैं। वे विनीत और मितभाषी हैं। काशी नागरी-प्रचारणी सभा की साहित्य-परिषद् बैठी थी। उपस्थित

महिलाओं ने बाबू श्यामसुन्दरदास को सूचना दी कि वे मैथिलीशरण जी का आशीर्वचन सुनना चाहती हैं। बाबू साहब के बहुत कहने से वे अपनी जगह से उठकर महिलाओं के पास गये पर उन्होंने वहाँ कोई आशीर्वाद नहीं दिया। गये और लौट आये। यह उनकी प्रकृति की बात है, जो ध्यान देने योग्य है। वे जब अपने भाई सियाराम-शरण जी के साथ बातें करते हैं तो सदैव अपने घर की भाषा में। सरलता की वैसी झलक हमने हिन्दी के किसी कवि में नहीं देखी। 'निराला' जी की सरलता दूसरे प्रकार की है। उसमें हम इतना संकोच, इतनी भावुकता और विनय नहीं पाते। इतनी ऐकान्तिकता और आदर्शवादिता उनमें नहीं है।

इससे उनकी काव्य-साधना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सरल अभिव्यक्ति उनकी सबसे प्रथम और सबसे प्रधान विशेषता है। यही उस व्यापक प्रभाव का उद्‌गम है जो गुप्तजी की काव्यधारा में सर्वत्र देख पड़ता है, यह कविता को लोकसामान्य भाव-भूमि में लाकर प्रतिष्ठित करने का सब से बड़ा साधन है। यही सरलता सारग्रहण में सब से अधिक समर्थ होती है, इसी केन्द्र से महती शक्ति की सृष्टि होती है और नवीन काव्य-युगों का निर्माण होता है। गुप्तजी जितना प्राच्य साहित्य से, प्राचीन गाथाओं से प्रभावित हुए हैं, उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीर-पूजा का भाव उनमें स्वतःप्रसूत है। उन्होंने प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बनाकर प्रस्तुत किया।

सारग्राही सरलता के साथ साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता में औदात्त्य उतना नहीं जितना एक भावुकतामय नैतिकता। गुप्तजी का प्रारंभ से ही—'क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता' मत रहा है और उनकी समस्त रचनाएँ इस बात की साक्षिणी भी हैं? उनकी यह आदर्शवादिता, हम समझते हैं, बहुत कुछ वर्तमान कृतिशील जीवन का स्वाभाविक परिणाम है और उनके पारिवारिक वातावरण के फलस्वरूप है। स्वामी दयानन्द आदि की प्रेरणा से एक प्रकार के बुद्धि-जन्य आदर्शवाद की सृष्टि हुई थी। यही प्रेरणा समाज में प्रविष्ट होकर, आगे चलकर, थोड़ी बहुत कृत्रिम हो गई। इसी से कभी-कभी साम्प्रदायिक झगड़े भी होने लगे। हिन्दी के इस युग में इस शुष्क आदर्शवाद के चिह्न रूखी-सूखी कविताओं और सांप्रदायिक कहानियों में देख पड़े थे, परन्तु गुप्तजी के सरल भावनामय हृदय के साथ मिलकर बहुत-सी कटुता दूर हो गई। 'भारत-भारती' का काव्य-प्रवाह, स्वामी दयानन्द के

अनुयायियों की बहुत-सी दलीलों के ऊपर पहुँचकर उसे अधिक लोक-सामान्य बनाता है। गुप्तजी की संवेदनशील आदर्शवादिता कितनी प्रभावशालिनी है यह 'भारत-भारती' का प्रचार देखकर समझा जा सकता है।

गुप्तजी की आदर्शवादिता के साथ उपदेशक वृत्ति भी उनकी रचनाओं में आदि से अंत तक देखी जाती है। 'भारत-भारती', 'हिन्दू' और गुरुकुल उपदेश विशिष्ट काव्य हैं। 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'त्रिपथगा' आदि में जीवन-व्यापी रूप में आदर्श चित्र आये हैं, उनमें उपदेश काव्य सीमा को लाँघकर ऊपर नहीं आये। गुप्तजी का शृङ्गार अत्यन्त संयमित, उनकी नायिकाएँ प्रायः करुण मुख-श्री-समन्वित हुई हैं। भारत ने बहुत दिनों से, प्रशस्त-प्रेम को कर्तव्य के भार मे दबा दिया है, विशेषतः गुप्तजी के युग में तो पारिवारिक मधुर सम्बन्ध भी विशेष शुष्क से हो गये दीखते थे। गुप्तजी की रचनाएँ युगधर्म के अनुकूल हुई हैं। उनकी 'सीता' ('पञ्चवटी') मानो वर्तमान नागरिक-जीवन की कर्कशता से खिन्न होकर कानन-वासिनी हुई हैं, उनके 'लक्ष्मण' भी एकान्त-जीवन के प्रशंसक और अनुयायी हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि गुप्तजी के आदर्शवाद का उद्गम सामयिक परिस्थिति से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त गुप्तजी ने एक तीसरी प्रणाली का आश्रय भी लिया है। वह तीसरी प्रणाली अनुवादों की है।

हम यह कह चुके हैं कि 'जयद्रथ-वध', 'पञ्चवटी' आदि रचनाओं में गुप्तजी का आदर्शवाद काव्य-प्रवाह के भीतर की वस्तु है, वहाँ यह अतिशय सरस देख पड़ता है। 'गुरुकुल', 'हिन्दू' आदि में उतनी सरसता नहीं; क्योंकि उनमें भावना को काव्य का परिच्छद नहीं दिया जा सका। वहाँ कवि-जीवन की सम्पूर्ण ज्योति काव्य-जीवन को नहीं मिलती। गुप्तजी के कवि-हृदय में इसकी प्रतिक्रिया होती है और वे अनुवादों की शरण लेते हैं। 'विरहिणी ब्रजाङ्गना', 'वीराङ्गना', 'मेघनादवध' आदि उनके अनुवाद-ग्रन्थ इस सत्य के साक्षी हैं। परन्तु गुप्तजी की काव्य-साधना से यथार्थतः परिचित होने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि एक ओर 'भारत-भारती', 'हिन्दू' आदि और दूसरी ओर 'वीराङ्गना', 'ब्रजाङ्गना' आदि उनकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं। 'पञ्चवटी', 'जयद्रथवध', 'यशोधरा' आदि का मध्यमार्ग ही उनकी काव्यसाधना का यथार्थ पथ है।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर के हिन्दी अध्यापक श्री सूर्यकान्त शास्त्री एम० ए० अपनी 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नाम की पुस्तक में गुप्तजी के सम्बन्ध में काफ़ी लम्बी चर्चा करते हैं, पर हिन्दी की सनातन-प्रथा के अनुसार

वे भी उनकी दो-चार भिन्न-भिन्न कृतियों का अलग-अलग उल्लेख कर चुप हो रहते हैं। इस तरीके से कवि के मस्तिष्क और कला के क्रम-विकास का कुछ भी पता नहीं लग सकता। शास्त्री जी ने 'भारत-भारती', 'जयद्रथवध', 'मेघनादवध' और 'विरहिणी व्रजाङ्गना' के अध्ययन से ही काम निकाला है और वह अध्ययन भी किसी संश्लिष्ट रूप से नहीं किया। यद्यपि शास्त्री जी की मुद्रा गम्भीर है पर उनका विवेचन साधारण कोटि का है। उदाहरण के लिए शास्त्री जी 'भारत-भारती' के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—

"इसमें वर्णन की गई भारत की प्राचीनदशा को पढ़ पाठक औज्ज्वल्य और अभिमान के कलधौत शिखर पर चढ़ जाता है। परन्तु वहाँ पहुँच जब वह अपनी वर्तमान पतित दशा पर दृष्टिपात करता है तब शोक तथा विस्मय से स्तिमित हो नैराश्य के गम्भीर गर्त्त में गिर पड़ता है।"

फिर उसके बाद आप कहते हैं—

"विश्वजनीन और विश्वयुगीन कविताओं के साथ 'भारत-भारती' की तुलना करना अदूरदर्शिता है। वह तो युग-विशेष के लिए निर्मित हुई थी, उस युग का काम उसने पूरा कर दिया। अब वह युग नहीं रहा है इसलिए उसका व्याख्यान करनेवाली कविता भी अनावश्यक हो गई है।"

जिस काव्य को इतना प्रभावपूर्ण आपने ऊपर कहा है, उसी के लिए कहते हैं कि उसकी आवश्यकता नहीं रही। क्या ये दोनों निष्कर्ष परस्पर विरोधी नहीं?

'जयद्रथवध' के सम्बन्ध में आप केवल यह कह कर चुप हो रहते हैं—"काव्य-कला की दृष्टि से भारत-भारती की अपेक्षा इसे अच्छा बताया गया है।"

इसी सिलसिले में 'मेघनादवध' पर लिखते हुए आपने महाकवि रवीन्द्रनाथ का नीचे लिखा बड़ा लम्बा उद्धरण दिया है—

"मेघनादवध काव्य की केवल छन्द-रचना और रचना प्रणाली में ही नहीं किन्तु उसके आन्तरिक भाव के अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन अपने को भूला हुआ नहीं है। इसमें एक प्रकार का विद्रोह है। यहाँ कवि ने तुकबन्दी की बेड़ी को तोड़ डाला है और बहुत दिनों से रामायण के विषय में जो हमारे दिल के अन्दर एक भावशृङ्खला चली आ रही थी, कवि ने उसके

बन्धन को भी उद्दंडता के साथ तोड़ डाला है। इस काव्य में राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और इन्द्रजीत का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। जो धर्मभीरुता हमेशा कौन-सी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी बुरी है, इसी का एकमात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्मसंयम इस कवि के हृदय को आकृष्ट नहीं कर सके हैं।"

इसके आगे भी बहुत कुछ कह चुकने के बाद इसकी कोई सार्थकता नहीं प्रकट की जा सकी। जो ईसाई-कवि पश्चिमीय संस्कृति के रङ्ग में सराबोर था, उसका विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य सभ्यता के विशेषज्ञ रवि बाबू जो कुछ कहते हैं वह सब हिन्दू-उत्कर्ष के हामी, 'भारत-भारती' के रचयिता रामोपासक मैथिलीशरण जी के सम्बन्ध में कही जा सकती है या नहीं, इस पर शास्त्री जी ने विचार नहीं किया। हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषी जनता के किस भावप्रवाह की लहरी 'मेघनादवध' में तरलित हो उठी है, इसकी कोई खोज नहीं की गई। अन्त में 'विरहिणी व्रजाङ्गना' के अनुवादक की भाषा की प्रशंसा करके शास्त्री जी ने गुप्त जी की चर्चा समाप्त कर दी है।

वास्तविक बात यह है कि 'भारत-भारती' की रचना पूर्ण आर्यसमाजी प्रभाव के अन्दर हुई है। स्वामी दयानन्द ने ईसाई पादरियों और मुस्लिम मौलवियों का मुँह बन्द करने के लिए जिस दलीलपसन्द वेदवाद की सृष्टि की थी उसने व्यापक हिन्दुत्व को भी बहुत कुछ घेर और जकड़ दिया। सत्यार्थप्रकाश में अपाठ्य ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें महात्मा तुलसीदास का रामचरितमानस भी सम्मिलित है। जैसी काव्य-भावना इस तर्क-प्रधान वातावरण में विकसित हो सकती थी वैसी ही गुप्त जी में भी विकसित हुई। आर्यसमाज ने भारतीय अद्वैतवाद का भी विरोध किया जिसका स्पष्ट अर्थ आत्मविकास के आदर्श को कुण्ठित कर देना था। 'भारत-भारती' में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना। मैथिलीशरण जी के हिन्दू-संस्कार आर्यसमाज के दायरे में ही दृढ़ हो रहे थे। तथापि कवि की उज्ज्वल, अभेदकारी ज्योति भी दबी न रह सकी। 'जयद्रथवध' में उसकी आभा अच्छी निखरी है। वीर-पूजा की निर्विकल्प भावना 'अभिमन्यु' के चरित्र में खिल पड़ी है। 'जयद्रथवध' के मूल में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष 'भारत-भारती' से किसी क़दर कम नहीं है; अधिक ही है। नवयुवक वीर अभिमन्यु राष्ट्रीय यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति चढ़ा देता है। माता और पत्नी का अनुराग उसके मार्ग में बाधक नहीं होता, वह दृढ़ता से, किन्तु संयम से उसकी अवहेलना करता है। सप्तरथियों के दुर्भेद्य चक्र की परवाह उसे नहीं और शस्त्रों के कट जाने पर

भी—निश्शस्त्र होकर भी वह बहादुरी के साथ उनका सामना करता है। परन्तु आततायियों का जमघट शस्त्रबल से और (द्रोणाचार्य के) शास्त्रबल से भी, न्याययुद्ध की परिपाटी को तोड़कर उस वीर का संहार कर डालता है। क्या यही हमारी वर्तमान परिस्थिति नहीं ?

'मेघनादवध' के अनुवाद की प्रेरणा गुप्त जी को यूरोप से नहीं मिली, वह भारतीय वात्याचक्र से ही उठी है। मधुसूदन दत्त की तरह गुप्त जी असुर-भावना के भक्त नहीं हैं, वे उसके प्रशंसक भी नहीं हैं। गुप्त जी उद्दाम शक्ति की ताण्डव-लीला देखने के इच्छुक नहीं हैं। वे भारत के एक रामभक्त ग्रामीण हैं, विराट् आसुर चित्रों में उनकी वृत्ति नहीं रमती। वे अपनी सीता को आश्रमवासिनी बनाते हैं, जो पंचवटी की छाया में पशु-पक्षियों को आश्रय देती है, आहार देती है। लक्ष्मण भी संस्कृत के धीरोदात्त नायकों की परवाह न कर सरल, संयमशील जीवन को ही अपनाते हैं ? उनकी एक अभिलाषा देखिए—

—इच्छा होती है स्वजनों को एक बार वन में लाऊँ
और यहाँ की अनुपम महिमा उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ

दूसरे स्थान पर कहते हैं—

नहीं जानतीं हाय हमारी माताएँ आमोद-प्रमोद
मिली हमें है कितनी कोमल कितनी बड़ी प्रकृति की गोद !
इसी खेल को कहते हैं यदि विद्वज्जन जीवन-संग्राम
तो इसमें सुनाम कर लेना है कितना साधारण काम ?

यही उस सरल, सुस्पष्ट मानवीय भावनावाद का उद्गम है जिससे यूरोप के Romantic movement का प्रवाह उमड़ा था। युगों की ऐश्वर्यैषणा समन्वित महत् चित्रों से विरक्ति होने लगी है, राजाओं-महाराजाओं के युद्ध-विग्रह अच्छे नहीं लग रहे। वर्ड्सवर्थ आदि का Alice Fell, High land Reaper आदि सामान्य और सामाजिक अर्थ में हीन पात्रों की ओर आकर्षण, सरल अकृत्रिम भाषा और भाव की ओर हमारे कवियों की भी रुचि रही है। गुप्त जी के पात्र संस्कृत परिपाटी के भले ही हों पर उनके क्रियाकलाप सर्वथा मानवीय धरातल पर होते हैं। 'मेघनादवध' में भी इसी प्राचीन अलौकिकता के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा है और गुप्त जी के काव्य में भी। बस इतने अंश में इन दोनों का भावसाम्य है।

यूरोप में जैसे-जैसे नवीन युग का प्रकोप बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे नैतिक नियम उदार (!) होते जा रहे हैं। सच्चरित्र और दुश्चरित्र नाम के शब्द, जान पड़ता है

यूरोप के शब्दकोष से उठे जा रहे हैं। अब तो हमारे देश में भी इन्हीं उदार भावनाओं का प्रसार होने लगा है। कहा जाता है कि morality (सदाचार) का निर्णय बँधी हुई सामाजिक परम्पराओं के द्वारा नहीं किया जा सकता, उसकी जाँच व्यक्ति की परिस्थिति की परख से की जा सकती है। काव्य में यह वस्तु एक प्रकार से अनावश्यक बनी जा रही है। कहा जाता है कि व्यक्ति का इतना विकास हो गया है कि वह समाज की शृङ्खला को, उसकी रीति-नीति को जब चाहे तोड़ सकता है, यह व्यक्तिवाद की प्रखर धारा सामाजिक उपकूलों को डुबोकर, उमड़कर बहना चाहती है। भारत में भी उसकी बाढ़ आ रही है। यह हमारे समस्त दृढ़मूल संस्कारों को उखाड़ फेंकने की फिक्र कर रही है। यह भी वर्तमान युग की निराशा लहर का ही एक स्रोत है जिससे हमें सावधान रहना होगा।

यूरोप की बात यूरोप जाने, हम कभी भी समाज की आचार-मान्यता की अवहेलना नहीं कर सकते। समाज की शक्ति ही समष्टि की शक्ति है, सामाजिक रीति-नीति, संस्कार, सदाचार सब इसी के अन्दर आते हैं। इस विषय में यूरोप की नवीन विचारधारा हमारे यहाँ से मेल नहीं खा सकती। हमारे यहाँ आत्मा को सर्वशक्तिमान् माना गया है जिसे संसार की कोई भी परिस्थिति आक्रान्त नहीं कर सकती। यह आचार की दृढ़ भित्ति है। यूरोप का परिस्थितिवाद हीन और ह्रासोन्मुख सामाजिक अवस्था का परिचायक है। विशेषकर जब हम देखते हैं कि रूस जैसे उन्नतिगामी-देश के साहित्यिक भी उच्च चारित्र्य का निर्वाह अपने साहित्य में नहीं करते तब हमें और भी आश्चर्य होता है। निश्चय ही गुप्त जी के साहित्य में वास्तविक उच्च कोटि का चारित्र्य उस श्रेणी का नहीं है जैसा रामचरितमानस आदि में है, किन्तु एक नैतिक मर्यादा और तज्जन्य आदर्शवाद उनमें अवश्य है। यूरोप का व्यक्ति-स्वातंत्र्य व्यक्ति को आसमान पर चढ़ा सकता है परन्तु हमारी प्रगति और हमारा विकास हमें नित्यप्रति नतशिर ही करते हैं। यूरोप का अतीत जंगली और असभ्य निवासियों का इतिहास है, इसलिए स्वभावतः वह उस आधार को ग्रहण नहीं करना चाहता; हमारी बात दूसरी है। हमारे यहाँ तो ज्ञान से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। हमारे वेद दिव्यज्ञान की लिखित प्रतिकृति हैं, हमारा समाज आदि से ही ऋषियों और ज्ञानियों का समाज रहा है। हमारे कवि सदा से इस दिव्य-भावना का साक्षात्कार करते आये हैं और तन्मय होते आए हैं। एक दफ़े काशी विश्वविद्यालय के सुकवि-समाज में भाषण देते हुए 'निराला' जी ने दैवी और आसुरी साधनाओं का बड़ा ही मनोरम विश्लेषण किया था। तुलसीदास जी

की साधना सम्पूर्णतः दैवी है। उनकी भावना का स्तर पूर्ण सात्त्विक है और आसुर भाव का वहाँ कहीं नाम भी नहीं है। सीता जी के शृङ्गार-वर्णन से लेकर उत्तर-काण्ड के ज्ञानदीपक तक सर्वत्र सत्त्व ज्योति ही देख पड़ती है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की सार्थकता उज्ज्वल ज्योति को प्रखर करने में ही है।

मनियत सबै राम के नाते सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

× × ×

सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि युग पानी।

रावण, मेघनाद आदि पात्रों की परिणति राम में ही है। गुप्त जी में उतना उच्च अध्यात्म नहीं है, उसके स्थान पर नैतिक दृष्टि है।

तुलसीदास और मैथिलीशरण की तुलना करने पर आध्यात्मिक या दैवी परिधि और नैतिक मानवीय परिधि का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। पञ्चवटी-प्रसङ्ग को लेकर देखें। सूर्पणखा रुचिर रूप धारण कर राम-लक्ष्मण को मोहने आई है। इस पर तुलसीदास की तीव्र प्रतिक्रिया देखिए—

अधम निशाचरि कुटिल अति चली करन उपहास,
सुनु खगेश भावी प्रबल भा चह निशिचर नाश।

और इसके बाद शीघ्र ही—

"लक्ष्मण अति लाघव तिहि नाक-कान बिनु कीन्ह"

परन्तु मैथिलीशरण जी इस प्रसङ्ग में सूर्पणखा के प्रति अधिक सहानुभूति दिखाते हैं, लक्ष्मण और राम को उससे अधिक देर बातें करने का मौक़ा देते हैं। उसकी सुन्दरता का अधिक बखान किया गया है। सीता जी तो उसे अपनी देवरानी बनाने को तैयार हो जाती है। पारिवारिक मनोविनोद की सात्त्विक आभा बीच-बीच में फूट निकली है। मैथिलीशरण जी का यह विवरण कुछ काव्य-प्रेमियों को अधिक रुचिकर भी हो सकता है, परन्तु अन्त में यह कहना ही पड़ेगा कि महात्मा तुलसी की साधना दूसरे प्रकार की और गुप्त जी की दूसरे प्रकार की है।

तुलसीदास राम-वनवास में लक्ष्मण को निरन्तर मौन रखते है। मौन के भीतर ही उनके चरित्र का विकास होता है और यह विकास बहुत ऊँचे दर्जे का है। मैथिलीशरण जी के लक्ष्मण कहने को तो मौन है, पर आपसे आप काफ़ी बातचीत करते हैं। इस बातचीत के फलस्वरूप उनका चरित्र जैसा निखरा है उसे पाठक अधिक रुचिकर कह सकते हैं पर अधिक उदात्त तो नही कह सकते।

तुलसीदास के राम और सीता कभी भी लक्ष्मण से विनोद नहीं करते पर मैथिलीशरण जी की 'पञ्चवटी' में बराबर मनोविनोद और हास्य आदि के स्थल आये हैं। इससे और कुछ नहीं सिद्ध होता, केवल इतना ही सिद्ध होता है कि गुप्त जी की काव्य-धारा मानवीय उपकूलों के अधिक पास से बह रही है।

रावण और मेघनाद की तामसी शक्ति ही नहीं, हनूमान भी तुलसीदास की निगाह में प्रभु-प्रताप के ही परिणाम हैं। सब का उद्गम एक है। तुलसीदास की यह अद्वैत भावना लोगों की समझ में कम आती है। क्योंकि काव्य-प्रवाह के बीच उसका अप्रत्यक्ष रूप ही देखा जा सकता है। मैथिलीशरण जी के अनेक पात्र अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। इसका कारण यह है कि तुलसी की वृत्तियाँ जितनी संयमित और समाहित हैं मैथिलीशरण जी की उतनी नहीं। यह परिवर्तन साहित्य और संस्कृति के विकास में आवश्यक हो गया था। दो युगों की पृथक्-पृथक् छाया हम दोनों में देखते हैं।

जिस अविरत साधना का अभिनव सौन्दर्य गोस्वामी जी के 'मानस' में शतदल, सहस्रदल होकर खिल उठा है, कालचक्र में पड़कर उसका ह्रास हो गया। आध्यात्मिक शक्तिपूर्ण पवित्र आदर्श एक निर्जीव निस्सार धर्माभास में परिणत हो गया। शृङ्गार-काव्य के सहेट स्थानों की भाँति भक्ति-संप्रदायों के अनेक ऐकान्तिक लोकों की सृष्टि हुई और शृंगारिक नायिकाओं की स्पर्द्धा में शतशः दिव्य नायिकाओं का निर्माण हुआ; जिनका आभास भक्ति-काल की 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि आलङ्कारिक और रीतिबद्ध रचनाओं में मिलता है। इसी प्रकार असामान्यता का अर्थ आरम्भ में उच्च सदाचार-पूर्ण धीरोदात्त आदि नायकों का चित्रण रहा होगा पर आगे चलकर उसने ऊँचे घरानों के और समाज के संरक्षक समझे जानेवाले राजा-महाराजाओं के, वर्णन का रूप धारण कर लिया, जिसके कारण कविता में ह्रासोन्मुख सामंतवाद की मिथ्या रूढ़ियों और अनुभूतिहीन शब्दाडंबर का काफ़ी प्रचार हुआ। यूरोप में भी इसी कृत्रिमता की वृद्धि होती रही और अन्त में वह प्राचीन Classic काव्यसाहित्य के पतन का कारण हुई। वह कृत्रिमता रूढ़ियों के चक्र में पड़कर प्रगतिशील मनुष्य-जीवन से इतनी भिन्न हो गई और दूर जा पड़ी थी कि मनुष्य उसे बहुत दिनों तक सहन नहीं कर सका। उसी के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई उससे यूरोप के Romantic आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस आन्दोलन ने काव्य की कृत्रिम असामान्यता दूर कर दी और उसके स्थान में लोकसामान्य भाषा और लोक-सामान्य भावों की सृष्टि की। भारतीय काव्य-साहित्य में भगवान् कृष्ण के असामान्य व्यक्तित्व की आड़ में एक और आलंकारिक और पिष्टपेषित भक्ति

जो अपनी सांस्कृतिक उपयोगिता खो चुकी थी और दूसरी ओर अनर्गल किन्तु दुर्बल शृंगार का प्रवाह बहता रहा। हिन्दी के शृंगार-काल का हाल कौन नहीं जानता? मैथिलीशरणजी ने पहले-पहल इस अवनत स्तर से कविता को ऊपर उठाने का उपक्रम किया। यही साधना उन्हें जन समाज का कवि बनाने में समर्थ हुई। गुप्त जी 'हिन्दू' की भूमिका में एक स्थान पर कुछ क्षुब्ध से होकर कहते हैं 'हाय! लेखक कहीं जन-साधारण का ही कवि हो सकता! परन्तु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका।' हम गुप्तजी को यह विश्वास दिलाते हैं कि जन-साधारण का कवि होना ही प्रतिभा का सब से बड़ा प्रसाद है और उस प्रसाद की प्राप्ति के लिए आपने जो साधना की है वह हिन्दी के इतिहास में आपका नाम अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। नीचे के कुछ चित्र कितने सामान्य किन्तु हमारे प्राणों के कितने सन्निकट हैं—

बैठी बहन के स्कन्ध पर रक्खे हुए निज वाम कर
कुल-दीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ
थी तोतली वाणी अहा, उसने मधुर स्वर से कहा
'मालू अचुल को मैं अभी वह है कहाँ'

  

संचित किए रक्खे हुए, शुक वृन्द के चक्खे हुए
कुछ बेर जो थे दीन शबरी के दिये
खाकर जिन्होंने प्रीति से, शुभ मुक्ति दी भवभीति से
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये

(त्रिपथगा)

इसी पुस्तक में उस ब्राह्मण के घर का वर्णन आया है जिसके यहाँ पाण्डव बन-वासी अतिथि बनकर पहुँचे थे। ऐसा शान्त, सरल, पवित्र वातावरण का घर हिन्दी के नवयुगीन आदर्शवाद के ही अनुकूल है।

कुछ लोग हिन्दी कविता में छायावाद के अवतरण से नवीन युग का श्रीगणेश मानते हैं। गीत-काव्य की छटा वास्तव में अभी-अभी देख पड़ी है पर जहाँ तक नवीन भावनाओं का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि गुप्त जी के अन्तःकरण में उसकी आभा सब से पहले जगी थी। अंगरेज़ी में भी वर्ड्सवर्थ और शेली आदि नवीन काव्यधारा के संचालक माने जाते थे पर हाल के आलोचकों ने वह श्रेय उनके पूर्व के कुछ कवियों को

दिया है; जिसे सामान्य मानवता कहते हैं और जो यूरोप के रोमैण्टिक काव्य-प्रवाह का उद्गम है उसकी आरम्भिक व्यञ्जना गुप्त जी ने ही इस युग की हिन्दी में सर्वप्रथम की—

यही होता हे जगदाधार !
छोटा-सा घर आँगन होता इतना ही परिवार।
कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम।
होता नही भले ही तू भी रहता केवल नाम।
गाता हुआ गीत ऐसे ही रहता मैं स्वच्छन्द,
तू भी जिन्हें स्वर्ग में सुनकर पाता परमानन्द।
होते यन्त्र न तन्त्र और ये आयुध यान अपार।
होता नहीं क्रान्ति कोलाहल शान्ति खेलती आप।
जैसा आता बस वैसा ही जाता मैं चुपचाप।
स्वजनों में ही चर्चा छिड़ती सो भी दिन दो-चार।
यही होता हे जगदाधार !

यह हिन्दी के नवयुग की भावना ठीक वैसी ही है जैसी अँगरेज़ी में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति और यांत्रिक सभ्यता के प्रवेश-काल में उठी थी।

मैथिलीशरणजी की काव्यसाधना बिलकुल स्वदेशी ढंग की है। उसका मेल महाकवि रवीन्द्रनाथ से नहीं मिलता। रवि बाबू का भावना-प्रवाह उन्मुक्त होकर दिग्दिगंत में प्रसरित होता है। उनका मस्तक अपनी साधना से उन्नत, अपने गौरव से दीप्तिमान है। युगो के उपरान्त भारत ने ऐसा दिग्विजयी कवि प्राप्त कर अपने को धन्य माना है। यूरोप में रवि बाबू का आतङ्क पूर्व के मध्याह्न-सूर्य की भाँति छाया रहा है। उन्होंने समुद्र-समीर में गंभीर मंगल ध्वनि सुनी है, नीलाम्बर उनकी विश्वविजयिनी कविता-कामिनी का अञ्चल-प्रान्त बनकर कृतकृत्य हुआ है। उन्होंने विश्वप्रिया की उज्ज्वल आभा में समस्त क्षुद्रता तिरोहित कर दी है, दासत्व का सम्पूर्ण कलङ्क-तिलक धो डाला है।

बेचारे मैथिलीशरण इतनी स्पर्द्धा नहीं कर सकते। उनकी साधना वैसी नहीं। वे दीन-दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान भरने की उनमें शक्ति नहीं है किन्तु राष्ट्र की ओर युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जागृति के स्मृति-चिह्न हमें हिन्दी में सर्वप्रथम गुप्तजी के काव्य में ही मिलते हैं। वे रवि बाबू की भाँति विश्व की अनंत सत्ता को कविता की ऐश्वर्यमयी साधना

का अङ्ग नहीं बना सके। वे महापुरुष की भाँति आज्ञा देकर नहीं भिक्षार्थी की भाँति आँचल पसारकर तृप्ति चाहते हैं। उनकी करुण काव्य-मूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को बड़ी ही शान्ति-दायिनी सिद्ध हुई है।

'साकेत'

'साकेत' बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त का नवीन काव्य-ग्रन्थ है। यह अनेक वर्षों के परिश्रम की रचना है। इसमें बारह सर्ग हैं, और रामायण की कथा सआदि अन्त सकलित की गई है। यद्यपि रामायणी कथा का विस्तार 'साकेत' तक ही सीमित नहीं था, वरं भारत के दाक्षिणात्य प्रदेशों तथा लङ्का तक प्रसरित था तथापि गुप्त जी ने अपना वर्णनक्रम ऐसा रखा है कि वह साकेत में ही केन्द्रित हो गई है। इस केन्द्रीकरण के फलाफल पर हम आगे विचार करेंगे। 'साकेत' में एक सर्ग भरत-मिलाप का भी है जो चित्रकूट की घटना है। 'साकेत' में यह घटना सन्निहित की गई है। इसका मार्जन इस प्रकार किया जा सकता है कि गुप्तजी की कवि-भावना भरत-मिलाप के प्रसंग से अतिशय आकृष्ट थी, जो अस्वाभाविक नहीं। यह भी संभव है कि 'साकेत' के अंगसङ्घटन के लिए गुप्तजी ने चित्रकूट-कथा को उस रूप में जोड़ना अनिवार्य समझा हो। एक बात यह भी हो सकती है कि 'साकेत' की सीमा में गुप्त जी चित्रकूट को भी सन्निविष्ट करते हों। इस विषय पर ऐतिहासिक प्रमाण देना कोई उचित नहीं समझेगा और न हम समझते हैं। 'साकेत' तो प्राक् ऐतिहासिक नगरी थी जो त्रेता तक इस धरातल में रही, तदुपरान्त स्वर्ग चली गई और उसके स्थान पर अयोध्या की सृष्टि हुई। साकेत नगरी के अतिरिक्त किसी साकेत प्रान्त की कल्पना ऐतिहासिक नहीं है अतः 'साकेत' में चित्रकूट-प्रसंग का समावेश किये जाने के फलाफल पर भी हम आगे ध्यान देंगे। 'साकेत' नामकरण के कारण उसमें समाविष्ट सम्पूर्ण कथा वर्णन-प्रधान हो गई है और घटनाएँ प्रत्यक्ष के स्थान पर परोक्ष बन गई हैं। 'साकेत' के अन्तर्गत घटनाओं की गतिशीलता के स्थान पर अनिवार्य रूप से जिस स्थिरता का प्रवेश हुआ है उसकी संगति भी हमको आगे चलकर लगानी होगी।

'साकेत' का आरम्भ रामचरित के अयोध्याकाड से किया गया है, जब विवाह के उपरान्त रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारी की जाने लगी है। बालकांड की कथा का त्याग कर देने की उपयोगिता यह है कि उसके कुछ रसमय अंश वियोगिनी उर्मिला के विरहवर्णन के उद्दीपन बनाये गये हैं। दूसरी और प्रधान उपयोगिता यह है कि कवि का

आशय आरंभ मे ही प्रकट हो जाता है कि वह रामायण की बाल-लीलाओं को छोड़कर काव्य में उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्रों को प्रमुखता देना चाहता है। आरम्भ मे ही यह सङ्केत मिलने लगता है कि 'साकेत' महाकाव्य के आवरण में प्रेम-काव्य बनना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही रामचरित का सम्पूर्ण बालकांड निकालकर प्रेमकथा का श्रीगणेश किया गया है। बालकांड के अभाव मे 'साकेत' की प्रेमकथा शिथिल न होकर अधिक संक्षिप्त और प्रभावशालिनी बन गई है। बालकांड के निराकरण मे 'साकेत' के कवि का यह आशय प्रकट है कि वह काव्य को घटना-प्रधान नहीं बनाना चाहता, वर्णन-प्रधान बनाना चाहता है। संक्षेप में कवि का आशय वर्णन-प्रधान प्रेमकाव्य लिखने का स्पष्ट है परन्तु इसके साथ ही वह पूरे रामचरित का आनुषंगिक वर्णन भी करना चाहता है। इन दोनों लक्ष्यों का समन्वय करने में कवि को सफलता नहीं मिल सकी है।

साकेत का प्रथम सर्ग लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग-वर्णन से आरम्भ होता है। यहाँ यह आभास है कि लक्ष्मण काव्य के नायक और उर्मिला नायिका है। परन्तु परवर्ती सर्गों में लक्ष्मण राम के साथ वनवासी होकर साकेत से निर्वासित हो जाते हैं, इसलिए 'साकेत' में नायक लक्ष्मण का चरित्र गौण और नायिका उर्मिला का प्रमुख बन जाता है। ऐसा होना असम्भावी तो था, पर कवि को नायक के रूप में लक्ष्मण का कुछ अधिक उत्कर्ष-साधन भी करना था। परन्तु कवि के साथ यह कठिनाई पड़ी देख पड़ती है कि वह रामभक्त होने के कारण राम को भी छोड़ नहीं सकता। कवि लक्ष्मण के लिए राम का त्याग नहीं कर सका और न रामायणी कथा का त्याग कर सका। यह बहुत कुछ कवि की व्यक्तिगत धार्मिक भावना का परिणाम जान पड़ता है, जो काव्य के अंग-सङ्घटन और चरित्र-निर्माण में बाधक हुआ है। लक्ष्मण का चरित आवश्यकता से अधिक दबा हुआ है और दूसरी ओर उर्मिला का चरित उचित से अधिक उभरा हुआ है। उर्मिला साकेत की प्रधान नायिका है। राम-वनवास के चौदह वर्षों मे साकेत का अधिकांश जीवन-स्पन्दन उर्मिला के ही प्राणों पर आश्रित है। उसके विरह-वर्णन में साकेत के दो सर्ग लगाये गए हैं, जो सर्वथा संगत है। परन्तु कुछ स्थानों पर उर्मिला का चित्रण अत्यधिक अतिरञ्जित कर दिया गया है। वह महाकाव्य की नायिका है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह प्रत्येक अपेक्षित अथवा अनपेक्षित अवसर पर सामने लाकर रखी जाय। कथा का विकास एक पात्र द्वारा ही नहीं अनेक पात्रों द्वारा होना चाहिए और नायिका को प्रमुख स्थान देते हुए भी संगति का भी ध्यान रखना चाहिए। उर्मिला की वियोग-दशा का उचित अभिव्यञ्जन उसके कर्तृत्व पक्ष के कम करने से सम्भव था;

पर दशरथ के मरण पर भी कौशल्या, सुमित्रा आदि विधवा पत्नियों से अधिक उर्मिला ही व्यथित होती और उद्गार प्रकट करती है। यह प्रत्यक्ष ही रसाभास है। इसमें उसकी विरह-वेदना की तीव्रता बहुत कुछ फीकी पड़ जाती है। एक अन्य अवसर पर जब साकेत की सेना युद्ध के लिए लंका-यात्रा करने का निश्चय करती है तब उर्मिला एक विचित्र प्रकार का उपदेश देने को सामने आती है। वह सेना को शिक्षा देने लगती है कि लंका से सोना मत लाना। यह अप्रासंगिक है। कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के धोखे उसे उचित से कुछ अधिक मुखर बना दिया है। प्रमुखता और मुखरता में भेद है; इसे सब समझ सकते हैं।

'साकेत' नाम की सार्थकता क्या है? यही कि काव्य की घटनाओं का केन्द्र साकेत है। पर साकेत के साथ कवि की कोई विशेष घनिष्ठ प्रीति नहीं लक्षित होती। साकेत के नर-नारियों से कवि को कुछ अधिक मतलब नहीं जान पड़ता; अन्यथा राम के वनवास के अवसर पर उन्हें भी अपने मनोभाव व्यक्त करने का कुछ अवसर दिया जाता। यदि इतनी उदारता न भी की जाती तो कम-से-कम उर्मिला के विरह-वर्णन में ही उसके लिए कोई विधि सोची जाती। परन्तु उर्मिला के चौदह वर्ष एक एकान्त उपवन में व्यतीत होते हैं अथवा सरयू के किनारे। साकेत के नर-नारियों तक उर्मिला की विरह-वेदना नहीं पहुँचती। यह न तो उर्मिला के पक्ष में उपयुक्त है न साकेत-वासियों के पक्ष में। मैथिलीशरण जी के साकेत को केवल एक सूक्ष्म केन्द्र-बिन्दु माना है और घटनाओं की परिधि उस बिन्दु से खींची है। इस प्रकार साकेत केवल काव्य के बाह्य सङ्गठन में सहायक है। यदि उससे कवि की किसी अन्तर्वृत्ति का सम्बन्ध होता तो साकेत का अर्थ केवल दशरथ का राज-परिवार अथवा सरयू की धारा ही न होता, उसे कवि की कुछ अधिक व्यापक अनुभूतियाँ प्राप्त होतीं।

तथापि साकेत-काव्य में रामायण की कथा जिस सतर्कता अथवा स्वाभाविकता से सजाई गई है उसके लिए कवि की प्रशंसा की जानी चाहिए। कई स्थानों में कथा के तार बड़ी बारीकी से जोड़े गये हैं। उर्मिला के विरह-वर्णन में उद्दीपन बनकर बालकाण्ड की जो कथा आई है वह मैथिलीशरण जी की श्रेष्ठ कला का परिचय देती है। अन्यत्र हनुमान द्वारा राम के वनवास और लक्ष्मण को मेघनाद की शक्ति लगने आदि की घटनाओं का जो सङ्कलन किया गया है उसके सम्बन्ध में द्विविधा हो सकती है। हनुमान सञ्जीवनी बूटी लेने आए थे, राम-वनवास की कथा कहने नहीं।

महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह; सभ्यता के उद्गम, सङ्गम, प्रलय; किसी महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष अथवा आत्मतत्त्व के किसी चिर अनुभूत

रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। आर्य-सभ्यता के विकास-काल में जब देव-दानवों का (अर्थात् दैव और आसुर संस्कृतियों का) संघर्ष हो रहा था तब महर्षि वाल्मीकि ने देवपक्ष का विजयघोष करनेवाले रामायण महाकाव्य का निर्माण किया। वेदव्यास ने द्वापर के अन्त में कुरुक्षेत्र संग्राम का स्मारक महाभारत ग्रन्थ रचा, जो कलियुग का अग्रदूत, अत्यन्त दुःखान्त सृजन है। महाभारत के गीता-प्रकरण में महाकवि ने आँसू पोंछने की अल्प-चेष्टा न की होती तो उसका अध्ययन करने का साहस एक भी व्यक्ति न कर सकता। उसका अन्तिम शान्तिपर्व तो विकट अशान्तिकारी है। उजाड़ भरतखण्ड के एक-मात्र श्मशान-दीप जब पञ्चपाण्डव भी लुप्त हो जाते हैं तब अंधकार की विकराल आकृतियाँ मानों युधिष्ठिर के नरक-दर्शन के रूप में प्रकट होकर भीषण भय का सञ्चार करती हैं। विधवा भरतभूमि उस समय शोक के चार आँसू डालने से भी वञ्चित है—ऐसा नृशंस वह शान्तिपर्व है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य हमारे विचार से, जगत्तत्व के दो विपरीत चक्र हैं—विपरीत होते हुए भी समान, तराजू के तुले हुए पलड़ों की भाँति। ये दोनों चक्र क्रमशः आशा-निराशा, विकास-ह्रास और उत्पत्ति-प्रलय के हैं जो दोनों विपरीत, किन्तु सम हैं। सम न होते तो सृष्टिचक्र न चलता। रामायण सृष्टि की आशा है, महाभारत निराशा। यदि काल-चक्र के इन दोनों महान् रूपकों को काल के ही एक लघुरूपक में प्रकट करें तो कहेंगे कि रामायण आधी रात से लेकर दोपहर दिन तक का बारह घण्टा है और महाभारत दोपहर दिन से लेकर आधि रात तक का बारह घण्टा। दोनों की अवधि एक है, दोनों का उत्कर्ष एक। एक के नायक राम हैं, दूसरे के कृष्ण। दोनों अवतार। दोनों ही बराबर। "सम प्रकाश-तम पाख दुहुँ, नाम भेद विधि कीन्ह।"

रामायण सृष्टि का आशाचक्र होने के कारण आधी रात के अन्धकार में आरम्भ होता है—दैत्यों के उत्पातों के साथ। धीरे-धीरे आशा की ज्योति खुलती जाती है और रावण-वध के साथ नवीन युग का अरुणोदय होता है। रामराज्य की स्थापना पूर्ण प्रकाश में होती है। आर्य-सभ्यता का दिन चढ़ता आता है। सीता की सतीत्व-परीक्षा के समय मध्याह्न का प्रखर ताप हो आया है। वही विकास की परम अवधि होने के कारण ह्रास के एक परमाणु से संयुक्त है। सीता की अग्नि-परीक्षा आर्य-संस्कृति के उत्थान का शीर्षविन्दु और पतन का प्रथम क्षण है। परन्तु महाभारत आर्य-साम्राज्य के सूर्योज्ज्वल प्रकाश में क्षीण तिमिर-रेखा के मिश्रण-क्षण से आरम्भ होता है। दिन का बारह बजकर एक सेकेण्ड हुआ है। लोकोत्तर महापुरुष कृष्ण के उत्कट उद्योगों को पराङ्मुख

कर संध्या आने लगी है। गोधूलि की बेला में कुरुक्षेत्र मचता है। सुदर्शनचक्र क्षण काल के लिए अर्जुन को जयद्रथ पर विजयी बनाता है, पर उसी क्षण संध्या आ पहुँचती है। युद्ध के उपरान्त अठारह अक्षौहिणी सेना में केवल पाँच पाण्डव बच रहते हैं। रात बारह बजने में मानों पाँच मिनट है। व्याधा कृष्ण का वध करता है, अर्जुन का गाडीव गिर जाता है; आधी रात आ गई। युधिष्ठिर नरक-कुण्ड का भीषण दृश्य देखते हैं। मानो महाभारत का श्मशान दृश्य हो। इसी को व्यास शान्तिपर्व कहते है। इसमें अर्ध रात्रि वाली महाशान्ति और उसके एक क्षण बाद की शान्ति है। यहीं पटाक्षेप होता है। इस प्रकार रामायण और महाभारत सृष्टि के दिवा-रात्रि बन गये। एक के बाद दूसरा, एक दूसरे मे मिश्रित चिरंतन सृष्टिचक्र हैं। क्या ही अद्भुत समन्वय है।

इन दोनों के अतिरिक्त और जो लघु-दीर्घ महाकाव्य नामधारी ग्रन्थ भारतीय साहित्य में लिखे गये वे भी अपनी-अपनी सीमा में महत् आशय लिये हुए हैं। हमारे हिन्दी में महाकवि तुलसीदास का रामचरितमानस है, जो वाल्मीकीय रामायण से भिन्न स्वतन्त्र साधना-सम्पन्न ग्रन्थ है। वाल्मीकि ने संस्कृतियों का संघर्ष प्रदर्शित किया है और दैवी सम्पत् की विजय-दुन्दुभी बजाई है। तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व में सर्वधर्मसमन्वय किया है। वाल्मीकि की दृष्टि वातावरण पर थी, तुलसी की व्यक्ति पर। वाल्मीकि के राम और लक्ष्मण में केवल मात्रा का भेद है, तुलसीदास के राम से लक्ष्मण की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वाल्मीकि के पात्रों की स्वतन्त्र सत्ता है, तुलसीदास के पात्र 'मानियहि सबहि राम के नाते' की उक्ति चरितार्थ करते हैं। संक्षेप में वाल्मीकि का उद्देश्य आदर्श समाज की कल्पना और तुलसी का उद्देश आदर्श व्यक्ति की कल्पना था। दोनों धाराएँ एक ही दिशा में बहती हुई भी मौलिक अन्तर लिये हुए है। एक जगत् तत्त्व का आदर्श दूसरा आत्म-तत्त्व का आदर्श है। इसलिए तुलसीदास का उत्कर्ष वाल्मीकि से कम नहीं, और मौलिकता दूसरे प्रकार की है।

अनेक महत् उद्देश महाकाव्य के विषय बन सकते हैं, तब 'साकेत' का क्या उद्देश है? प्रचलित रामायणों में रामचरित का सांगोपांग वर्णन किया गया है, पर नवोन्मेष शालिनी कवि- प्रतिभा रामायण के उन्हीं चित्रणों से सन्तोष न पाकर ऐसे प्रसंगों की सृष्टि करती है जो रामायण में तो नहीं, पर कल्पना के दूसरे छोर पर शून्य में धुँधले से अङ्कित हैं। अपनी व्यापक सहानुभूतियों के कारण जो सर्वथा मानवीय हैं, कवि की दृष्टि वनवासी राम पर ही नहीं, तपस्वी भरत पर भी जाती है; और वीर लक्ष्मण पर ही नहीं वियोगिनी उर्मिला पर जाती है। किन्तु राम और सीता का चरित्र वीर चरित्र है

वह महाकाव्य के उपयुक्त है। संन्यासी भरत और वियुक्ता उर्मिला का चरित्र करुणापूर्ण है। उसके आधार पर महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती। जब वाल्मीकि ने और वाल्मीकि से भी अधिक तुलसीदास ने रामचरित का उत्कर्ष दिखाते हुए राक्षसराज रावण को अँधेरे में डाल दिया तब माइकेल मधुसूदनदत्त ने चित्र के दूसरे पहलू को प्रदर्शित किया। जब समाज में आदर्श की रूढ़ियाँ बँध जाती हैं और वह एक निर्जीव और निष्क्रिय धर्माभास के घेरे में घिरकर अन्धवत् आचरण करता है तब मस्तिष्क को सचेत करने के लिए कभी-कभी उसे धक्का देने अथवा चोट पहुँचाने की आवश्यकता पड़ती है। माइकेल मधुसूदन ने मेघनाद के वध के द्वारा वही चोट पहुँचाई और वही चेतना उत्पन्न की। कवि का यह स्वाभाविक धर्म है, काव्य की यह भी एक प्रक्रिया है। साकेत भी रामायण के दूसरे पक्ष को, वह पक्ष जो राम के वनवास और युद्ध का नहीं, भरत की तपस्या और उर्मिला की विरह-व्यथा का है, जो अलौकिक नहीं है, किन्तु कहीं अधिक मानवीय है, अङ्कित करता है।

'साकेत' और 'मेघनादवध' में यह साम्य है कि दोनों ही लोकोत्तरत्व की प्रतिक्रियायें हैं। दोनों ही रायायण के विस्मृत, त्यक्त अथवा अपमानित प्रसङ्गों तथा पात्रों पर प्रकाश डालते हैं। रामायण में राम ने सेना-सङ्गठन और समुद्रोल्लङ्घन का वर्णन है, 'मेघनादवध' में राम का सामना करनेवाले रावण और इन्द्रजीत के देवार्चन तथा सेनासज्जा का वर्णन है। रामायण महासती सीता का गुणगान करता है, 'मेघनादवध' देवकन्या मन्दोदरी की गुणावली गाता है। उसी प्रकार रामायण के वनवासी राम और लक्ष्मण के स्थान पर 'साकेत' में तपस्वी भरत और विरहिणी उर्मिला की चरित्र-सृष्टि होती है। दोनों में अन्तर यह है कि मेघनादवध में चरित्रों का निर्माण वीरकाव्य की मर्यादा के अनुकूल हुआ है, किन्तु साकेत प्रेमाख्यानक काव्य में परिणत हो गया है। रामायण कैकेयी की कुटिलता को क्षमा नहीं करता। तुलसीदास 'कुटिल रानि पछतानि अघाई' कहकर चुप हो रहते हैं, वाल्मीकि तो इतना भी नहीं कहते। किन्तु 'साकेत' में कैकेयी का पूर्ण परिवर्तन अङ्कित किया गया है जो भावनापूर्ण होते हुए भी महाकाव्य की उदात्त परम्परा के उपयुक्त नहीं। 'मेघनादवध' का साहसी कवि निर्भीक भाव से रक्षःराजवंश का उत्कर्ष वर्णन करने में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर देता है, पर साकेत के भक्त कवि राम-अभिषेक, वनगमन, चित्रकूटप्रसङ्ग को भी साथ-साथ रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बङ्गाली कवि नवीनचन्द्र के 'प्रभास' के तीन खण्डों की भाँति 'साकेत' के भी दो खण्ड हो जाते हैं जिसमे महाकाव्य के स्थलसङ्कलन तथा कालसङ्कलन में

चिन्ताजनक बाधा पड़ती है। अभिषेक की तैयारी, कैकेयी-कोपभवन, रामवनगमन, दशरथमरण, चित्रकूटप्रसङ्ग आदि में कवि आठ सर्ग और आधे से अधिक काव्य लिख डालता है—यद्यपि ये सब घटनाएँ कुछ ही दिनों में घटित हुई। सब की सब साकेत में घटित भी नहीं हुई, जो घटित भी हुई वे महाकाव्य की भावधारा का अभिन्न अङ्ग न होकर, उसके उपकूलों को ही स्पर्श कर सकीं। शेष सम्पूर्ण काव्य जिसमें रामवनवास के चौदह विशाल वर्षों की साकेतपुरी का कथानक है—जो 'साकेत' का वास्तविक विषय है—चार सर्गों में ही समाप्त हो जाता है। हमें इसमें त्रुटि देख पड़ती है।

'साकेत' जैसे अनतिदीर्घ महाकाव्य में यदि घटनाओं का पूर्ण समाहार नहीं होता, तो सिद्ध है कि काव्य के क्षीरघट में पानी पड़ रहा है। उसके विवादी स्वरों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। 'साकेत' का अन्तरङ्ग भी हमारे आरोप का समर्थन करता है। काव्य के प्रथम आठ सर्गों में जितने चित्र हैं प्रायः सब निकट से खींचे गये हैं। निकट होने के कारण वे छोटे जान पड़ते हैं। मस्तिष्क पर उनका यह प्रभाव पड़ता है कि वे म्रियमाण हैं। महाकाव्य में ऐसे चित्र शोभा नहीं देते। 'कैनवस' उन सर्गों में बड़ा न होने के कारण रेखाएँ उचित से अधिक मोटी हो गई हैं। काव्य का यह 'यथार्थ' वैसा ही हो गया है जैसे किसी सपाट दिगंतप्रसरित मैदान में छोटे-छोटे झाड़ हों। चतुर चित्रकार इन्हें अङ्कित नहीं करता। वह तो आधार के अनुरूप आधेय की सृष्टि करता है। महाकाव्य के चित्र दूरी की व्यञ्जना करते हैं; जैसे गङ्गा के इस पार से कोई उस पार सुदूर की वृक्षराजि देख रहा हो। ऐसे चित्रों को अङ्कित करके कवि मानो विराट् के संकेत सूत्र को अपने हाथों में कर लेता है। दर्शकों को भी विराट् की अनुभूति होती है। परन्तु प्रत्येक कलाकार इस मर्म को नहीं समझता। पं० रामचरित उपाध्याय के 'रामचरितचिन्तामणि' का एक उदाहरण लीजिए। उपाध्यायजी उसमें कौशल्या द्वारा बालक राम को सोते से जगाते है। पूरी लोरी गाई जा रही है। पर जरा सोचना चाहिए कि रामचरित में लोरी का क्या स्थान है? उस लोरी को कौन स्मरण रखेगा? जिस प्रवाह में दिग्दन्ती बहे जा रहे हैं उसमें यदि दस-पाँच मेमने डाल दिये जायँ तो उन पर किसकी दृष्टि पड़ेगी?

'साकेत' के साथ यह उपमा अधिक लागू नहीं होती, और न उसकी तुलना 'रामचरितचिन्तामणि' से की जा सकती है। 'साकेत' में काव्यकला की ऊँची अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर विद्यमान है। 'रामचरितचिन्तामणि' में उसका उतना आभास नहीं

मिलता। यदि प्रसंगप्राप्त एक-एक रसमय स्थल के दर्शन किये जायँ तो 'साकेत' में उनकी बड़ी मात्रा मिलेगी, पर सम्पूर्ण काव्य उतना द्युतिमान् नहीं बन सका। कारण हम ऊपर कह चुके हैं। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला की जो मृदु-चञ्चल यौवन-तरग तरंगित हुई थी उसकी उत्कृष्ट परिणति अन्तिम सर्ग में हुई है। यदि मैथिलीशरण जी अनाकांक्षित प्रसंगों का विक्षेप न डालकर केवल लक्ष्मण-उर्मिला के चरित-निर्माण में अपनी पूरी प्रतिभा सन्निहित करते तो 'साकेत' की समीक्षा कुछ दूसरे ही शब्दों में की जाती; परन्तु वैसा सम्भव नहीं हो सका। 'साकेत' के प्रथम सर्ग की सर्वथा संगत वर्णन-प्रणाली की आवृत्ति आगे के सर्गों में भी की गई, जहाँ वह असंगत बन गई। प्रथम सर्ग प्रीति के एक लघु मोदमय वातावरण में आरम्भ होता है। वहाँ कवि ने वार्तालाप का जो चमत्कार दिखाया है वह सम्पूर्ण प्रासंगिक है। पर आगे के सर्गों में उस चमत्कार की आवश्यकता नहीं थी। काव्य-सरिता दूसरे उपकूलों से बहने लगी थी वहाँ कल-कल, छल-छल का तरल स्वर नहीं रहा था, पर कवि अपने को वातावरण के अनुकूल नहीं बना सका। उसका प्रथम सर्ग वाला वाक्छल और 'सभा-चातुरी' नहीं छूटी। दुःख है कि वह लगातार आठ सर्गों तक नहीं छूटी। छन्द बदले गये पर छन्दों में भी पूरी शक्ति नहीं आई। महाकाव्य और 'सभा-चातुरी' में तो बहुत बड़ा अन्तर है। वन जाते समय जब उद्भ्रान्त प्रजा-जन राम को घेर लेते हैं तब प्रजा की प्रीतिशृङ्खला तोडने के लिए भी राम वाक्चातुरी ही दिखाते हैं। "तुम लोग भद्रअवज्ञा मत करो, हम जैसा हुक्म देते हैं वैसा करो।" पर इस भाँति कहीं प्रीति-शृङ्खला टूटती है? यहाँ उपयुक्त भावोद्वेगों का प्रदर्शन करने में गुप्तजी की कला समर्थ नहीं हुई।

महाकवि तुलसीदास की चौपाई का रहस्य बहुतों को नहीं मालूम। उस छोटी-सी छन्दःमूर्ति में अद्भुत शक्ति है। अन्तिम दोनों गुरु मात्राओं के पैरों पर खड़ी होकर चौपाई मानों अपने दृढ़ अस्तित्व की घोषणा करती है। प्रत्येक स्वतः स्वतन्त्र है, चैतन्य आत्मा की भाँति। यही चौपाई की स्थिरता है। फिर उसमें प्रवाह भी है। लम्बी भावनाओं की धारा में चौपाई अपनी एक गुरु मात्रा समेटकर जैसे फुर्तीली होकर चलती है। भावना के क्षिप्र अथच समन्वित रूप के प्रदर्शनार्थ अद्भुत कलामर्मज्ञ गोसाईं जी ने ऐसी चौपाइयों का प्रचुर व्यवहार किया है। कुछ समीक्षकों ने केशवदास की इसलिए प्रशंसा की है कि उन्होंने छन्दों में बहुलता दिखाई है। परन्तु केशवदास की उस बहुलता की अपेक्षा गोस्वामी जी की चौपाइयों की तरंग-भंगिमा अधिक रमणीय, काम्य और उपयुक्त हुई है। यदि गोस्वामी जी की छोटी-सी

चौपाई के सम्पूर्ण आवर्त-विवर्तों की गणना की जाय तो बहुलता में भी केशवदास पीछे रह जायँ। पर बहुलता में भावानुकूलता भी होनी चाहिए। इस विषय में केशवदास और भी पिछड़े हुए हैं। भावानुकूलता से हमारा अर्थ केवल भावना की क्षिप्रदीर्घ गति से नहीं, उस सम्पूर्ण वातावरण से है जिसे उपस्थित करने में छन्द की शक्ति लगनी चाहिए। 'साकेत' के छन्द हिन्दी खड़ी बोली की शक्ति प्रकट करते हैं। मैथिलीशरण जी की विशिष्टकला छोटे छन्दों में खूब प्रकट हुई है। यह कहना शायद पूर्ण रूप से पर्याप्त नहीं कि खड़ी बोली के किसी भी प्रबन्ध काव्य में अब तक छन्दों की ऐसी सुगठित प्रतिमा नहीं देख पड़ी जैसी 'साकेत' में। 'साकेत' के कवि ने छन्द का मर्म समझ लिया है, ऐसा कहना केवल कवि की योग्यता स्वीकार करना है। पर हम इससे भी कुछ अधिक कह सकते हैं। गोसाईं जी की तरह गुप्त जी भी छन्द का मर्म ही नहीं समझते, उसके आवर्तविवर्त से अभीप्सित भाव-प्रतिमाएँ भी खड़ी करते हैं। अभिषेक की तैयारी में लगी हुई युवती सीता की प्रसन्न अथच निर्लेप रूपाभिव्यक्ति करनेवाली अत्यन्त मार्मिक छन्दःसृष्टि देखिए। वे कौशल्या के पास खड़ी हैं—इस सान्निध्य में भी पवित्रता की व्यञ्जना है—

> गोट जड़ाऊ घूँघट की—बिजली जलदोपम पट की,
> परिधि बनी थी बिधुमुख की, सीमा थी सुषमा सुख की।
> भावसुरभि का सदन अहा! अमल कमल-सा बदन अहा!
> अधर छबीले छदन अहा! कुंद कली से रदन अहा!
> साँप खिलातीं थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें,
> और कपोलों की झलकें, उठती थी छवि की छलकें।
> भाग सुहाग पक्ष में थे, अञ्चलबद्ध कक्ष में थे,
> थीं कमला-सी कल्याणी, वाणी में वीणापाणी॥
> 'माँ क्या लाऊँ' कह-कहकर, पूछ रही थीं रह-रहकर॥

केवल छन्द की चमत्कृत गति तथा अन्त्यानुप्रास की आवृत्ति रीति से ही कविता द्युतिमती हो उठी है।

ऐसी ही उत्कृष्ट छन्द-रचना अनेक स्थानों पर मिलती है। दशम सर्ग की उर्मिला की विरहव्यञ्जना के लिए तो उससे उपयुक्त छन्द हो ही नहीं सकता, यही जान पड़ता है। उसके अन्तिम परिवर्तित छन्द की वर्णध्वनि भी ध्यान देने योग्य है—

टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा मे, झड़-झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में!
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती, सन सन करके थी शून्य की साँस आती!
सखी ने अङ्क में खींचा, दुःखिनी पड़ सो रही।
स्वप्न में हँसती थी हा! सखी थी देख रो रही॥

भावना का प्रसार अथवा पौरुष प्रदर्शित करने में गुप्त जी ने अधिकांश कवित्त छन्द का प्रयोग किया है जो उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। परन्तु कवित्त छन्द से भी अधिक प्रलम्ब वर्ण-सङ्गठन खड़ा करने की चेष्टा उन्होंने क्यों नहीं की, यह नहीं कहा जा सकता। मेघनाद-वध में मुक्त छन्द का प्रयोग तो वे अत्यधिक सफलता से कर चुके थे।

एक ही त्रुटि, जो सम्भवतः खड़ी बोली में अपरिहार्य है, दूरी की अभिव्यक्ति (Long perspective) करनेवाले छन्दों का अभाव है। खड़ी बोली के छन्दों का 'कैनवस' वैसा करने में समर्थ नहीं हो रहा। यह सम्भवतः हमसे उस (खड़ी बोली) की निकटता के कारण है। पर इस स्थूल शृङ्खला को तोड़ने की आवश्यकता है। केवल इस दिशा में 'साकेत' के छन्दों का पूर्ण विकास नहीं हुआ।

अब शेषांश में हमें सारांश कहना चाहिए। वह भी संक्षेप में ही कहा जा सकता है। 'साकेत' के मुखपृष्ठ पर 'राम तुम्हारा चरित स्वयम् ही काव्य है' कहकर राम की महिमा सुनाई गई है। दूसरे पृष्ठ के 'समर्पण' में भी राम की स्तुति है। तीसरे पृष्ठ में 'इदं पवित्रं पापघ्नम् पुण्यं वेदैश्च सम्मतम्' रामचरित को सर्वपाप-प्रमोचन कहा गया है। भक्ति की मात्रा बढ़ती ही जा रही है। चौथे पृष्ठ पर 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये, भाँति अनेक मुनीसन गाये' कहकर कवि स्पष्टतः भक्तों की श्रेणी में नाम लिखा लेता है और इसकी अगली ही पंक्ति में 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' आदि के द्वारा मानों हरि-कथा की गहन अनुभूति में मग्न हो काव्य-कला से उदासीन होने लगता है। 'रामचरित जे सुनत अघाहीं' का उद्धरण देकर वह श्रवण-कीर्तन का पक्ष-समर्थन करते हुए मानो काव्य संघटन पर आक्रमण करता है। इन अर्चना पंक्तियों में 'साकेत' का कहीं नाम नहीं है, जो बहुत खटकता है। इसके आगे बढ़कर मूल काव्य में भी 'भक्ति बाहुल्य' के कारण ही 'साकेत' को चौदह वर्षों की वियोगभारावनता साकेत नगरी तो सँभालनी ही पड़ी है, सारे रामचरित का भार भी वहन करना पड़ा है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि 'साकेत' में इतनी शक्ति नहीं है कि वह दोनों पक्षों का बोझ सँभाल सके, तथापि उससे ऐसा कराया जा रहा है। 'साकेत' के छन्द खड़ी बोली की किशोरावस्था के होने के कारण

विराट् घटनासमूह के भार में दबते देख पड़ते हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि का भावनाभाडार इतना प्रशस्त नहीं कि वह सम्पूर्ण 'साकेत' की अक्षय निधि बन सके। स्वयम् वाल्मीकि ने इतना विराट् घटनाचक्र नहीं बाँधा, न तुलसीदास ने। मैथिलीशरण जी के लिए तो वह साध्य ही नहीं था।

यहाँ यह कह देने की भी आवश्यकता है कि भक्ति-भावना पर हम लेश मात्र आक्षेप नहीं करते, हमारा आशय समझने में भ्रम नहीं करना चाहिए। गोसाईं तुलसीदास की भक्तिभावना ही उनसे रामचरितमानस की सृष्टि करा सकी, जो संसार की श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों में है। अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिए हमें यहाँ तक कहना होगा कि 'साकेत' के कवि में भक्तिभावना का आतिशय्य नहीं, बल्कि कमी है। 'साकेत' में 'राम' का चरित काव्य के द्वितीय श्रेणी के चरित्रों में परिगणित होने योग्य ही बन सका है। इससे अधिक उत्कर्ष उसे नहीं मिल सका। भक्तिभावना की यही कमी है। आधुनिक शैली में कहें तो कहेंगे कि भक्ति वीरपूजा अथवा आदर्शपूजा का ही एक रूप है। राम-राम रटने से ही राम की भक्ति नहीं होती। रामचरित के घटनावर्णन में और रामभक्ति में बड़ा भेद है। पद्माकर ने वाल्मीकि रामायण का अनुवाद कर डाला, बहुत-सी गाथा गा गये, पर भगवान् उनकी रक्षा करें; वे रामभक्त नहीं थे। राम-रसायन लिखते समय उनकी तबीयत कहीं और ही रम रही थी। ये सब बातें मैथिलीशरणजी से कहने योग्य नहीं हैं क्योंकि उसने राम-भक्ति का मर्म अवश्य समझा है। वह अपने आदर्श के लिए ईश्वर से क्षमा माँगकर नास्तिक बनने को तैयार है। वह कहीं-कहीं ऐसे मार्मिक वाक्य समुच्चय में भक्ति सम्बन्धी अपना विवेक प्रकट करता है कि हमें आश्चर्य होता है कि वह रामवनगमन से लेकर प्रत्यावर्तन तक की घटनाओं का अननिवार्य चित्रण करने में लगकर क्यों अपनी काव्यकला से स्खलित हुआ है। वह अत्यन्त सफलता के साथ इस घटनामरीचिका का मोह त्यागकर अलग हो सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। आरम्भ की बालकाण्ड की कथा भी 'साकेत' की कथा बन सकती थी पर कवि ने उसका नाम तक नहीं लिया। यहाँ कवि की शक्ति है, और दुर्बलता का आत्यन्तिक निराकरण है। पर आगे के सर्गों में कवि की शक्ति को दुर्बलता वश में कर लेती है और पर्याप्त काल तक किये रहती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति और कुछ नहीं, भावना का केन्द्रीकरण है। भक्त अपने आराध्य के जिस रूप पर मुग्ध हो जाता है, उसी का कीर्त्तन करने में सुख मानता है। यह भक्तिभावना उत्कृष्ट काव्य की प्रेरक है। सूरदास तो केवल भक्ति से ही महा-

कवि बन गये। उनका सम्पूर्ण मानसिक अस्तित्व कृष्ण की रूपमाधुरी में रम गया। उनकी तमाम भावनाएँ कृष्ण में केन्द्रित हो गईं। कभी-कभी भक्तिजन्य यह केन्द्रीकरण काव्य का अपकार भी करता है, जब वह रसमयी कविता की नहीं, केवल पुनरुक्तियों की सृष्टि करने लगता है। वहाँ कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। सूरसागर में यह अवगुण हमें नहीं मिलता। 'साकेत' की त्रुटि दूसरे प्रकार की है। 'साकेत' में सूरसागर का-सा भावोन्मेष नहीं; उसमें महाकाव्य के अनुरूप भावना-संकलन की भी कमी है। काव्यसमीक्षा का ध्यान रखते हुए हम कहते हैं कि 'साकेत' का कवि किसी उदात्त पात्र का उत्कट भक्त नहीं। काव्य की दृष्टि से वह न राम का भक्त है, न लक्ष्मण का और न 'साकेत'-वासी भरत का ही। साकेत' में वह एकमात्र उर्मिला का ही भक्त है। इसलिए 'साकेत' के मन्दिर में उर्मिला की मूर्ति ही सबसे अधिक सजीव अथच मनोरम हुई है।

काव्य के लिए प्रत्यक्ष वर्णन से अधिक परोक्ष अध्याहार की महिमा कही गई है। राम-भक्ति की व्यञ्जना रामचरित्र के प्रत्यक्ष वर्णन में ही नहीं, राम के बिना सूनी साकेत का शुष्क शून्य चित्र दिखाने में भी सिद्ध हो सकती थी। राम की अनुपस्थिति में साकेत का कण-कण राममय देखा जा सकता था। कवि की एक कठिनाई हम अवश्य स्वीकार करते हैं। राम की अनुपस्थिति में साकेत का प्रसङ्ग-वर्णन करने के लिए उसे किसी प्रकार का ऐतिहासिक अथवा शास्त्रीय आधार प्राप्त नहीं था। केवल कुछ रामायणों में यह घटना मिलती है कि हनूमान संजीवनी बूटी अयोध्या से ले गये थे। कवि ने उसका उपयोग कर लिया। इससे अधिक उसने यह किया कि लङ्का का नाश करने के लिए साकेत की सेना सजवा दी। परन्तु शीघ्र ही वाल्मीकि की मन्त्रशक्ति के कारण निःशस्त्रीकरण की योजना करा देनी पड़ी।

हम निवेदन करेंगे कि ये शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्परापालन साकेत के लिए हानिकर ही हो गये। जैसा हम आरम्भ में कह चुके है कि 'साकेत' का कवि 'चित्र के दूसरे पहलू' को दिखाने का उपक्रम करता है। पर 'चित्र के दूसरे पहलू' के लिए उसे शास्त्रीय प्रवचन ढूंढ़ने की अधिक आवश्यकता नहीं थी। मेघनाद-वध के कवि ने भी ऐसा ही किया है। मैथिलीशरण जी को इतिहास पुराण आदि की अपेक्षा इस अवसर पर अपनी कल्पनाशक्ति से काव्यकला की ज्योति जगानी थी। पर यहाँ भी उन्होंने रूढ़ि की शृङ्खलाएँ नहीं तोड़ी। फलतः उन्हें 'साकेत' में चित्र के दोनों पहलू दिखाकर महाकाव्य का अंग निर्माण करना पड़ा। कला के नियमों के प्रतिकूल होने के कारण चित्र के दोनों पहलू एक चित्रपट पर पूरे-पूरे तो दिखाये हो

नहीं जा सकते। आंशिक रूप में भी दोनों पक्ष दिखाने में विशेष कलामर्मज्ञता की आवश्यकता पड़ती है। मैथिलीशरण जी इस कला में निपुण नहीं सिद्ध होते। आठ सर्गों तक राम के सूत्र में कथा बँधी चलती है, फिर हठात् झटके से टूट जाती है। सीताजी के 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' के अत्यन्त मनोरम गीत का स्वर डूब जाता है और हम चित्रकूट से साकेत पहुँच जाते हैं। इस कथाक्रम में कवि की भावना कुछ पात्रों (सीता, राम, लक्ष्मण आदि) से हटकर अचानक कुछ अन्य पात्रों (उर्मिला, भरत आदि) में क्यों प्रविष्ट हो जाती है, इसका मनोविज्ञान हम समझ नहीं सकते।

बड़ा आश्चर्य है कि जिस कवि ने 'साकेत' में स्थान-स्थान पर ऐसी श्रेष्ठ कविताशक्ति का परिचय दिया है, जो सत्कवियों को भी दुर्लभ है, वह अपनी शक्ति की सीमा क्यों नहीं समझ सका। संभवतः आत्मनिरीक्षण की कमी थी। गुप्तजी ने साकेत का घटना-चक्र इतना विस्तृत बना दिया है जितना किसी कवि को बनाने का साहस नहीं हो सकता। फलतः भावनाओं को इधर-उधर दौड़कर प्रसङ्ग पूर्ति करने को बाध्य होना पड़ा है। दृढ़ता से केन्द्रित होकर वे जीवन की गहनता तक कम पहुँचती हैं। जब हम पत्रों में खण्डशः प्रकाशित होनेवाले 'साकेत' के भिन्न-भिन्न सर्गों का पाठ कर रहे थे तब पूरे अनुक्रम का पता न होने के कारण उसमे अधिक तृप्ति मिलती थी। इसमें सन्देह नहीं कि मैथिलीशरण जी ने एक-एक चित्र में रङ्ग की खूब सफाई दिखाई है। वाक्चातुरी का अपूर्व चमत्कार 'साकेत' में दिखाया गया है पर यह चमत्कार सर्वत्र महाकाव्य के उपयुक्त नहीं होता। राजनीति और समाज-नीति की प्रचलित पद्धति पर गुप्त जी की उक्तियाँ विशेष आकर्षक शैली में व्यक्त की गई हैं। साकेत की शैली प्रायः सर्वत्र आकर्षक है। परन्तु सब चित्र जब एकत्र कर महाकाव्य की चित्रशाला में रखे जाते हैं तब महाकाव्य का सम्यक् वातावरण पूर्णरीति से नहीं बन पाता।

परन्तु जिस सत्कवि ने 'साकेत' के शतशः पृष्ठों पर अपनी अन्तर्तम की अनुभूतियाँ अङ्कित की हैं उसकी प्रशंसा में शब्दों का सङ्कोच कोई नहीं कर सकता। खड़ी बोली के इस प्रथम चरण में 'साकेत' की सृष्टि एक ऐतिहासिक घटना है। साकेत के द्वारा हिन्दी का शब्द-सौष्ठव यथाविधि प्रकट हुआ है। खड़ी बोली की कर्कशता का अर्थ हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि साकेत का पाठ करते हुए हमें कहीं भी अस्वाभाविक उच्चारण नहीं करना पड़ा। अस्वाभाविक उच्चारण के अतिरिक्त दूसरी कर्कशता की हमें कल्पना नहीं होती। खड़ी बोली का शब्द-भाण्डार भी साकेत के द्वारा बृहत्तर अथच शक्तिसम्पन्न

हुआ है। शक्ति से हमारा आशय वाच्य, लक्ष्य और व्यञ्जना-शक्तियों से है। गुप्त जी ने 'साकेत' में शब्दों के प्रति विशेष आत्मीयता दिखाई है; जिसे प्रदर्शित करने के लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता होगी। अन्य विशेषताओं का उल्लेख हम बीच-बीच में करते आये हैं। यदि हमने 'साकेत' की त्रुटियों का उल्लेख करने में अधिक समय नष्ट किया है तो केवल इसलिए कि हम समझते हैं कि गुप्त जी एक श्रेष्ठ सत्कवि हैं। बङ्गला का आधुनिक काव्य साहित्य विशेष उन्नत समझा जाता है पर माइकेल मधुसूदन दत्त के अतिरिक्त कोई कवि गुप्त जी से प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में आगे नहीं है। रवि बाबू का क्षेत्र दूसरा है। नवीनचन्द्र, हेमचन्द्र आदि से मैथिलीशरण जी की समता करने में किसी काव्य-मर्मज्ञ को कुछ भी सङ्कोच नहीं होगा। 'साकेत' गुप्त जी का महाकाव्य है। उसे महाकाव्य की दृष्टि से ही देखना संगत था जो शताब्दियों में दो-एक लिखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में जो त्रुटियाँ ऊपर दिखाई गई हैं उनका अर्थ समझने में भ्रम न करना चाहिए। संक्षेप में उसका अर्थ यही है कि गुप्त जी में और रामचरितमानस आदि के महाकवियों में क्या अन्तर है। इस तुलना में ही गुप्त जी का गौरव व्यंजित है।

———

श्री० रामचन्द्र शुक्ल



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना के लिए युग-प्रवर्तक कार्य कर गये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी-आलोचना अपने नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण ग्रन्थों में रसों, अलङ्कारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे, मैं यह मानता हूँ कि रस और अलंकार, नायक और नायिका साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व ये ही हैं, पर जिन लक्षण-ग्रन्थों की बात मैं कह रहा हूँ उनमें इन तत्त्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल रूप से की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक-शास्त्र अथवा साहित्यिक अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रन्थों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नहीं करा सके। फिर इन्हें आलोचना-ग्रन्थ किस अर्थ में कहा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

उदाहरण के लिए लक्षण-ग्रन्थों में उल्लेख किये गए किसी भी रस के एक प्रसङ्ग को ले लीजिए। मान लें हम 'शृङ्गार-रस' का कोई प्रसङ्ग लेते हैं। लक्षण-ग्रन्थ द्वारा हम यह तो जान गये कि उक्त उद्धरण शृङ्गार-रस का है। किन्तु वह रस कितने छिछले अथवा कितने सौम्य शृंगार का है इसकी तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक विवेचना हम साधारणतः लक्षण-ग्रन्थों में नहीं पाते। दूसरी बात यह कि उस 'रस' विशेष की अभिव्यञ्जना कितनी शक्तिपूर्ण अथवा निःशक्ति प्रणाली से हुई है यह कलात्मक विवेचना भी उनमें कम ही दिखाई देती है। तीसरी बात को उस छिछले अथवा सौम्य-शृङ्गार की सामाजिक पृष्ठ-भूमि क्या है—किन परिस्थितियों की वह प्रतिक्रिया है और सामाजिक जीवन पर वह किस प्रकार का असर डालेगा, इसके जानने का भी कोई साधन नहीं रहता। चौथी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रचनाकार की अपनी मानसिक स्थिति का भी हमें पता नहीं लगता। आलोचना के ये ही प्रधान सूत्र हैं और लक्षण-ग्रन्थों में इन्हीं का अभाव था।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी वही इन लक्षण-ग्रन्थों की भी। दोनों ही संस्कारहीन परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टिरहित हो रहे थे।

जिस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ हिन्दी में प्रस्तुत किये गये उन्हें देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रन्थों का प्रस्तुत किया जाना किसी समुन्नत साहित्य-युग में सम्भव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुलीं और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, वह तो मानव संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं। प्रगतिशील संसार की नानाविधि परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्दकोप के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईं जी के 'मानस' का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशव का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उसके पहले क्या उसके पीछे भी हमारे साहित्य में ऐसे 'अन्वेषकों' की कमी नहीं रही जिन्होंने बिहारी की होड़ में 'देव' को तो ला रक्खा पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। हमारे विश्वविद्यालयों ने इन अन्वेषकों को सम्मानपूर्ण डिग्रियाँ भी दी हैं। रीतियुग के ये 'अपटूडेट' हिन्दी प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीतिकालीन परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती थे। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी और पुराने कवियों के मुक़ाबले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिली-शरण जी के कव्योत्थान की सराहना की। किसी विशेष वाद अथवा विचारधारा का काव्य में प्रवेश होना ही उसके उत्कर्ष का साधक है, कुछ ऐसी धारणा द्विवेदी जी की थी। आज के कुछ प्रगतिशील आलोचकों का भी ऐसा ही मत है। वह विचारधारा या वाद काव्य की अपनी सत्ता के साथ एकाकार हो गया है। या नहीं, यह वे नहीं देखना चाहते। मेरे विचार से यह दूसरी हद है। जो कुछ हो, इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किये जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। यही आशा भी की जाती थी।

प्रतिभा किसी कठघरे में बन्द नहीं रहती। यद्यपि द्विवेदी जी साहित्य की अपेक्षा भाषा के अधिक बड़े आचार्य थे पर साहित्य में भी उनकी पैनी निगाह पहुँचकर ही रही।

इसी समय के आसपास पं० पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षेत्र में आये। शर्मा जी 'बिहारी' की कव्यकला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फ़ारसी के भी पण्डित थे और हिन्दी में यदि उन्हें उर्दू-फ़ारसी का मुक़ाबला कर सकनेवाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था तो बिहारी में ही। पर काव्य-चमत्कार ही काव्य नहीं है, शर्मा जी इस बात से अपरिचित नहीं थे उनमें इतनी भावुकता और रसज्ञता थी कि इन दोनों के अन्तर को समझ सकें। तो भी उनका झुकाव चमत्कार और काव्यसज्जा की ओर अधिक था। उनकी शक्ति इस बात में थी कि उनकी निगाह अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या अलंकार पर हठात् जा टिकती थी। उनकी कमज़ोरी इस बात में थी कि उस सौन्दर्य का परिचय कराने के लिए उनके पास 'क़लम तोड़ दी' वाली शैली का ही सहारा था। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अभिव्यञ्जना-सौन्दर्य के अद्भुत पारखी थे।

काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यञ्जना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यञ्जना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यञ्जना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानस-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है। किन्तु शर्मा जी प्रकाशन से ही नहीं प्रकाश से भी जानकारी रखते थे, यह बात उनके लेखों से यत्र-तत्र प्रकट होती है। विशेषकर आधुनिक कवियों के सम्बन्ध लिखते हुए उन्होंने अपनी यह योग्यता प्रकट की है।

हमारे कितने ही नये समीक्षक ज्ञात या अज्ञात रूप से शर्मा जी के ही रास्ते पर चल रहे हैं। नये कवियों के उद्धरण दे-देकर कुछ नपे-तुले वाक्यों में प्रशंसा कर देने तक ही उनकी समीक्षा सीमित है। शर्मा जी से वे किसी भी अर्थ में आगे नहीं बढ़ सके हैं, पर उनका उपहास करने में वे बहुत आगे हैं।

इसी समय मेरे गुरुदेव अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें साहित्यसम्बन्धी कुछ सैद्धान्तिक व्याख्याएँ, मनोवैज्ञानिक निरूपण और व्यावहारिक (साहित्य-तन्त्र विषयक) निर्देश किये गये थे। इस ग्रन्थ का बड़ा ही मार्मिक प्रवाह हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र पर पड़ा।

हिन्दी-आलोचना की इसी आरम्भक किन्तु नवचेतन अवस्था में पं० रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी-समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के

भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य-समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्ल जी ने 'रस और अलंकार' आदिकों को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवनसौन्दर्य का पर्याय बनाकर 'रस और अलङ्कार' पद्धति का व्यवहार किया।

जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्यसौन्दर्य के साथ 'रस और अलङ्कार' का विन्यास करके 'रस-पद्धति' को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग यह भूल ही गये कि रसों और अलङ्कारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।

मेरे कहने का मतलब यह है कि शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्यभावना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप-ही-आप स्खलित होने से बचे रहें। उत्थानमूलक, आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी सम्पर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। यहाँ शुक्ल जी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानों का प्रयोग अधिकतर इतनी सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य-निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता।

अवश्य जहाँ-जहाँ और जब-जब शुक्ल जी ने अपनी काव्यमाप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिए कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध-रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण-पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई है। डी० एल० राय में रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतर भावसंवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है। इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अल्प अधिकारियों को उचित से अधिक महत्त्व देना पड़ा है।

संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होनेवाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।

शुक्लजी में उच्च कोटि की काव्य-रसज्ञता थी, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही उनकी कुछ निजी रुचियाँ और आग्रह भी थे जिन्हें दबाया नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनमें आलोचना के साथ-साथ रचनात्मक प्रेरणाएं भी बड़ी प्रमुख थीं। स्वतन्त्र रचना के लिए स्वतन्त्र अभिरुचि का होना आवश्यक है, किन्तु काव्य-समीक्षक को अधिक से अधिक निष्पक्ष होना चाहिए। साहित्य के वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य के लिए यह निष्पक्षता बहुत आवश्यक है।

रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।

यहाँ पूरी तटस्थता से हमारा मतलब निर्विकल्प या absolute तटस्थता से नहीं है। वह तो सम्भव नहीं है। समीक्षक अपने बाहरी (सामाजिक) और भीतरी (व्यक्तिगत) संस्कारों से बरी नहीं हो सकता। वह एक समय और एक वर्ग का लगाव छोड़ नहीं सकता। यहाँ तटस्थता से मेरा मतलब यह नहीं कि वह अपनी सामाजिक और संस्कार-जन्य इयत्ता खो दे। यह सम्भव भी नहीं है। इससे तो समीक्षक के अपने व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि इन व्यक्तिगत पहलुओं के होते हुए भी जहाँ तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता क़ायम रखनी चाहिए।

समीक्षा की तटस्थता से यह आशय न निकालना चाहिए कि उस समीक्षा का सामाजिक सम्पर्क छूटा हुआ है। मैं इस सम्पर्क का लेख के आरम्भ में ही आग्रह कर चुका हूँ और यह सम्पर्क छूट जाने से लक्षण-ग्रंथों के द्वारा समीक्षा-क्षेत्र की जो दुर्दशा हुई उसका भी उल्लेख कर आया हूँ। शुक्लजी की काव्य समीक्षा में बड़े समारोह के साथ इस सामाजिक सम्पर्क का आवाहन है। यह हिन्दी-आलोचना के लिए बड़े महत्त्व की बात सिद्ध हुई। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि नव्यतर सामाजिक प्रगति से (विशेषतः राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध न रहने के कारण शुक्ल जी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से उतना

अधिक तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकें। जितना उनके जैसे इस क्षेत्र के अभिनायक से आशा की जाती थी।

युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ है, जिन नवीन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्याङ्कन क्या होगा? किन्तु घनिष्ठ-से-घनिष्ठ परिचय में भी तटस्थता समीक्षक के लिए अत्यावश्यक है यह तटस्थता सफल विश्लेषण की पहली शर्त है।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने काव्य और कलाओं के सामाजिक सम्पर्क की आवाज़ उठाई उसी प्रकार उन्होंने रचनाकार की व्यक्तिगत मनस्थिति का भी हवाला दिया है। रचयिता की मनस्थिति का पता लगाना आधुनिक काव्य-विवेचन आवश्यक समझता है। इसके लिए काव्यालोचक आज मनोविश्लेषण-विज्ञान की भरपूर सहायता लेना चाहते हैं। शुक्ल जी के समय यह विज्ञान हिन्दी में कम व्यवहृत हुआ। इसका व्यवहार बड़ी विशेषज्ञता की अपेक्षा रखता है। रचनाकार के काव्यनिर्माण में उसके व्यक्तिगत संस्कारों का हाथ रहता है। वे संस्कार किस हद तक उसके काव्य को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं, यह प्रत्येक समीक्षक जानना चाहेगा। किन्तु इसे जानने के साधन उतने आसान नहीं हैं जितना हम अक्सर समझा करते हैं। शुक्ल जी ने इस दिशा में आरंभिक कार्य का सूत्रपात कर दिया था।

रचनाकार की मानसिक स्थिति का विश्लेषण उसके द्वारा निर्माण किये गये काव्यात्मक चरित्रों के आधार पर भी किया जाता है। कोई भी साहित्यिक रचना पढ़ने पर रचयिता के विचारों, उसकी मनोभावना और मूल-प्रेरणा का सामान्य रूप से अन्दाज़ लग जाता है पर मनोविश्लेषण-शास्त्र द्वारा उस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त की जाती है। किन्तु यदि रचनाकार के साथ अन्याय नहीं करना है तो बहुत अधिक सतर्कता के साथ हमें निर्णय करना होगा।

शुक्ल जी बहुत अधिक वादों के पक्षपाती नहीं थे। यूरोप के साहित्यिक क्षेत्रों में जो शीघ्र-शीघ्र वाद-परिवर्तन होते रहे हैं उन पर शुक्ल जी की आस्था नहीं थी। वे उन्हें बदलते हुए फ़ैशन जैसी चीज़ समझते थे। उनका ऐसा समझना एक दृष्टि से ठीक भी है। पर इस विषय में एक दूसरी दृष्टि भी है; वह यह कि यूरोप का साहित्य अतिशय

समृद्ध साहित्य है। वहाँ नई-नई कला-शैलियों का आविर्भाव और प्रचार होना स्वाभाविक है। प्रत्येक साहित्य अपनी समृद्धि को अवस्था में बहुविध वेश विन्यास करेगा ही। यह उसका अनिवार्य गुण है। तब देखना यह होगा कि कहाँ वह केवल फ़ैशन बनकर रह गया है और कहाँ उसमें गहराई आई है।

ठेठ कला अथवा रचना-प्रणाली की मीमांसा अभी हमारे साहित्य में बहुत कम हुई है। यह साहित्यिक विवेचन का एक प्रधान अङ्ग क़रीब-क़रीब सूना पड़ा है। यहाँ रचना-प्रणाली से हमारा मतलब भाषा-शैली से नहीं है, बल्कि उस कारीगरी से है जो साहित्य को सौन्दर्य या कला की वस्तु बनाती है।

जिस प्रकार अनेक काव्यवादों की उलझन में शुक्ल जी नहीं पड़े, उसी प्रकार सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र की विचारधाराओं की उन्होंने उपेक्षा की। कुछ लोग इसी कारण उन्हें कोरा साहित्यिक घोषित करते हैं। वे इसे उनकी एक प्रधान त्रुटि भी ठहराते हैं और उनका कहना है कि इसी कारण शुक्ल जी वास्तविक अर्थ में हमारे आधुनिक साहित्य का नेतृत्व नहीं कर सके। इस सम्बन्ध में हमें दो बातें कहनी हैं। एक यह कि शुक्ल जी की एक विशेष समाजनीति अथवा सामाजिक सिद्धान्त (जिसमें राजनीति भी सम्मिलित है) अवश्य था। सम्भव है वह सिद्धांत अपनी पूरी रूप-रेखा के साथ उपस्थित न किया गया हो पर उसका एक सामान्य रेखाचित्र हमें शुक्ल जी की सभी मुख्य रचनाओं में मिलता है। बल्कि कहीं-कहीं तो उनका पिष्टपेषण खटकने भी लगता है। वह सिद्धान्त क्या है, इसे शुक्ल जी के सभी पाठक जानते हैं उसे उन्होंने लोकधर्म का सिद्धान्त कहा है और भारतीय वर्णाश्रम धर्म के साँचे के अन्तर्गत उसे ढालने की चेष्टा की है। वर्णाश्रम धर्म से शुक्ल जी का आशय हिन्दू धर्म से नहीं है बल्कि किसी भी ऐसे सामाजिक सङ्गठन से है जिसमें कर्तव्यों और अधिकारों के समीकरण की चेष्टा की गई हो।

शुक्ल जी का लोक-धर्म का सिद्धान्त मध्यवर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत है जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी। अपने स्वाभविक गांभीर्य के कारण शुक्ल जी 'रामचरितमानस' के महाकाव्योचित प्रसङ्गों में रम गये थे। इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि आधुनिक समय के लिए उनकी कोई चिन्तना नहीं थी।

दूसरी बात यह है कि आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में

स्थित है। शुक्लजी के विचारों में हिन्दू-समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उसे एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्ल जी ने दिया है। वह कहाँ तक व्यवहार्य है, यह एक दूसरा प्रश्न है। वह कहाँ तक नई विचारधारा और शब्दावली से मेल खाती है, यह और भी अलग प्रश्न है।

यदि शुक्ल जी में अपने समय और समाज की सीमाएँ हैं तो सवाल यह है कि इन सीमाओं से बचा कौन है? महत्त्व सीमाओं का नहीं है महत्त्व है सीमाओं के भीतर किये गये काम का। शुक्लजी ने अपने समय की एक अर्द्ध जागृत-साहित्य-चेतना को दिशाज्ञान दिया। रास्ता सुझाया ही नहीं, स्वयं आगे-आगे चले और मंज़िल तय किये। विपर्यस्त लक्षण-ग्रंथों की परम्परा को साहित्य-शास्त्र की पदवी पर पहुँचाया, उसे आदर्शात्मक स्वरूप दिया। अपने उच्च कोटि के व्यक्तित्व और अध्ययन की छाप वे साहित्य पर छोड़ गये हैं। प्राजलता और महाकाव्योचित औदात्त्य के लिए यह युग शुक्लजी को स्मरण करेगा। साहित्य-समीक्षक की हैसियत से सब से बड़ी बात शुक्लजी में यह नहीं है कि उन्होंने उच्चतर काव्य को निम्नतर काव्य से अलग किया, बल्कि उन्होंने वह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर को पहचान सकें। यह उनका पहला काम था। तुलसी, जायसी और सूर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी-आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। यह भित्ति इतनी मज़बूत है जितनी भारत की किसी भी प्रान्तीय भाषा की भित्ति हो सकती है। शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता है समीक्षा के सब अङ्गों का सामान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में समीक्षा के किसी एक अङ्ग को लेकर शुक्ल जी की टक्कर लेनेवाले अथवा उनसे विशेषता रखनेवाले समीक्षक मिल सकते हैं पर सब अङ्गों का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। जितना उत्कर्ष उन्हें साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण करने में प्राप्त हुआ उतनी ही दक्षता उन्हें उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग करने में हासिल हुई। पांडित्य में उनकी अप्रतिहत गति थी, विवेचना की उनमें विलक्षण शक्ति थी। वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थ में साहित्य के आचार्य थे।

समीक्षक की हैसियत से शुक्ल जी का आदर्श बहुत ऊँचा है और उनका एक संदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह सन्देश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अङ्ग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अङ्गों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। आज हिन्दी में जो कोई समीक्षा के जिस किसी कोने को पकड़ पाता है उसे ही खींच चलता है। यह समझने

की ज़रूरत नहीं समझी जाती कि इस खींच-तान से साहित्य का कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे साधारण पाठकों में भ्रम ही फैला करता है। शुक्लजी ने इस प्रवृत्ति को साहित्यिक कनकौआ उड़ाना कहा है, और उन्होंने इसका ठीक ही नामकरण किया है। यह प्रवृत्ति हमें साहित्य की समीक्षा में बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती, साहित्य की अन्तरात्मा के दर्शन तो करा ही नहीं सकती।

शुक्लजी ने हिन्दी समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नये युग के विधायक थे। यद्यपि हम यह कहेंगे कि शुक्ल जी की व्यक्तिगत अभिरुचियों और धारणाओं ने विशुद्ध काव्यालोचना में सदैव सहायता ही नहीं पहुँचाई, अनेक बार अड़चनें भी डालीं। और शुक्लजी की समीक्षा में युग की सीमाएँ भी स्वभावतः मौजूद हैं।

——

*

*

श्री० रामचंद्र शुक्ल (२)

—o:**:o—

आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल रस-सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी हैं किन्तु उन्होंने 'रस' तत्त्व को एक विशेष अर्थ में ग्रहण किया है। बङ्गाल के स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने काव्य में जिस बाह्य द्वंद्व और अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख किया है, और अपने नाटकों में जिसके उद्वेगपूर्ण चित्र दिखाये हैं उन्हीं द्वंद्वों का हवाला शुक्लजी अपने ढङ्ग से देते हैं। वे रवि बाबू की आदर्शोन्मुख काव्य-समीक्षा को टाल्सटाय की प्रतिध्वनि बतलाते हैं और द्विजेन्द्रलाल द्वारा की गई रवि बाबू के गीतों की आलोचना का समर्थन करते हैं। वे 'करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने में तथा अपने ऊपर अत्याचार पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में' अधिक सौन्दर्य देखते हैं। वे कहते है कि हम करुणा और क्रोध के इसी सामञ्जस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं। सचमुच 'आलम्बन', 'उद्दीपन', 'आश्रम' आदि बड़ी आसानी से इस प्रकार की कविता में मिल सकेंगे और रस की अधिक से अधिक ('रस' में कम-बेशी का प्रश्न भी उठ सकता है) निष्पत्ति भी हो सकेगी। शुक्लजी द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र-पक्ष का पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है, और शायद किसी बात की कमी नहीं रह जाती।

यदि कुछ कमी रह जाती है तो दोष किसी का नहीं है, दोष है युग की गति का। शुक्लजी ने अपने पक्ष समर्थन में वाल्मीकि की रामायण का निदर्शन दिया है पर वह निदर्शन यहाँ उपयुक्त न होगा। महाकाव्यों, वर्णनात्मक प्रसङ्गों आदि का स्थान उपन्यास और आख्यायिकाएँ ले रही हैं, इसलिए शुक्लजी का उपर्युक्त विश्लेषण उनमें (उपन्यासों आदि में) अच्छी तरह चरितार्थ होता है। उपन्यासों की रसात्मकता के कारण आज वे खूब चाव से पढ़े जाते हैं, कुछ थोड़े से उत्कृष्ट वर्णनात्मक काव्यों की ओर भी अच्छी लोक-रुचि है पर काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति मधुर गीतों द्वारा आत्म-निवेदन करने की है। जहाँ आत्मनिवेदन नहीं किया जाता, वहाँ लघु रमणीय छन्दों में प्रेम की, सौन्दर्य की और प्रकृति की अत्यन्त मर्मस्पर्शी विवृति करने की चेष्टा की जाती है, जिसकी परिणति भी आत्मनिवेदन में ही है।

यदि एक ओर रामायण है तो दूसरी ओर 'विनय-पत्रिका' भी तो है। इसमें तो भक्त और भगवान् ही पक्ष है, कोई तीसरा पक्ष तो नहीं। रवि बाबू ने टाल्सटाय की नक़ल की होगी पर तुलसीदास जी ने तो नहीं की? आधुनिक 'गीत-काव्य' विनय पत्रिका के ही वंशज हैं। विनय-पत्रिका में और उनमें भेद है तो यही कि आजकल समय की गति के अनुसार नवीनता है। अजामिल, प्रह्लाद आदि बदलकर नवीन रूप धारण कर रहे हैं। मध्यकालीन कवियों के उस सम्बन्ध में जो कुछ कहना था वह कह डाला। सूर-सागर लबालब भर गया। अनुकरण काव्य की विभूति नहीं है। कविता में नवीनता की खोज हुई। पश्चिमीय शैली का प्रभाव पड़ा पर परम्परा वही है जो विनय-पत्रिका में एक दूसरे रूप में थी। रामायण में यदि कर्म-सौन्दर्य खिल उठा है तो विनय-पत्रिका में भी प्रेम-भावना चमक उठी है। इन दोनों में कौन-सा पक्ष अधिक काव्योपयोगी है इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णय विवाद से खाली नहीं हो सकता। तब भिन्न रुचि के लिए जगह छोड़नी होगी। हमारा विश्वास है कि युग-रुचि दूसरे पक्ष में हैं।

स्थूल व्यवहारवाद को निस्सीम बतलाकर और रहस्यवाद की कनकौए से तुलना कर विद्वान् शुक्ल जी ने नवीन कविता के साथ अन्याय किया है। छायावाद अथवा रहस्यवाद का क्षेत्र विस्तीर्ण है। मनुष्य के अध्यात्मपक्ष का सम्पूर्ण निरूपण इस प्रकार की कविता की सीमा के अन्तर्गत है और अध्यात्मपक्ष के अंतर्गत समस्त जीवन की व्याख्या की जा चुकी है। शुक्लजी ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए अँगरेज़ी कविता के उदाहरण लिये हैं, और ब्लेक आदि कवियों को ही रहस्यवादी बतलाया है। रहस्यवाद की कविता का उत्कर्ष इस प्रकार कम नहीं किया जा सकता। हम जिस अर्थ में छाया-वाद अथवा रहस्यवाद को लेते हैं उसमें ब्लेक ही नहीं वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स आदि अनेक प्रमुख कवियों की रचनाएँ आ जायेंगी। वर्ड्सवर्थ प्रकृति के परम प्रेमी कवि थे। उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों में एक चेतन सत्ता की झलक देखी थी जिसे देख-देखकर वे आनन्दमग्न होते थे। उनकी जिन अनेक रचनाओं में यह प्रकृति प्रेम आप्लावित हो रहा है वे रहस्यवाद की ही कही जायेंगी। कवि शेली ने इस पार्थिव संसार से चिढ़कर जो सौन्दर्यपूर्ण काल्पनिक सृष्टि की है वहाँ कवि की अध्यात्मोन्मुख भावना अपना मूल्य खो नहीं देती। वह भी छायावाद है। कवि कीट्स को बाह्यार्थवादी कहा गया है, परन्तु उनका बाह्यार्थवाद realism केवल चित्रण-शैली तक सीमित है। वास्तव में उनका काव्य छायामय आध्यात्मिक भावों से भरा हुआ है। जिन्होंने उनकी लिखी Beauty is truth, truth is beauty, आदि पंक्तियाँ पढ़ी हैं वे उन्हें रहस्यवादी ही स्वीकार

करेंगे। इनके अतिरिक्त प्रेममूलक अथवा दार्शनिक रहस्यवाद के ब्लेक आदि कवि भी हैं। इन पिछले प्रकार के कवियों की रहस्यभावना बहुत कुछ स्वाभाविक थी परन्तु पीछे से कविता को सांप्रदायिक अनुभूतियों का प्रकाशन-साधन बना लेनेवाले कुछ धर्म-गुरु हुए जिन्होंने रहस्यवाद को धार्मिक सीमा में ले जाकर बाँध दिया। पर इससे वास्तविक रहस्यकाव्य की उत्कृष्टता में कोई बट्टा नहीं लगता।

रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। यह अलौकिकता का पाखंड केवल यहीं तक रहता तो एक बात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ उसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है। अलौकिकता के नाम पर बेधड़क लौकिकता ही बढ़ती गई और धीरे-धीरे उसने जो स्वरूप धारण किया वह बड़ा ही हेय हुआ। एक बार अलौकिकता की प्रतिष्ठा कर न जाने कितने उच्छृङ्खल कवियों ने न जाने कितनी सप्तशतियों की सृष्टि की, जिनमें आदि से अन्त तक अलौकिक भाव का सम्पूर्ण अभाव रहा। हमको स्पष्ट कर देना चाहिए कि इस अलौकिकता का पल्ला पकड़कर कविगण साधारण जन-समाज के सिर पर चढ़ गये और वहाँ से स्वयं अनियन्त्रित रहकर हमारा नियन्त्रण करने लगे। इस प्रकार जन-समाज का नियन्त्रण न रहने के कारण कविता व्यक्तिगत हो गई, और यही कारण है कि मध्यकाल की संस्कृत कविता में ह्रासोन्मुख भारतीय जीवन की ही छाप देख पड़ती है। इस विपथ-गामिनी धारा को रोकनेवाला एक भी दृढ़ और अटल आलोचक नहीं हुआ जो साहसपूर्वक साहित्य का सन्मार्ग दिखाता। यह शोचनीय बात हुई कि जब शङ्कर, रामानुज और वल्लभ जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ था तब साहित्य पूर्णतः कलुषित हो रहा था तथापि उसे अलौकिक समझकर उसके संस्कार करने की बात करना भी शायद अनुचित समझा गया।

आज जो साहित्यिकों की एक जाति ही अलग बनती चली जा रही है उसका कारण भी साहित्य की अलौकिकता है। हम 'कला के लिए कला' वालों को व्यर्थ ही दोष देते हैं। हमारा अलौकिकानन्द-विधायक रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था। मध्यकाल के ग्रन्थों में देखिए, कवि को पान खाने, अच्छी पोशाक पहनने, सुगन्धि-सेवन करने आदि की जो विधियाँ बतलाई गई वे आगे चलकर उन दरबारी कवियों की सृष्टि करने में सहायक हुई जिन्हें हम कवि कहना भी कवित्व का तिरस्कार मानेंगे।

'अलंकारों के झुनझुना' से रसवादी का कोई अभिन्न सम्बन्ध नहीं है, बल्कि रसवादी तो अलंकार-वादियों का विरोध करते हैं; आदि अनेक बातें पारिभाषिक दृष्टि से चाहे सत्य भी हों पर व्यवहार में तो कुछ और ही देख पड़ता है। आज तो

रसों और अलंकारों का जो घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है वह साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त परिचित घटना है। 'क्वचित् अनलंकृती' कहीं-कहीं अनलंकृत वाक्य भी रसात्मक हो सकता है, पर कहीं-कहीं ही ! यह भी हमारे पक्ष का ही प्रमाण है। रसवादियों का यह कहना व्यर्थ है कि वे अलंकारों का महत्त्व स्वीकार नहीं करते अथवा उन्हें गौण स्थान देते हैं। वास्तव में वे अलंकारों को अपनी रस-सिद्धि का साधक—अपनी कामधेनु का गोपाल बनाते हैं।

भविष्य के साहित्य में अलंकारों की यह प्रधानता कम करना उचित होगा। हम कभी-कभी कल्पना करते हैं कि साहित्य के परमोच्च स्तर पर पहुँचकर अलंकारों को छोड़ देना पड़ेगा। रसवादी यह मानते हैं कि अलंकार उनके काव्य की शोभा तो हैं ही; कविता के लिए अपेक्षित साधन भी हैं, हम यह कहेंगे कि अलंकार काव्य-साधना की पहली सीढ़ी है। मूर्तिपूजा की भाँति अलंकार भी चरम साधना नहीं, चरम सिद्धि तो है ही नहीं। अलंकार चित्र है। चित्रों की सहायता एक सीमा तक आवश्यक है, बस।

कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलङ्कार-विहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं। उदाहरण लीजिये—

अर्द्धरात्रि गइ कपि नहीं आवा, राम उठाइ अनुज उर लावा।
सकेहु न दुखित देखि मोहि काऊ, बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजे पितु-माता, सहेउ विपिन हिय आतप बाता।
सो अनुराग कहाँ अब भाई, उठहु विलोकि मोरि विकलाई।
जो जनत्यों बन बन्धु बिछोहू, पिता बचन नहिं मनत्यों ओहू।
सुत बित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहि जग बारहि बारा।
अस विचारि जिय जागहु ताता, मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।

× × ×

जैहों अवध कवन मुँह लाई, नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई।
बरु अपयस सहतेउ जग माहीं, नारि हानि विशेष क्षति नाहीं।

अब अवलोक शोक यह तोरा, सहै कठोर निठुर उर मोरा।
निज जननी के एक कुमारा, तात तासु तुम प्राण अधारा।
सौंपेउ मोहि तुमहिं गहि पानी, सब बिधि सुखद परमहित जानी।
उतर ताहि दैहौं का जाई, उठि किन मोहि सिखावहु भाई।

सम्पूर्ण कविता अलङ्कार हीन होती हुई भी हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लेती है। संसार के बड़े कवियों की महान् रचनाएँ इसी प्रकार की हैं और यूरोपीय समीक्षाकार इसी के समर्थन में शक्तिशाली तर्क उपस्थित करने लगे हैं। हम हिन्दीवालों को इस तत्त्व को ग्रहण करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलङ्कार वही काम करते हैं जो दूध में पानी। कविता फीकी पड़ जाती है। वह अपना सत्य स्वरूप खोकर नकली आवरण धारण करती है और अनेक प्रकार से पतित होती है।

इस युग में आरामतलबी का स्थान एक प्रकार की सामूहिक कृतिशीलता ले रही है। सामूहिक मनोविज्ञान घुमाव-फिराव के पक्ष में नहीं है; वह सरल, तीक्ष्ण सत्य चाहता है। हमारे कुछ कवि इस ओर झुके देख पड़ते हैं—

किसी हृदय का यह विषाद है। छेड़ो मत यह सुख का कण है॥
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ। यह करुणा का थका चरण है॥
—प्रसाद

× × ×

आह यह मेरा गीला गान वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन
शब्द-शब्द है सुधि की दंशन चरण-चरण है आह
कथा है करुण अथाह बूँद में है बाड़व की दाह
—पन्त

प्राचीन-विधि में बाँधकर समीक्षा करनेवाले एक समीक्षक इन कविताओं में आये हुए 'विषाद', 'करुणा', आदि शब्दों को नियम-विरुद्ध बतलाते हैं। इस प्रकार की समीक्षा साहित्य में अन्ध-विश्वास की वृद्धि करती है और व्यक्तिगत अनुभूति का विकास नहीं होने देती। पिछली कविता के सम्बन्ध में एक समीक्षक "इसके शब्दों में

मिठास है, पदों में सौष्ठव है, प्रवाह में सुकुमारता है, सब है, पर सारा का सारा करुण रस वाच्य है । कवि लोक के भीतर है । साधारण लोगों के रोने में और उसके रोने में केवल भेद इतना ही है कि उसकी शब्द-सामग्री कुछ परिमार्जित है, बस । करुण-रस की ध्वनि नहीं हो सकी ।" कवि का रोना साधारण लोगों के रोने से भिन्न होना चाहिए यही ध्वनि-प्रिय समीक्षक की ध्वनि समझ पड़ती है। यही साधारण यूरोप के प्राचीन classical वर्ग के समीक्षकों की थी पर जब से फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के उपरान्त साहित्य सामान्य जीवन के साथ-साथ चला तब से उपर्युक्त धारणा क्षीण पड़ने लगी ।

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार समीक्षक को उक्तकविता में जो 'मिठास', 'सौष्ठव', 'सुकुमारता' आदि लाना पड़ा है उसे हम समीक्षक पर शास्त्र का अत्याचार कहेंगे । वास्तव में कविता तीखी है, मर्मभेदिनी है और करुण है ।

'विषाद', 'करुणा', आदि पहली कविता के तथा 'आह', 'दाह', आदि दूसरी कविता के शब्दों से हमारा घनिष्ठ साहचर्य है। वे हमारे दुःख के साथी हैं। उनका उच्चारण भी ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करता है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृत के सभी साहित्यिक सम्प्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा । एक भरत मुनि ही मुनि नाम से पुकारे गये पर यह भी उनके प्रथम आलोचक होने की उपाधि मात्र हो सकती है। भरत ने जो कुछ लिखा, नाटकों के सम्बन्ध में लिखा । उनका नाट्यशास्त्र विश्लेषणात्मक समालोचना और वर्गीकरण कहा जा सकता है। उसमें बहुत अधिक दार्शनिक विवेचन, प्रवचन या अनुसन्धान नहीं देख पड़ता है। उनकी विधि व्यावहारिक विधि है। उनकी प्रणाली उस वैज्ञानिक की-सी है जो बाल की खाल निकालता है। अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु नितान्त भावना-हीन। वे साहित्य के पथ-प्रदर्शक नहीं थे, नाटकों की छान-बीन करने-वाले थे । उनके ग्रन्थ से यह जाना जा सकता है कि नाटक के ढाँचे कैसे-कैसे हो सकते हैं। यह नहीं जाना जा सकता कि उसकी आत्मा कैसी होनी चाहिए । नाट्यशास्त्र के विधि-निषेध नाटकों के अङ्गों से सम्बन्ध रखते हैं। उसके वर्गीकरण भी अङ्ग-जन्य ही हैं। उत्कृष्टता और निकृष्टता का निर्णय करने की एकमात्र प्रणाली अंग-प्रत्यंग की परीक्षा है। अलौकिक आनन्द की उद्भावना कर नाटक-मात्र (पीछे से साहित्य मात्र) एक श्रेणी में रख दिये गये जिससे समस्त साहित्यिक विवेचन नाट्य-शरीर के विश्लेषण तक ही सीमित रहा; कोई संश्लिष्ट, प्रगतिशील शक्तिशाली साहित्य-समीक्षा

नहीं की जा सकी न किन्हीं व्यापक, सारग्राही सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सका। फिर जब रूपकों का रसवाद अपने सम्पूर्ण सरंजाम के साथ काव्य में लाकर चरितार्थ किया गया तब तो साहित्य-समीक्षा और भी विलक्षण हो गई। सारा काव्य-विवेचन शब्द और अर्थ में सीमित हो गया। पिछले जमाने के साहित्य-शास्त्रियों ने अपने को कवि कहने में जिस धृष्ट मनोवृत्ति का परिचय दिया, हमारी रस-समीक्षा-पद्धति उसका विरोध नहीं कर सकी। आज जब नवीन शैलियों का प्रश्रय लेकर आलोचक-वर्ग उसका विरोध करते हैं और अनेक ख्यातिलब्ध कवियों को मध्यम या निकृष्ट श्रेणी का बतलाते हैं तब कुछ लोगों के सामने आश्चर्य की एक चकाचौंध-सी छा जाती है।

उपमा कालिदासस्य,भारवेरर्थगौरवम् दण्डिनः पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः

उपर्युक्त उद्धरण संस्कृत काव्य-समीक्षा में ख़ूब प्रचलित है किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उपमा' 'अर्थ-गौरव' और 'पदलालित्य' के आलङ्कारिक आधार पर संस्कृत काव्य-समीक्षा स्थिर हो गई थी। यह भी अभिव्यंजनावाद का ह्रासोन्मुख स्वरूप ही है क्योंकि यह काव्य का उत्कर्ष अभिव्यक्ति-शैली में ही मानता है। शुक्ल जी 'क्रोसे' के अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हैं, और 'कला के लिए कला' सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं जब कि क्रोसे और ब्रेडले जैसे कलावादियों ने अभिव्यंजना या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्त्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है। इस श्लोक के अनुयायी वैसा कोई अध्याहार नहीं कर सके हैं फिर भी यह रस मत के अनुयायियों में धड़ल्ले से चल रहा है। इससे क्या अनुमान न लगाया जाय कि अभिव्यंजनावाद का शुक्ल जी द्वारा किया गया विरोध केवल विरोध के लिए है? उन्होंने इस मत के प्रवर्तक क्रोसे की समस्त आपत्तियों को एक किनारे रखकर केवल 'अभिव्यंजना' शब्द मात्र पकड़ लिया है। इस प्रकार तो किसी भी काव्यवाद का खण्डन किया जा सकता है। किन्तु ऐसे खण्डन का क्या मूल्य है, यह तो हम समझ ही सकते हैं।

यदि शुक्ल जी यह कहें कि अभिव्यंजनावाद की भित्ति स्वभावतः निःशक्त है क्योंकि यह काव्य की मानसिक भूमि और सामाजिक आधार का लेखा नहीं लगाती, उनसे असंपृक्त रहती है, तो हम यह कहेंगे कि क्रोसे और अन्य कलावादियों का यह पक्ष ही नहीं था। शुक्ल जी का 'लोकधर्म' भी जीवन के प्रगतिशील स्वरूपों का आकलन नहीं करता। वह रूढ़िबद्ध होकर श्रेष्ठ काव्य की पहचान में असफल सिद्ध हुआ है। इसका कारण यही है कि इस सिद्धान्त के पीछे शुक्ल जी ने काव्य के निर्माणात्मक और

मानसिक उपकरणों की पूरी अवहेलना की है। साथ ही समय या युगविकास की ओर भी उनका ध्यान नहीं था।

हिन्दी में भी 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' तक तो ख़ैरियत थी, पर जब से 'देव नभमंडल समान है कवीन मध्य' आदि शुरू हुआ तब से स्थिति चिन्ताजनक हो गई। इस समस्त अनर्गल प्रलाप के दो ही कारण देख पड़ते हैं। एक तो रस-सम्प्रदाय का प्रचलन और दूसरे जीवनमय समीक्षा-शैली का अभाव। इस सम्बन्ध में रस-सम्प्रदाय को अपनी जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ेगी। आधुनिक कुछ आलोचकों ने रस-सम्प्रदाय और अलंकार-सम्प्रदाय के बीच यथार्थ से कहीं बड़ा काल्पनिक भेद खड़ा करने की चेष्टा की है और आपस में तू-तू, मैं-मैं का लग्गा लगाया है पर इससे उनका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। रद्दी से रद्दी, भ्रष्ट से भ्रष्ट कविता की जाती रही और रस-सम्प्रदाय अकर्मण्य होकर उसे प्रोत्साहन देता रहा। काव्य-दोषों में अश्लीलत्व आदि दो-एक शब्द जोड़ देने से ही काम नहीं चल सकता, रसवाद ने अपने संरक्षण में निम्न से निम्न कवियों को प्रश्रय दिया है। उसने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया और प्रतिकार करना उसकी सीमा के भीतर भी नहीं था।

आधुनिक युग में कवि के मस्तिष्क एवम् कला का क्रमबद्ध विकास जानने की, उसके व्यक्तित्व एवम् परिस्थितियों से परिचित होने की और उसकी कृति का एक संश्लिष्ट चित्र खींचने की चेष्टा की जाती है। काव्य-समीक्षा के दृढ सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की गई है और समीक्षा-विज्ञान की भी सृष्टि हो रही है। सामयिक जीवन का अध्ययन किया जाता, युग के प्रधान आदर्शों और समस्याओं का पता लगाया जाता और साहित्य पर उसके प्रभाव का अन्वेषण और निरीक्षण किया जाता है। मनोविश्लेषण शास्त्र ज्यों-ज्यों प्रौढ होता जा रहा है त्यों-त्यों वह काव्य-विवेचन में अधिक उपयोगी प्रमाणित हो रहा है। रस-पद्धति की विश्लेषण-क्रिया से आधुनिक समीक्षाकार विशेष लाभ नहीं उठा पाता। एक-एक पंक्ति अथवा चार-चार पंक्तियों में रस ढूँढ़ने की क्रिया अब पुरानी पड़ गई है। सैकड़ों-सहस्रों नायक-नायिकाओं के भेदों को जनजीवन से अलग करके देखने में क्या रक्खा है? प्राचीन सिद्धान्त के साथ 'लोकधर्म' का साहचर्य कराकर शुक्ल जी ने उस परिमार्जित-स्वरूप अवश्य दिया है पर उसे कलात्मक मनोवैज्ञानिक और प्रगतिशील वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने में शुक्ल जी समर्थ नहीं हुए हैं। उन्होंने एक सिद्धान्त के पीछे काव्य के निर्माणात्मक उपकरणों, मानसिक अवयवों और सामाजिक चेतना की

पूर्ण उपेक्षा की। और लोकधर्म भी उनका एक गतिहीन निरूपण ही सिद्ध हुआ, कोई प्रगतिशील और जागरूक स्वरूप उसे न मिल सका। नियमों की स्थिरता और एकरूपता ने उसके प्रति विद्रोह उत्पन्न कर दिया है।

आचार्य शुक्ल जी कहते हैं कि वे अभिव्यक्तिवादी हैं। उनका कहना है कि यह अनन्त रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है, हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। वे व्यंग्य करते हैं कि जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव-सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं, उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अन्धकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। यह भी सही। किन्तु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ-डेढ़ सौ नायक-नायिकाओं का गोरखधन्धा तथा अनेकभावात्मकता के बदले एक स्थूल, अगतिशील नीतिचक्र ही हाथ लगेगा।

यह अभिव्यक्तिवाद व्यवहार में आने पर लघुचित्रवाद बन जाता है। भिन्न-भिन्न रूप-चेष्टाएँ जब भिन्न-भिन्न भावों को अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं तब सबका छिन्न-भिन्न हो जाना उचित ही है। एकतान भावनाओं के प्रसार का कोई साधन नहीं रह जाता।

इसका कुछ प्रबन्ध करना ही होगा अन्यथा अभिव्यक्तिवाद बेकार हो जायगा। आधुनिक युग विराट् भावनाओं का युग है। विश्वबन्धुत्व, विश्वैक्य आदि के आदर्श प्रचलित हुए हैं। कविताएँ भी उसी के अनुरूप होंगी और काव्य समीक्षा को भी उतना ही व्यापक और सतर्क बनना होगा। बाबू जयशङ्कर प्रसाद की एक कविता देखिए—

तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक-छिपकर चलते हो क्यों?
नत-मस्तक गर्व वहन करते यौवन के घन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों?
बेला विभ्रम की बीत चली, रजनीगंधा की कली खिली
अब सान्ध्य मलय आकुलित दुकूल कलित हो यों छिपते हो क्यों?

अभिव्यक्तिवादी इस कविता के 'तुम' की तलाश करेगा ही और उसे अभिव्यक्त करेगा ही। 'लाज भरे सौन्दर्य' तक आते-आते लिङ्ग-विपर्यय आदि के दोषों से

लदकर कविता मध्यम श्रेणी की बन जायगी और अन्त में आकर कह दिया जायगा कि वह छायावाद की कविता है, अप्रासादकता से भरी है। परन्तु लघुचित्रवाद (अभिव्यक्तिवाद) से ऊपर उठकर विराट् चित्र देखिए। 'कनक-किरण के अन्तराल' की उज्ज्वलता का निर्वाह 'मधुसरिता-सी हँसी कैसी' उत्तम रीति से करती है! रूप-सौन्दर्य का यह शब्द-चित्र सूक्ष्म कल्पनाओं की योजना से रहस्योन्मुख हो गया है। स्थूल रूप की नहीं, चेतन चेष्टाओं की झलक देखिए और बन पड़े तो मुग्ध होइए। यह सौन्दर्यजन्य रहस्यवाद की एक सुन्दर कविता है।

'प्रसाद जी' की ही एक अन्य कविता में प्राकृतिक रहस्यवाद देखिए—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु-से पङ्ख पसारे शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।

अभिव्यक्तिवादी इस 'मधुमय देश' की तलाश में उसी तरह व्याकुल होंगे जिस तरह शेक्सपियर के Forest of Arden की तलाश में उसके कुछ समीक्षक। परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि वे जब तक अपने लघुचित्रवाद को नहीं छोड़ते तब तक उस ईप्सित देश का पता नहीं पा सकते।

इस अभिव्यक्तिवाद को शुक्लजी ने दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में तो उपस्थित किया ही है, इसे ही उन्होंने काव्य के रूप का विधायक और उसके उत्कर्ष की माप भी मान लिया है। फलतः काव्य अपनी मौलिक सत्ता खोकर एक दार्शनिक वाद के घेरे में घिर गया है। काव्य की सार्वजनीन रसानुभूति जो सब वादों से ऊपर है, शुक्लजी के नीति-चक्र के फेर में पड़ गई है। काव्य में साधारणीकरण के स्वरूप का निर्देश करते हुए उन्होंने राम के निरूपण में ही रस की सत्ता मानी है, रावण के निरूपण में नहीं। स्पष्ट है कि काव्य के ऊपर नीति का स्थूल शासन शुक्लजी नहीं छोड़ सके और भारतीय काव्य-शास्त्रियों के रसतत्त्व की ऊँचाई को नहीं छू सके।

———

प्रो० रामचन्द्र शुक्ल (३)

——o:*:o——

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हिन्दी में द्विवेदी-युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का निमित्त हुआ। जिस नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी-युग प्रतीक है, उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की, जिससे हिन्दी में एक नये युग का प्रवेश हुआ। अपने युग की नैतिक, आदर्शात्मक और बौद्धिक प्रगतियों की पुष्टि के लिए शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस और जायसी के पद्मावत को चुना जो दोनों ही महाकाव्य हैं, जिनमें स्वभावतः बाह्य-जीवन की परिस्थितियों का बाहुल्य है, जिन्हें आवश्यकतानुसार शुक्लजी अपने उपयोग में लाये हैं। इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास को भी अपनी काव्य-मीमांसा के लिए छाँटा और उनके काव्य को अपने नीतिमूलक आदर्शवादी विचारों के साँचे में ढालना चाहा, किन्तु इस कार्य में उन्हें आंशिक सफलता ही मिल सकी है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि सूरदास जी न तो कोई कथाकार हैं, जिनमें बाह्य-जीवन का वैविध्य देखने को मिले और न वे द्विवेदी-युग की नैतिक या बौद्धिक मर्यादा के कायल हैं। प्रेम के तराने अलापनेवाला कवि वैसी किसी मर्यादा का कायल हो भी नहीं सकता—आत्म-समर्पण की मर्यादा तो पूर्ण समर्पण में ही है। इसलिए शुक्लजी ने वहाँ ऐसी गौण बातों की जिज्ञासा से ही सन्तोष कर लिया है कि गोपीकृष्ण प्रेम के आविर्भाव की परिस्थितियाँ कैसी हैं, महलोंवाला विलासी प्रेम तो उनका नहीं है, आदि-आदि। अवश्य ही यह द्विवेदी-युग की दार्शनिकता के अनुकूल है, किन्तु सूरदासजी के सङ्गीत का माधुर्य इन जिज्ञासाओं से ही व्यक्त नहीं हो सकता। न वह इनका अपेक्षी ही है। उसकी माप तो उसके स्वरों में ही छिपी है और छिपी है वह हमारे संवेदनशील हृदयों में। भावात्मक अथवा रहस्यात्मक काव्य बाहरी दुनिया की अपेक्षा हृदय की टोह पर ही अधिक अवलम्बित है। अवश्य ही यदि हृदय सच्चा है तो बाहरी दुनिया भी उसकी महत्ता स्वीकार करेगी, यद्यपि मूर्त व्यापारों, परिस्थितियों और व्यवहारों में व्यस्त रहनेवाली बुद्धि हृदय की गहराई की थाह और उसके निगूढ स्रोतों से उत्सर्जित होनेवाले

स्वच्छ और विशुद्ध जीवन-रस का आस्वाद जरा देर से ही पा सकेगी। यही हाल शुक्लजी का भी है। वह एक उच्च कोटि के सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ हैं इसमें तो सन्देह नहीं, पर वे अपने युग की बाह्य, आदर्शवादी नीतिमत्ता के हामी होने के कारण व्यवहारों का जो व्यक्त सौन्दर्य देखना चाहते हैं वह उतनी प्रचुर मात्रा में न तो सूरदास जी में ही मिलता है और न आधुनिक छायावाद या रहस्यवाद के काव्य में ही। यही कारण है कि वे एक ओर गोस्वामी तुलसीदास और उनके 'मानस' महाकाव्य के सामने सूरदासजी के भाव भरे पदों को स्थान नहीं देते और दूसरी ओर नवीन समुन्नत गीतकाव्य के ऊपर ऐसी साधारण प्रबन्ध-रचनाओं को रखना चाहते हैं जैसे काव्य में 'नूरजहाँ' या 'हल्दीघाटी' अथवा गद्य में 'शेष स्मृतियाँ'। जायसी बेचारे बीच में पड़ गये हैं। एक ओर तो वे प्रबन्ध- कथानक के रचयिता हैं और दूसरी ओर रहस्यवादी। मैं कह सकता हूँ कि शुक्लजी ने उनकी प्रबन्ध-पटुता की जितनी प्रशंसा की है और बाह्य जीवन-व्यापारों का जितना विवरण दिया है, उनके रहस्य-वाद की ओर वे उतने आकृष्ट नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि जायसी के बदले उन्हें कोई मुक्तककार रहस्यवादी सूफ़ी कवि दे दिया जाय तो वे उसकी कितनी क़द्र करेंगे। मेरा अपना अनुमान तो यही है कि हाफ़िज़, रूमी या शेख सादी जैसे बड़े-से बड़े कवि भी उन्हें नहीं जँचेंगे, क्योंकि वे शुक्लजी की बँधी हुई परिपाटी पर नहीं चले हैं। उनकी रुचि और परख में वे पूरे नहीं उतर सकते।

रामचरित-मानस के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्लजी सब से अधिक आकृष्ट हैं, वह है लोक-धर्म का आदर्श। समाज में सभी व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति किसी न किसी सम्बन्ध-सूत्र से बँधे हुए हैं। इन समस्त सम्बन्धों का निर्वाह समाज के सुचारु संचालन के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु सुचारु संचालन तभी सम्भव है जब सभी लोग अपने-अपने कर्तव्य को समझें। इन कर्तव्यों की बड़ी ही सुन्दर और आदर्श प्रतिष्ठा राम-चरित्र में पाई जाती है। दूसरे शब्दों में लोक-धर्म का बड़ा ही उत्कृष्ट निरूपण उक्त काव्य में किया गया है अवश्य ही वह निरूपण आदर्शात्मक है, क्योंकि उसमें सर्वत्र कर्तव्य-पक्ष की ही प्रधानता है। किसी को अपने अधिकारों का ध्यान नहीं रखना, सब को कर्तव्य का ही पालन करना है। इसी आदर्शात्मक लोक-धर्म में शुक्लजी की वृत्ति रम गई है, इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार-धर्म मानने लगे हैं।

इस लोक-धर्म की दो विशाल बाहुएँ हैं—सत् की रक्षा और असत् का दलन। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अव-तार का प्रयोजन बताया है। शुक्लजी इन दोनों पक्षों के पूरे हिमायती हैं। मानव-जीवन

का सौन्दर्य इन उभय पक्षों के पूर्ण परिपालन में ही है, किन्तु साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस के लोक-धर्म की नीव एकमात्र कर्तव्य-निष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसमें अधिकारों और कर्तव्यों का दोहरा पक्ष नहीं है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ व्यक्ति की दृष्टि से यह पूर्ण त्यागमय धर्म है। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही अनासक्त कर्म-योग कहते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि यह पाश्चात्य व्यावहारिक दर्शन नहीं है जिसमें कुछ लेकर कुछ देना पड़ता है, यह है भारतीय कर्म-योग जिसमें व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वार्थ-त्याग (**सब कुछ देना**) **और सर्वस्व समर्पण ही धर्म कहलाता है।**

रामचरितमानस के इस वैयक्तिक त्यागमय पक्ष का जब तक पूर्णतः उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक कर्तव्य-पक्ष को उसकी उचित आभा नहीं मिल सकती। शुक्ल जी ने वैराग्यमूलक निष्क्रिय (!) अध्यात्म के मुक़ाबिले इस क्रियाशील लोकधर्म की आवाज़ उठाई है जो सुनने में बड़ी सुहावनी मालूम देती है, किन्तु उन्होंने भारतीय लोक-धर्म की त्यागमूलक भित्ति का यथेष्ट विवरण हमारे सामने नहीं रक्खा। वे एक प्रकार से इसकी उपेक्षा भी कर गये हैं जिसके कारण भारतीय-प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की एक ही भूमि पर खड़ी हुई दार्शनिक शाखाएँ शुक्लजी द्वारा परस्पर विरोधिनी बना दी गई हैं। स्वार्थ या आसक्ति का त्याग प्रवृत्ति के मूल में भी है और निवृत्ति के मूल में भी। दोनों का आधार एक ही है किन्तु शुक्लजी ने आधार के इस ऐक्य की ओर ध्यान न देकर निवृत्ति और प्रवृत्ति, ज्ञान और कर्म, व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म दोनों को एक दूसरे का विरोधी बना दिया है। अवश्य ही शुक्लजी का यह दार्शनिक विपर्यय भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के लिए अन्यायपूर्ण हो गया है।

मैं यह नहीं कहता कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्गों में कोई अन्तर ही नहीं है और न यही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि निवृत्ति-मूलक अध्यात्म का हमारी राष्ट्रीय अवनति से कोई सम्बन्ध नहीं (यह तो विषय ही उपस्थित नहीं)। मेरा कहना इतना ही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के दोनों ही मार्ग पूर्ण व्यक्तिगत त्याग पर अवलम्बित हैं और दोनों का दार्शनिक समन्वय भारतीय धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध है। रामचरितमानस भी भारतीय धार्मिक परम्परा का ग्रन्थ है। इसलिए वह भी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं मानता। यदि शुक्लजी ने इस परम्परा का यथोचित ध्यान रखा होता तो वे इन दोनों का वैषम्य इतनी कट्टरता के साथ न दिखा पाते। भारतीय धर्म और विशेषकर मध्यकालीन वैष्णव धर्म, ज्ञान भक्ति और कर्म को एक ही दार्शनिक भूमि पर

प्रतिष्ठित करता है, यद्यपि आचार्यगण रुचि-वैभिन्य के कारण एक या दूसरे को प्रमुखता अवश्य देते हैं। शुक्लजी ने उनकी दार्शनिक मान्यता को स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की।

इसी का परिणाम यह हुआ कि सारा मध्यकालीन भक्ति-काव्य शुक्लजी द्वारा दो कटघरों में बन्द कर दिया गया है। उन्हें हम संक्षेप में व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म के कटघरे कह सकते हैं (ये उन्हीं के शब्द हैं)। आश्चर्य है कि इस प्रकार का वर्गीकरण शुक्लजी ने किया है जब कि वास्तव में दोनों ही एक-दूसरे मे बहुत अंशों तक अनुप्रेरित हैं और दार्शनिक विचारणा में भी एक-दूसरे के समकक्ष हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि शुक्लजी का वैष्णव-साहित्य का अध्ययन परम्परा-प्राप्त मान्यताओं के अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने कृत्रिम विभेदों का आग्रह किया है और काव्यालोचना में भी एक वर्ग को व्यर्थ नीचा देखना पड़ा है। मेरा यह विश्वास है कि द्विवेदी-युग की नैतिकता और आदर्शवादिता का ही यह परिणाम है कि शुक्लजी सूर और तुलसी के बीच, जिनमें एक-सी ही महान् प्रेरणाएँ उपलब्ध हैं, एक खाई खींच लेते हैं और यही कारण है कि वे आधुनिक काव्य के प्रति भी ऐसा ही वर्गीकरण कर डालते हैं।

अवश्य ही यह अधिकार सब को है कि वह अपनी नई दृष्टि से प्राचीन वस्तु की परीक्षा करे, किन्तु वह परीक्षा समीक्षा तभी कहायेगी जब वह निष्पक्ष हो और उस वस्तु की चौहद्दी का ठीक-ठीक निरूपण करती हो। काव्य की समीक्षा में तो यह कार्य अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि देशकाल के स्थूल बंधन और आवरण यहाँ कम हैं, किन्तु अन्य पहलुओं का अध्ययन तो बहुत ही सतर्क दृष्टि से करना चाहिए। शुक्लजी ने काव्य विवेचन में सम्यक् तटस्थता का परिचय नहीं दिया और न मध्यकालीन वैष्णवधर्म की आधार-भूमि को समझने में सहायता पहुँचाई है। अवश्य ही उनके नवीन दर्शन का अपना विशेष महत्त्व हो सकता है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने प्राचीन काव्य का दार्शनिक अथवा साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने में पक्षपात-रहित मनोयोग दिखाया है।

तो शुक्लजी का वह नवीन दर्शन क्या है? सब से पहले ही हम देखते हैं कि वह नवीन दर्शन है प्रवृत्ति और निवृत्ति, व्यक्ति-धर्म और लोक-धर्म को परस्पर विपरीत दार्शनिक विचारणा का परिणाम बतलाना और प्रवृत्ति तथा लोक-धर्म के पक्ष में उत्साहपूर्ण आन्दोलन करना। सच पूछिए तो ऐसा करके शुक्लजी ने सम्पूर्ण आध्यात्मिक काव्य की मूल प्रेरक-शक्तियों का विघटन कर दिया है। अवश्य ही रामचरितमानस भी उनमें से एक है। यह मानने के लिए हम सभी तैयार होंगे कि महाकाव्य की कर्मण्यता

और गीतों की भावमयता में अन्तर होता है और यही अन्तर मानस और सूर-सागर में भी है, किन्तु मानस की क्रिया और सूर-सागर की भावना की प्रेरक शक्तियाँ एक-दूसरे के बहुत निकट हैं—इस पर शुक्लजी ने यथेष्ट विचार नहीं किया। वह प्रेरक शक्ति है आध्यात्मिक इष्ट के प्रति उच्चकोटि का आत्मोत्सर्ग। यह आत्मोत्सर्ग ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों दिशाओं में साधक को ले जाता है। सूर को यह एक ओर ले गया है तुलसी को दूसरी ओर।

किन्तु शुक्ल जी जिस अर्थ में प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं वह है 'स्पिनोजा' की निरन्तर गतिशील प्रवृत्ति। आप जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता बतलाते हैं और इस सत्ता को निरन्तर परिणामशील ठहराते हैं। गति ही शाश्वत है, किन्तु यह गति क्या किसी नियम से परिचालित है? शुक्लजी का लक्ष्य गति या प्रवृत्ति का ही आग्रह करना है यद्यपि उन्हें मालूम पड़ रहा है कि वे कितनी कच्ची ज़मीन पर हैं। तभी तो उन्होंने शाश्वत प्रगति के दो भाग कर दिये—प्रवृत्ति और निवृत्ति और इन दोनों के बीच में एक वृत्ति और स्थापित की—रागात्मिका वृत्ति। यह सारा प्रयास शुक्लजी का अपना निजी है और यह द्विवेदी-युग की स्थूल नैतिकता को अस्लियत का जामा पहनाने के लिए है।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि जहाँ एकमात्र प्रगति ही, प्रवृत्ति ही तत्त्व है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए स्थान कहाँ? और यह तीसरा तत्त्व रागात्मिका वृत्ति क्या है? इसका स्वरूप क्या है, क्या यह कोई शाश्वत पदार्थ है? यहाँ हमारा ध्यान नवीन वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी दर्शनों की ओर आकृष्ट होता है जो भौतिक प्रगति और मानवी व्यवहारिक शक्तियों के बीच दार्शनिक अनुक्रम स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु उनकी योजनाओं और शुक्लजी की योजनाओं में सब से अधिक उल्लेखनीय अन्तर यह है कि वैज्ञानिक योजनाएँ अपने को व्यवहारिक सत्य कहकर घोषित करती हैं और समय के साथ-साथ नये सांस्कृतिक पहलुओं को ग्रहण करती रहती हैं, जब कि शुक्लजी एक युग-विशेष के आदर्श को शाश्वत कहकर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसे दो शाश्वत नैतिक आदर्शों की स्थापना वे न करते और न उन स्थूल विभागों के बीच एक नित्य रागात्मिका वृत्ति को अधिकार कर लेने देते।

और यदि हम यह मानें कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शाश्वत नहीं हैं और रागात्मिका वृत्ति भी सार्वजनीन नहीं है अर्थात् वे तीनों ही देश-काल और व्यक्ति के अनुसार विभिन्न रूप और तथ्य धारण कर सकती हैं, तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि प्रवृति और

निवृत्ति की धारा किन नियमों के अधीन होकर चलती है और रागात्मिका वृत्ति का उनसे किन अवस्थाओं में कैसा सम्बन्ध होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार और नियमन भी सामाजिक प्रगति के साथ-साथ होता है या नहीं, होना चाहिए या नहीं ? जहाँ तक मैं देखता हूँ शुक्लजी ने इन प्रश्नों की बारीकी में घुसने की चेष्टा नहीं की है जिससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि शुक्लजी ने एक युग विशेष की प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही शाश्वत पैमाने पर देखा है और उनकी अन्तःकरणवृत्ति भी किसी विशिष्ट आधार पर स्थित नहीं। जिस ओजस्विता के साथ उन्होंने काव्यविवेचन में अपनी विशिष्ट रुचियों का परिचय दिया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति की स्थूल रेखाएँ क़ायम की हैं, उनसे इस धारणा की पुष्टि होती है।

मैं उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति की रेखाओं को स्थूल इसलिए कहता हूँ कि न तो वे भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति को भी उसके वास्तविक निवृत्ति-मूलक (त्याग या अनासक्ति-मूलक) स्वरूप में उपस्थित करते हैं और न आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञानियों की भाँति प्रवृत्ति का कोई सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक या व्यवहारिक आधार ही स्थिर करते हैं। अत्याचारी के प्रति रोष से आविष्ट और पीड़ित के प्रति दया से द्रवित होकर लोक-धर्म की जो प्रेरणा कर्तव्य रूप में विकसित होती है क्या उसका कोई सुव्यवस्थित आधार शुक्लजी ने निरूपित किया है? उदाहरण के लिए क्या उन्होंने मार्क्स की भाँति सामाजिक अत्याचार की कोई रूप-रेखा निर्धारित की है, अथवा क्या उन्होंने यह बताया है कि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों में अत्याचार की पहचान किस प्रकार की जाय? रावण अत्याचारी था किन्तु उसके अत्याचार किस प्रकार के थे, और उसका आशय क्या था? वह साधुओं और ऋषि-मुनियों की तपस्या में विघ्न डाला करता था, क्या इतना कह देना ही उसे अत्याचारी सिद्ध कर देता है? ये ऋषि-मुनि किन तपस्याओं में प्रवृत्त होते थे, उन तपस्याओं के विरुद्ध रावण का लक्ष्य क्या था? क्या रावण अनार्य सभ्यता का प्रतीक है, अथवा वह भौतिक ऐश्वर्य और भोगविलास का प्रतीक है? अथवा एक निरुद्देश्य आततायीमात्र है? शुक्लजी रावण को अधर्म का प्रतीक व्यक्ति मात्र मानते हैं जो स्थूल आचारवादियों का तरीक़ा है। इतना कहकर वे आगे की समस्याओं से छुट्टी पा जाते हैं। अधर्म है क्या वस्तु? वह क्रियाओं द्वारा पहचाना जाता है या उद्देश्यों-द्वारा? क्या किसी देश अथवा काल विशेष की बहुजन-मान्य प्रथा ही धर्म है अथवा धर्म का कोई शाश्वत स्वरूप भी है? इन तफसीलों में जाने की शुक्लजी ने आवाश्यकता नहीं समझी। कव्यालोचना के लिए यह

सब आवश्यक न भी हो किन्तु शुक्लजी कोरे काव्यालोचक नहीं हैं। उन्होंने लोक-धर्मवादी दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण पद भी अधिकृत किया है। अतः उनसे इन विषयों के विवेचन की आशा की जा सकती थी।

इसी प्रकार शुक्लजी ने यह भी नहीं बताया कि अत्याचारी अत्याचार के लिए क्यों सन्नद्ध होता है। क्या यह उसका सहज गुण है या यह समाज की ही देन है? और अत्याचार की प्रतिक्रिया में क्रोध का क्या स्थान है? क्या वह आवश्यक है? यदि आवश्यक है, तो अत्याचार के प्रति या अत्याचारी व्यक्ति के प्रति अथवा उस समाज या सिद्धान्त के प्रति, व्यक्ति में जिसकी अभिव्यक्ति हुई है? इन व्यावहारिक प्रश्नों की भी उन्होंने छान-बीन नहीं की। इस कारण हम उन्हें लोक-धर्म के आदर्श का पुजारी उसके महाकाव्योचित उदात्त स्वरूप का भक्त भले ही मान लें, लोक-धर्म का दार्शनिक विवेचक उन्हें बहुत ही स्थूल अर्थ में कहा जा सकता है।

रामचरितमानस आदर्श प्रधान काव्य है और उसकी राम-राज्य की कल्पना तो एकदम ही स्वर्गीय है। उसमें समाज के व्यावहारिक स्वरूपों और अवश्यम्भावी परिवर्तनों को कहीं भी स्थान नहीं। राम-राज्य का वर्णन और कलियुग का वर्णन एक साथ पढ़ने पर मध्यकालीन समाज व्यवस्था के सद्गुणों और दुर्गुणों का औसत लगाया जा सकता है। उससे हमें भी पता लगता है कि धर्म और अधर्म के अन्तर्गत समाज में किस प्रकार की रीतियाँ प्रचलित हो रही थीं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए गोस्वामीजी ने अच्छी सामग्री एकत्र कर दी है। किन्तु शुक्लजी ने राम-राज्य को राम-राज्य (सत्) और कलियुग को कलियुग (असत्) कहकर उन्हें विरोधी शिविरों में स्थान दे दिया है। कोई भी आधुनिक समाज-शास्त्री अथवा इतिहास का अध्येता इतनी आसानी से इस सारी सामग्री को किनारे नहीं लगा सकता जिस आसानी से शुक्लजी ने उसे चलता कर दिया है। इन सब निदर्शनों से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ वह यह है कि शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाज-शास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं जो आज की आलोचना का आवश्यक अङ्ग है।

यह तो हुई दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन की बात, जहाँ तक काव्य-विवेचन का प्रश्न है शुक्लजी ने सर्वथा असङ्ग होकर काव्य को नहीं देखा, व्यक्तिगत आदर्शों और विचारों की छाया से उसे ढक रखा है। मुक्तक काव्य, गीत आदि के प्रति उनके विरोधी संस्कारों का आभास हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्य के

आकार-प्रकार, उसमें निहित मानव-व्यापार के बाह्य स्वरूपों, वर्गीकरणों आदि से पृथक् करके केवल काव्योत्कर्ष की परख उन्होंने नहीं की। ऐसा उनका मन्तव्य है, यह भी प्रकट नहीं होता। इसी लिए उनका दार्शनिक अनुसन्धान, उनका काव्य-विवेचन और उनका सारा विचारात्मक साहित्य उनकी व्यक्तिगत रुचियों और प्रेरणाओं से ऊपर उठकर वैज्ञानिक श्रेणी में नहीं पहुँच सका।

फिर भी अपने युग के लिए शुक्लजी की साहित्यिक देन कितनी ज़बर्दस्त है इसका अनुमान इतने से ही किया जा सकता है कि यद्यपि वे प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं के विपरीत निर्देश करते आये हैं किन्तु आज भी वे उस काल के काव्य के प्रामाणिक विवेचक माने जाते हैं और उनकी देख-रेख में प्राचीन अनुसन्धान का कार्य भी होता रहता है (मेरा मतलब यहाँ प्राचीन काव्य के अनुसन्धान से है)। और यह भी उन्हीं के व्यक्तित्व का परिणाम है कि नवीन समुन्नत काव्य को अपना पैर जमाने के लिए (शुक्लजी के विरोध के बावजूद) लगातार पन्द्रह वर्षों तक अथक उद्योग करना पड़ा है। आज भी स्थिति यह है कि साहित्य और उसके आनुषंगिक विषयों पर अध्ययन के अधिक प्रशस्त रास्ते खुल जाने पर भी अब तक शुक्लजी ही साहित्य में अन्तिम वाक्य माने जाते हैं। यह सब मैं उनकी प्रशंसा में ही कह रहा हूँ। उनकी लिखी हुई पुस्तकें और उनके तैयार किये हुए विद्यार्थी (जिनमें मैं भी एक होने का गर्व करता हूँ) उनका सन्देश स्कूलों और कालेजों, पत्रों और पत्रिकाओं तथा व्यापक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में सुनाया करते हैं। इनमें से बहुत से तो उनकी प्रतिध्वनि मात्र हैं। शुक्ल जी के द्वारा हिन्दी का बड़ा हितसाधन हुआ है। गम्भीर विवेचन का उन्होंने ही सूत्रपात किया। कुछ लोग उनकी बातों को दोहराने में ही उनका सच्चा शिष्यत्व समझते हैं। किन्तु प्रतिध्वनि कभी मूलध्वनि की बराबरी नहीं कर सकती। उनका सच्चा शिष्यत्व तो है उनके किये हुए काम को आगे बढ़ाने में, जिस प्रकार स्वयं उन्होंने पिछले किये हुए काम को आगे बढ़ाया। नई काव्य-प्रगति को 'ब्लैक-चेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बल-सञ्चय में प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति जिस पर साहित्य का कुछ उत्तरदायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्यधारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता। शुक्लजी ने भी इस सम्बन्ध में पूर्ण संयम का परिचय दिया। अब आवश्यक यह है कि नई काव्य-शैलियों और नवीन प्रतिभा के अध्ययन और विवेचन के लिए साहित्य का द्वार खोल दिया जाय; युग विशेष के बन्धनों और साहित्यिक मान्यताओं को साहित्य की सार्वजनीन माप से बदल दिया जाय, नई सामा-

जिक प्रगति, नवीन समस्याओं और प्रश्नों के अनुरूप नये साहित्यिक सृजन और नवीन अध्ययन शैलियों का स्वागत किया जाय। इसमें तो सन्देह ही क्या है कि इस स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनीप्सित उच्छृङ्खलता भी साहित्य में आवेगी और बहुमुखी अध्ययन के साथ बहुत-सा वितण्डावाद भी फैलेगा, किन्तु इसके लिए हमें तैयार रहना होगा। कड़ा पहरा देना होगा, किन्तु द्वार हम नहीं बन्द कर सकते। द्वार बन्द करने का अर्थ तो होगा साहित्य को पुराने वातावरण में घुट-घुट कर मरने देना। ऐसा हम कदापि नहीं कर सकते। साहित्य हमारे जीवन का, हमारे प्राणों का प्रतिनिधि है। उसे नवीन जीवन से, नये वायु-मण्डल से पृथक् नहीं रखा जा सकता। जो मुसीबतें आवें उन्हें झेलना होगा; किन्तु जीवन की गति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। भिक्षुक आवेंगे इस भय से भोजन बनाना नहीं बन्द किया जा सकता। जानवर चर जायेंगे इस भय से खेती करना नहीं छोड़ा जाता। ये पुरानी कहावतें हैं और हमारे साहित्य में भी लागू होती हैं।

साहित्य काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु जिसे शुक्लजी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बन्धन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। (सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु उस सौन्दर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती)। इसका यह मतलब नहीं कि काव्यालोचक अपनी आलोचना में कुछ निष्कर्षों तक नहीं पहुँच सकता, मतलब यह है कि आलोचक अपनी आलोचना के पहले किसी निष्कर्ष विशेष का प्रयोग नहीं कर सकता। उसका पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसन्धान। इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धान्त-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धान्त तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं। अवश्य प्रत्येक कला-वस्तु में सौन्दर्य-सज्जा के अलग-अलग भेद होंगे, उनकी भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी और सम्भव है उन कृतियों के भिन्न-भिन्न दार्शनिक आधार भी हों, किन्तु हमारा काम यह नहीं है कि अपनी अलग रुचि और अलग मत बनाकर काव्य-समीक्षा में प्रवृत्त हों, क्योंकि तब तो हम उसका सौन्दर्य न देखकर अपने मन की छाया उसमें देखने लगेंगे। यह कला आलोचना की बहुत बड़ी बाधा है। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि किसी भी सिद्धान्त के सम्बन्ध में कभी

मतैक्य नहीं हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौन्दर्य के सम्बन्ध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।

शुक्लजी का पहला ही सिद्धान्त-जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति—कला में स्थूल रूप-चित्रण का पृष्ठपोषक बन गया है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सारा-का-सारा सूफ़ी काव्य क्या है? रास आदि अनुपम लीलाओं का वैष्णव कवि-कृत चित्रण क्या है? संसार की सुप्रसिद्ध 'मेडोना' की मूर्ति जिसके प्रतीक, जिसकी मुद्राएँ, जिसके रङ्ग सभी अलौकिक तत्त्व का निर्देश करते हैं, क्या हैं? क्या यह अलौकिक तत्त्व उसमें अभिव्यक्ति का विषय नहीं बन सका? संसार का सम्पूर्ण समुन्नत काव्य अलौकिक तत्त्व को व्यञ्जित करता है। (यही हमारे यहाँ के इस सिद्धान्त का निरूपण है) किन्तु शुक्लजी जिस सिद्धान्त-विशेष से आबद्ध हैं, उसमें इन मार्मिक अनुभूतियों के लिए सम्भवतः स्थान ही नहीं है वहाँ स्थान है महाकाव्य के व्यक्त घटनाक्रम, स्थूल चरित्र-सृष्टि और आदर्श-निरूपण के लिए। शुक्लजी ने इस प्रकार काव्य के बृहद्-अंश और अत्यन्त उत्कृष्ट अंश को अपने सिद्धान्त की वेदी पर बलि कर दिया है। मैं यह नहीं कहता कि अव्यक्तवाद ने सदैव उत्कृष्ट कला की ही सृष्टि की है (किसी भी वाद की सब सृष्टियाँ एक-सी नहीं होतीं), किन्तु कुछ सर्वोच्च कोटि की सृष्टियाँ अव्यक्त तत्त्व से अनुप्रेरित अवश्य हुई हैं। काव्य और कलाओं के प्रेमी इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं।

और उनका दूसरा सिद्धान्त—जीवन की विस्तृत व्यवहार दशाओं में कला का पूर्ण प्रस्फुटन—यह केवल घटना-परिस्थिति-बहुल महाकाव्य के ही अनुकूल है। किन्तु कथानक काव्य में कितना रस कथा का है और कितना वास्तविक काव्य का, इसकी भी हमें टोह लगानी होगी। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कथा से अथवा कथा-सूत्र से ही भावों को उच्छ्वसित करने की प्रथा कविजन पकड़ लेते हैं, किन्तु वास्तविक कवि-कर्म इतना ही नहीं है। मनोवेगों का जो उत्थान और काव्य-चरित्रों का जो निर्माण केवल कथा या घटना के सहारे होता है, वह उतना समृद्ध नहीं बन सकता जितना उससे तटस्थ होने पर। चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास किसी पूर्व-निश्चित कथा के आश्रय से नहीं कराया जा सकता। मन एक स्वतन्त्र वस्तु है, उसकी सूक्ष्म गतियों का निरूपण करना भी कवि का ही काम है। किन्तु इस काम को वह कथा को प्रधानता देकर नहीं कर सकता। शुक्लजी ने महाकाव्य के साथ एक और पंख लगा दिया है—नायक में शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा। अवश्य यह परम्परागत महाकाव्य का लक्षण हो सकता है (नायक का धीरोदात्त होना), किन्तु कोई भी

काव्य किसी नियम से बाँधा नहीं जा सकता। फ्रान्सीसी और रूसी क्रान्ति की प्रेरणाओं से बहुत-सी साहित्य-सृष्टियों के नायक कुरूप और दुःशील हैं फिर भी उनके प्रति पाठक की परिपूर्ण सहानुभूति प्राप्त होती है। और शक्ति के सम्बन्ध में यह कहना अधिक असंगत न होगा कि केवल सुखान्त काव्यों के नायक शक्ति के पूर्ण स्रोत हुआ करते हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त महानाटकों की अबला नायिकाएँ अपनी निःशक्तता, अपनी विवशता में ही शक्ति का उत्फुल्ल विकास दिखा देती हैं। उन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि शक्ति, शील और सौन्दर्य की पराकाष्ठा कला का कोई अनिवार्य अङ्ग है। अवश्य रामचरितमानस के नायक में ये तीनों अवयव उपस्थित हैं, किन्तु इसी कारण हम सर्वत्र इन्हीं का अन्वेषण करें यह भ्रान्ति काव्यालोचना से दूर हो जानी चाहिए।

शुक्लजी का एक तीसरा सिद्धान्त जो इसी से सम्बद्ध है प्रवृत्ति और निवृत्ति का सिद्धान्त है। उसकी दार्शनिक परीक्षा का प्रयास ऊपर किया जा चुका है। काव्य में इस प्रवृत्तिऔर निवृत्तिका स्वरूप हमें रामचरितमानस के आदर्शों को लेकर देखने को मिलता है। राम का चरित्र जहाँ तक है, वहाँ तक हमारी प्रवृत्ति है, रावण का चरित्र जहाँ तक है वहाँ तक निवृत्ति है। उसे हम छोड़ना चाहते हैं। जो वृत्ति हमें राम की ओर लगाती और रावण से अलग करती है वही रागात्मिका वृत्ति है। जहाँ ऐसे दो विरोधी चरित्रों का प्रश्न हो वहाँ तो इससे काम चल जाता है। किन्तु काव्य में ऐसे भेद सर्वत्र देखने को नहीं मिलते। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते कि दो पात्रों में कौन हमारी सहानुभूति का अधिक अधिकारी है और रचयिता के लिए तो सभी पात्र एक से महत्त्वपूर्ण हैं। सभी में उसका कौशल व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूढ़िबद्ध विभाजन अशेष मानव-जीवन का सीमा निर्धारण करना ही होगा; जिसका समर्थन आज की साहित्य-मीमांसा किसी प्रकार नहीं कर सकती।

काव्य में प्रकृति के चित्रण सम्बन्धी शुक्लजी की धारणा और ग्रियर्सन-अनुयायी उनके मानवादर्शवाद के प्रति दो शब्द कहकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्ष, लता, पगडण्डी, पटपर, लम्बे मैदान, लहराती जलराशि, वर्षा की झड़ी, कोई पालतू या जंगली पशु हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं। अपेक्षाकृत नई चीजें जैसे आज की इमारतें, पार्क, मिल आदि इस कार्य में उतने ही सबल नहीं सिद्ध हो सकते। शुक्लजी का यह कथन एक स्वतन्त्र रचनाकार की हैसियत से समुचित हो सकता है, किन्तु कला की आलोचना

में ऐसा कोई सिद्धान्त लागू नहीं होता। किस रचनाकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है, वह कितनी गहरी सहानुभूति उत्पन्न करती है इसकी तो वह कृति ही प्रमाण है। इसके सम्बन्ध में न तो हम कोई सीमा पहले से बाँध सकते हैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं। अवश्य शुक्लजी की रुचि के अनुकूल प्रकृतिवादियों की एक परम्परा साहित्य में पाई जाती है, किन्तु उसमें भी सभी कलाकार एक श्रेणी के नहीं हुए। प्राकृतिक चित्रणों में शुक्लजी वाल्मीकि को अपना आदर्श मानते हैं। अवश्य ही वाल्मीकि की प्राकृतिक वर्णना हृदय-हारिणी है। अवश्य ही यह काव्य की एक उत्तम विभूति है। किन्तु आज का साहित्य-स्रष्टा जिन परिस्थितियों से होकर गुज़र रहा है, उसमें यह आशा हमें नहीं दिखाई देती कि वह निकट भविष्य में वन्य प्रकृति की रमणीयता की ओर उसी सहज गति से आकर्षित होगा जिससे वाल्मीकि हुए हैं। आज की हमारी समस्याएँ और आज का हमारा जीवन हमें उस ओर जाने का अवकाश ही नहीं देता।

ग्रियर्सन साहब ने रामचरितमानस की समीक्षा करते हुए यह कहा है कि मानस में राम जैसे उदात्तपात्र की अपेक्षा लक्ष्मण और कैकेयी जैसे मानवीय पात्रों का चित्रण आकर्षक हुआ है। शुक्लजी ने भी इस विषय में ग्रियर्सन का साथ दिया है। अवश्य, एक दृष्टि से इसे हम ठीक भी मान सकते हैं, किन्तु तब हमें रामचरितमानस के महाकाव्योचित गौरव की ओर से आँखें हटा लेनी पड़ेंगी और मानवीय चरित-चित्रण की दृष्टि से काव्य को देखना पड़ेगा। किन्तु क्या रामचरितमानस का प्रमुख तात्पर्य मानवीय चरित्र का प्रदर्शन करना है? इसे तो कोई भी मानस-समीक्षक स्वीकार न करेगा। गोस्वामी जी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में, स्थान-स्थान पर स्वयं ही अपने काव्य का उद्देश्य राम के अलौकिक चरित्र का निर्माण और उनके गुणों का गान करना बताया है। तो क्या हम उनके इस उद्देश्य की उपेक्षा कर सकते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए। मेरे विचार से ऐसा कहना बहुत बड़ी धृष्टता होगी। वैसी अवस्था में हमें ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता को छोड़कर रामचरित-मानस काव्य की मुख्य कला—अलौकिक रामचरित के निर्माण के प्रति आस्था नहीं खोनी होगी और उन समस्त कलात्मक सूत्रों को एकत्र करना होगा जिनसे तुलसी के मानस में अङ्कित राम का चरित्र अलौकिक पद पर पहुँच सका है—चरित्र की दृष्टि से भी और कला की दृष्टि से भी परिपूर्ण और सर्वोत्तम बन पाया है।

इसके लिये ग्रियर्सन की मानवादर्शवादिता के बदले गोस्वामी जी और वैष्णव-काव्य की आध्यात्मिकता को अपनाना होगा जो शुक्लजी ने नहीं किया। अन्त में हम

फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वाङ्गीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहनेवाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुक्लजी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, उसे हम पार कर चुके हैं। उस युग के सारे संस्कार—शैशव कालीन आदर्शवादिता, व्यक्त रूपों का सौन्दर्य, आचारों का दो हिस्सों में विभाजन आदि—हमें शुक्लजी में मिलते हैं। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण हैं। किन्तु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी-साहित्य-समीक्षा कर रही है।

——

प्रेमचन्द

—:o:—

प्रेमचन्द जी की निन्दास्तुति तो एक अच्छी मात्रा में की जा चुकी है, पर उनकी साहित्यकला का अध्ययन करके अभी किसी ने नहीं दिखाया। यह प्रेमचन्दजी का दुर्भाग्य है कि वे हिन्दी के ऐसे युग में उत्पन्न हुए हैं जिसने उन्हें उपन्यास सम्राट् की उपाधि दे रखी है पर शास्त्र की विधि से अभिषेक नहीं किया। यह विडंबना आधुनिक 'राजाबहादुर' आदि की आनरेरी डिग्री से कम व्यंग्यपूर्ण नहीं है, अपितु यह दुःखद और ग्लानिजनक भी है। यह एक अच्छा खासा प्रहसन है कि लोग आपको उपाधि देकर चुपचाप खिसक गये हैं और दबककर आपका तमाशा देख रहे हैं। इससे तो आपके विरोधी ही अच्छे जो आपके साथ विश्वासघात तो नहीं करते। उन्होंने कहा है कि आपको स्त्री-चरित्रों का चित्रण करने में सफलता नहीं मिली, आप अपने उपन्यासों के अन्त में प्रचारक बन जाते हैं, जिसमें पाठक कृत्रिमता का अनुभव करता है, आप ब्राह्मणों के विपक्षी हैं, आपको भाषा का बहुत ही साधारण ज्ञान है, आदि आदि। इनमें बहुत से आक्षेप बेठीक और सब के सब आपकी साहित्यकला की मूलरागिनी का ध्यान करते हुए बेसुरे हैं, पर इनमें कहीं प्रच्छन्न व्यंग्य तो नहीं है! परन्तु आपके अनुकूल समीक्षकों ने आपके लम्बे उपन्यासों को संक्षेप में लिखकर आह-आह, वाह-वाह के साथ मासिक पत्रिकाओं में छपा देने के अतिरिक्त और क्या किया है। जिस उपन्यास को लिखने में प्रेमचन्द जी को अपना वर्षों का समय और अमित शक्ति व्यय करनी पड़ी उसकी समीक्षा श्रीयुत रामदास गौड़ यों करते हैं कि उसका कथानक कहानी के रूप में लिखकर दो-चार फुटकर रिमार्कों के साथ प्रकाशित करा देते हैं! जनता समझती है कि यह उपन्यास की प्रशंसा है और प्रेमचन्द जी क्या समझते हैं यह मालूम नहीं। पर हम जिस रूप में साहित्य और उसकी समीक्षा को समझते हैं उस रूप में पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यास को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने की क्रिया (या कपाल-क्रिया!) उस उपन्यास और उपन्यासकार के लिए मर्मभेदी व्यंग्य है। ऐसे ही समीक्षकों ने प्रेमचन्द जी को उपन्यास सम्राट् का खिताब देकर उनका उपकार करना चाहा है और प्रेमचन्द जी भी फ़िलहाल उनके कृतज्ञतापाश में बँधे हुए हैं!

इतना विकट विभ्रम इसलिए सम्भव हो रहा है कि हिन्दी का यह युग विचार की पूँजी में दिवालिया है और प्रेमचन्द जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। क्या प्रेमचन्दजी

के प्रशंसक, क्या विरोधी और क्या स्वयम् प्रेमचन्द जी निर्लेप विचारभूमि में सध कर (Sustained) टिक ही नहीं पाते। इसलिए हिन्दी में इन दिनों लोग एक-एक टेक लेकर चलने लगे हैं। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए कोई ग़रीबी की टेक, कोई किसी सामयिक लोकप्रिय आन्दोलन की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते हैं। परन्तु इनके होते हुए भी विचारों का दैन्य छिपता नहीं है और कभी-कभी तो वह दयनीय दशा में दिखाई देता है। जब विचार ही नहीं हैं तब भावना की उड़ान भी थोड़ी ही होगी और वह भी अनिर्दिष्ट अवस्था में इधर-उधर पङ्ख फड़फड़ाती फिरेगी। प्रेमचन्द जी के समीक्षकों का यह कहना नितान्त अशुद्ध है कि वे ब्राह्मण-विरोधी हैं। उनमें विरोध का शुष्क विचार धारण करने की वह शक्ति ही नहीं है जिससे वे ब्राह्मण-विरोधी बन सकें। श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी का यह आरोप है कि प्रेमचन्द जी स्त्री-चरित्र अंकित करने में सफल नहीं हुए। परन्तु जोशी जी अभी शाखा ही तक पहुँचे हैं। मूल तत्त्व यह है कि प्रेमचन्द जी का कोई स्वतन्त्र स्वानुभूत दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का 'आदर्श' है। वही टेक जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। वह टेक जब सामाजिक क्षेत्र में आती है तब भ्रान्तिवश समीक्षक समझता है कि वे ब्राह्मण-विरोध कर रहे हैं, वह जब स्त्री-पुरुष की कहानी कहती है तब उसमें जोशी जी को त्रुटि देख पड़ती है और इसी प्रकार कुछ-न-कुछ विक्षेप समीक्षक लोग डाल ही देते हैं। पर हम तो देखते हैं कि प्रेमचन्द जी की धारणाभूमि से परिचित न होकर समीक्षकगण अपनी ही विचारहीनता प्रकट कर रहे हैं। सब से पहली आवश्यकता यह है कि प्रेमचन्द जी की टेक समझ ली जाय।

प्रेमचन्द जी के मानसिक सङ्घटन में कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। कथानक का स्थूल रङ्गरूप (technique) बनाने में जितनी स्वल्प कल्पना चाहिए, बस प्रेमचन्द जी में उतनी ही है। कवि में और उनमें कोसों का अन्तर है। अपने उपन्यासों में—विशेषकर 'सेवासदन' में—आपने जो उपमाएँ देने की चेष्टा की है, जिनकी संख्या आपकी कल्पना-शक्ति को देखते हुए ज़रूरत से ज्यादा हो गई है, उनसे ही प्रकट हो जाता है कि यह क्षेत्र आपका नहीं है। कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्द जी में तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फल-स्वरूप निर्माण होने वाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का भी अभाव है। प्रेमचन्द जी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। अध्यान द्वारा भी वे विचार-परिपुष्ट नहीं बन सके। उनके इस स्वभाव को समझने की चेष्टा हिन्दी-जगत् किस तरह करता, जब वह स्वयम् ही उसी स्वभाव का है। बिना इसके समझे समीक्षक को

कलम उठाने में संकोच करना चाहिए। पर सङ्कोच तो एक विचारजन्य क्रिया है जिसे हम हिन्दीवाले क्या जानें ! यहाँ तो विश्वविद्यालयों के अध्यापक तक सामयिक समाचारपत्रों की टिप्पणियाँ पढ़कर उन्हें दोहराते रहते हैं, अथवा जिन्हें कुछ स्वतन्त्र कलाम करने का शौक़ है वे कहते हैं "प्रेमचन्द जी की 'प्रेम-द्वादशी' में केवल 'बड़े घर की बेटी' कहानी अच्छी है क्योंकि इसके पढ़ने से आजकल की अँगरेज़ी पढ़ी-लिखी लड़कियों को शिक्षा मिल सकती है और उनका सुधार हो सकता है।" इस तरह के प्रसंग हिन्दी के सरस्वती-सदनों में जितनी संख्या में चाहिए मिलेंगे, और क्यों न मिलें जब आधुनिक हिन्दी की प्रकृति ही विचारक्षीणता की है। ऐसी परिस्थिति में प्रेमचन्द जी की कृतियाँ हिन्दी-समाज के सामने आई हैं कि उनसे उसकी तृप्ति हो गई है पर उस तृप्ति में न केवल प्रेमचन्द जी का विकास दब रहा है बल्कि हिन्दी संसार भी विचारों की दृष्टि से ऐसे अवसाद की दशा में पहुँच रहा है जैसे कोई अफ़ीम खाकर पहुँचता है।

लोग कहते हैं समय ने प्रेमचन्द जी का साथ दिया है; पर हम ऐसा नहीं समझते। सामायिक परिस्थिति में प्रेमचन्द जी को प्रसिद्धि मिली है उससे अधिक के वे अधिकारी थे। उनके विकास के जिन परमाणुओं को उनके समीक्षकों ने निरर्थक प्रशंसा के भार में दबा दिया है, यदि वे प्रस्फुटित हो पाते तो प्रेमचन्द जी को आज उन्हीं समीक्षकों का मुँह न ताकना पड़ता। वास्तविक बात यह है कि समय ने प्रेमचन्द जी का साथ उतना नहीं दिया, जितना प्रेमचन्द ने समय का साथ दिया है। सामयिक वाता-वरण से प्रेमचन्द जी इतना विशेष प्रभावित हुए हैं कि उनकी सहृदयता देखकर हम मुग्ध ही नहीं, आतङ्कित भी होते हैं। 'शेली' न पश्चिमी वायु (West-Wind) के साथ क्रीड़ा करने, उड़ चलने का कल्पना-स्वप्न ही देखा था, पर प्रेमचन्द जी सामयिक आँधी के साथ उड़ते देखे जा सकते हैं ! यह आत्म-समर्पण इतना प्रभावशाली है कि यह हममें प्रेमचन्द जी की प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। हम अभिलाषा करते हैं कि एक बार उड़ लेने के बाद वे अपनी आकाश-यात्रा के अनुभव बतलायेंगे। वे हम लोगों को यह परिचय करायेंगे कि उन्होंने वहाँ क्या क्या देखा-सुना और क्या इल्म हासिल किया। सारांश यह कि यदि वे हमें सामयिक परिस्थिति का कोई क्रमबद्ध निष्कर्ष दे सकें तो उसे प्राप्त कर हम उनके कृतज्ञ हों।

आज आप सामयिक पत्रों में जो चर्चा पढ़ चुके हैं कल प्रेमचन्द जी की कहानियों में उसे दुबारा पढ़िए। उपस्थित प्रसंगों पर जो भावमय निबन्ध लिखे जाते हैं

अथवा जो सम्पादकीय लेख छपते रहते हैं, प्रेमचन्द जी की कहानियाँ उन्हीं का दूसरा रूप हैं। यह दूसरा रूप प्रदान करने में—कहानी की टेकनीक खड़ी करने में—प्रेमचन्द जी को कमाल हासिल है, यह मुक्तकण्ठ से प्रत्येक समीक्षक स्वीकार करेगा। हमारा तो अनुमान है कि इतने सीमित क्षेत्र में इतना अधिक साहित्य-निर्माण करना प्रेमचन्दजी के कलाकौशल का निश्चित प्रमाण है और हम तो यह नहीं जानते कि संसार के किस दूसरे उपन्यासकार ने इतनी थोड़ी सामग्री से इतना विशाल साहित्य सृजन किया है। सामग्री थोड़ी नहीं तो और क्या है? सामयिक वातावरण कितना घिरा हुआ है, देश में सम्प्रति एक आँधी-सी चल रही है। सामूहिक आन्दोलन आँधी नहीं तो और क्या है? जो एक अर्द्धजाग्रत, अर्द्धनिद्रित सामूहिक चेतना कभी धूम्रवत्, कभी शिखा-सी दिखाई दे जाती है, यह उस आँधी की ही प्रज्वलित की हुई है। कुछ परम्पराएँ पेड़ों-सी उखड़ी जातीं, कुछ पत्तों-सी उड़ी जाती हैं। सागर में भी हिल्लोल हो उठा है जिससे कुछ बहुमूल्य मणिरत्न भी तट पर आ अटके हैं। तथापि है यह आँधी ही, इसलिए वे रत्नादिक न जाने किस दूसरे झोंके में विलीन हो जायँ। यह ऐसा अवसर आया हुआ है कि सामयिक विचार-प्रवाह धुँधला, अनिर्दिष्ट और स्थूल बन रहा है। कुछ थोड़ी-सी ज्योतिष्मती उपयोगिनी भावनाएँ जाग्रत हुई हैं जिन्हें दीवाली के रुपयों की भाँति 'जगाने' में ही सामयिक साहित्य की अधिकांश शक्ति लग रही है। हमारे पत्रों में नवीन उद्भावना के लिए स्थान नहीं है, समाज में भी सम्प्रति व्यक्ति की शतशः सहस्रशः निगूढ़ वृत्तियों के विकास का अवसर नहीं है। जो थोड़ी-सी आग बन पाई है वह बुझ न जाय यही दुश्चिन्ता सर्वोपरि हमारे मस्तिष्क में वास करती है। ऐसी परिस्थिति में यदि हमारा अधिकांश साहित्य छिछला और अल्पप्राण है तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। प्रेमचन्दजी ने पिछले 'जागरण' में जो लिखा है कि साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा भावों से अधिक है, उसका अर्थ यही है कि स्त्रियों के अधिकार, यथायोग्य विवाह, अछूत, किसान, सेवासंस्था, सामान्य पारिवारिक जीवन आदि से सम्बन्धित सौ-पचास सामूहिक भावों को उद्दीप्त करते रहिए और तर्क-वितर्क मत करिए। किन्तु प्रेमचन्दजी को यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिला है कि आज जो सौ-पचास भाव समाज के सतह पर आ गये हैं वे भी बुद्धिमान् व्यक्तियों की बुद्धिजन्य क्रिया के ही फल हैं। क्या कहानी-लेखक इन्हीं सतह पर आये हुए सौ-पचास भावों को लेकर बैठा रहे? समाज के अन्तरङ्ग जीवन में प्रवेश करने, उसका रहस्य जानने का प्रयत्न न करे? क्या वह इतने ही इनेगिने भावों के बीच चक्कर काटा करे, अपने बुद्धि-विवेक

से नई भूमि न तैयार करे? क्या आँधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण में वह स्थिति का अध्ययन नहीं कर सकता और उसके परिणाम हमें अवगत नहीं करा सकता?

साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं, यह उक्ति बहुत अधिक अर्थगर्भ है। बुद्धि केवल दर्शन, विज्ञान, नीति के लिए है यह और भी अनोखी बात है। बुद्धि, दर्शन, विज्ञान, नीति सब साहित्य के लिए है, यदि साहित्य मनुष्य के लिए है। केवल साहित्य की प्रणाली यह है कि वह बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान सब को रसमय बनाकर उपस्थित करता है। कला की पहली आवश्यकता यह है कि जो कुछ अभिव्यक्त किया जाय उसकी आकृति कलाकार के मस्तिष्क में स्पष्ट खिंच जाय। कलाकृति का प्रत्येक अंग—उपन्यास का प्रत्येक परिच्छेद—उसके रचयिता के सामने आरसी-सा दिखाई देना चाहिए। चिकने, रुखड़े, धुँधले, साफ़, सुन्दर-असुन्दर भाँति-भाँति के रूप जैसे भी व्यक्ति किये जायें, लेखक को प्रत्यक्ष होने ही चाहिए। उपन्यासकार अथवा कहानी-लेखक यदि अपने पात्रों की रुचि का, विकास का, प्रत्येक गति का अध्ययन नहीं करता रहेगा तो क्या वह अन्ध साहित्य की सृष्टि करेगा? साहित्य का सच्चे अर्थ में रसमय होना साहित्यकार की इसी अन्तर्दृष्टि पर अवलम्बित है। अभिव्यक्ति मात्र के लिए यह प्रारम्भिक आवश्यकता है कि कलाकार के मानस पटल पर उसका स्वरूप प्रकट हो; बाह्य जगत् को दिखाने के पहले स्वयम् ही वह उसके दर्शन करे। यह दर्शन कल्पना, बुद्धि, विवेक की साधनाशक्तियों के फलस्वरूप ही प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक कलावस्तु को बाहर से चाहे जितना रसमय बनाने का परिश्रम किया जाय जब तक उसके अन्तर में कृतिकार की चैतन्य आत्मा नहीं झलकती, जब तक विवेक-प्रसूत एक दर्शन रक्तप्रवाह की भाँति उस कलाशरीर को सजीवता नहीं प्रदान करता, तब तक क्या हम उसे सम्यक् अर्थ में कलाकृति कह सकते हैं? यह तो एक-एक कलाकृति की बात हुई। हम तो रचयिता की सम्पूर्ण कृतियों में एक अन्तर्निहित चेतनाधारा देखना चाहते हैं। वह धारा हमें प्रेमचन्द में नहीं मिलती। घटना-बाहुल्य और वर्णनों का अनावश्यक विस्तार उनमें बहुत अधिक है। इससे उनकी कला में स्थूलता आ गई है।

प्रेमचन्द जी की दृष्टि व्यक्ति पर न ठहरकर उसके भावों पर ठहरती है। व्यक्ति पर ठहरने के लिए जो बुद्धि चाहिए उस बुद्धि की वे साहित्य के लिए आवश्यकता नहीं समझते। परन्तु उसकी आवश्यकता के विषय में हमें सन्देह नहीं है। उस बुद्धि के अभाव में प्रेमचन्द जी व्यक्ति के अन्य अवयवों के साथ अन्याय करके भावों के साथ अतिन्याय करते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व में भाव ही तो सब कुछ नहीं है। उसके संस्कार

हैं, उसकी परिस्थिति, उसकी रुचि, उसका मानसिक सङ्घटन यह सब भी तो है; पर प्रेमचन्द जी केवल भावों से अपना मतलब बतलाते हैं और बहुत अंशों में रखते भी हैं। दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द जी मनुष्य की विविधता, उसके व्यक्तित्व के असंख्य यथार्थ रूपों से प्रीति नहीं रखते, केवल भावों को प्रोत्साहित करते हैं। अतएव प्रेमचन्द जी के उपन्यास-पात्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की अपेक्षा कथानक का प्रवाह अधिक है, वर्णन द्वारा वे प्रसङ्गों को रसमय बनाते हैं, चित्रण द्वारा कम। भावों की आँधी में वे पाठकों को उड़ाना चाहते हैं, पर योगस्थ पाठक यह देखते हैं कि उनके पात्र ही आँधी में उड़ रहे हैं। यह प्रेमचन्द जी की भावुकता का दृश्य है। बहुत कम रचनाओं में प्रेमचन्द जी स्थिर बुद्धि होकर पात्रों, घटनाओं और भावों के बीच निसर्गसिद्ध साम्य (Harmony) स्थापित कर सके हैं। बहुत कम कहानियाँ स्वतःप्रसूत, स्वतःविकसित और स्वतः समाप्त हो सकी हैं। जैसे फूल आप से आप खिलता और आप ही मुरझाकर गिर पड़ता है। पुष्प के विकास के समय जैसे उसके सब दल खुल पड़ते हैं, जैसे उसके अङ्ग-अङ्ग सब समान रूपमाधुरी से कमनीय हो उठते हैं, उस रूप में साहित्य के दर्शन प्रेमचन्द जी ने कम ही किये हैं; क्योंकि वे दर्शन का साहित्य से सम्बन्ध ही नहीं मानते। हमारे शास्त्रों में मुक्ति का अधिकारी व्यक्ति ही माना गया है, समूह नहीं। भावों का विकास व्यक्ति का ही आश्रय लेकर होता है, अतः यहाँ भी व्यक्ति ही प्रमुख है। किन्तु प्रेमचन्द जी साहित्य के लिए भाव को ही प्रमुख मानते और उसे रसमय बनाने के प्रयास में व्यक्ति को भावों का भारवाही भी बना देते हैं। चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला का सौष्ठव प्रेमचन्द जी में उच्चकोटि का नहीं हो पाया, इसका कारण वही 'टेक' या स्थूल आदर्शवादिता है।

ख़्वाजा हसन निज़ामी साहब ने दिल्ली की एक सभा में प्रेमचन्द जी का सत्कार करते हुए कहा था कि जिस ज़माने में हिन्दू और मुसलमान गुमराह होकर कट-मर रहे थे और हिन्दू-मुस्लिम नेता वैमनस्य की आग भड़का रहे थे, उस ज़माने में प्रेमचन्द जी दर्द भरी कहानियाँ लिखकर राष्ट्रीय प्रीति का संदेश सुना रहे थे। परन्तु ख़्वाजा साहब ने प्रेमचन्द जी का 'कायाकल्प' उपन्यास नहीं पढ़ा होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने पर सन् २४-२५-२६ में प्रेमचन्द जी हिन्दू-संघटन के नेता का रूप भी धारण कर चुके हैं। उस समय की वही रवैया थी। प्रेमचन्द जी भी समय के साथ थे। किसी प्रकार की कृत्रिमता लेकर नहीं, पूरी ईमानदारी के साथ उन्होंने समय का साथ दिया। यह ईमानदारी प्रेमचन्द जी

की बहुत बड़ी विशेषता है और यही उनके गौरव का मुख्य हेतु है। वे भीतर बाह
एक हैं। उनकी रचना-धारा उनकी मनोधारा के सर्वत्र समानान्तर बहती है
जो कुछ वे सत्य समझते हैं, सुन्दर समझते हैं, लिखते हैं। यह बात दूसरी है कि
सत्य और सुन्दर के सम्बन्ध में उनका कोई निष्कर्ष न हो। बल्कि जिस समय जो
प्रवाह है उसी में सत्य और सुन्दर की झलक वे देखने लगें। अभी उस दिन
श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी ने नारी की प्रकृति का उल्लेख करके उसे पुरुष की वशवर्तिनी
बताया था। उन्होंने किन्हीं देवी जी के किसी लेख के उत्तर में उसे लिखा था
प्रेमचन्द जी ने लेख का पाठ किया। वे नारी की स्वतंत्रता के अभिलाषी हैं
स्त्रियों के उत्थान का जो आन्दोलन चल रहा है, प्रेमचन्द जी उसके साथ हैं
अतः उन्होंने इलाचन्द्र जी के विरोध में लेख लिखाने की इच्छा की। लखनऊ के
एक सज्जन ने उनके इच्छानुसार लेख लिखा और प्रेमचन्द जी ने उसे 'हंस' में
प्रकाशित किया। उन महाशय का वह लेख इतना विचारशिथिल था कि उसे
पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि उससे इलाचन्द्र जी को सम्यक् उत्तर दिया
जा सका। परन्तु प्रेमचन्द जी ने अपने विश्वास के अनुसार उसे प्रकाशित किया।
कोरी भावुकता का असम्बद्ध प्रदर्शन भी एक विचारपूर्ण लेख के उत्तर में किया
जाना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न वह लेख प्रकाशित करते हुए प्रेमचन्द जी के
मस्तिष्क में नहीं उठा। इस प्रसङ्ग से प्रेमचन्द जी के अत्यन्त सरल स्वभाव और
भावमय मनोवृत्ति का परिचय मिल जाता है।

सामयिक आन्दोलन को ही वे राष्ट्रीयता का नाम देते हैं। जो इस
आन्दोलन के जितना ही साथ है वह उतना ही राष्ट्रीय है। इस राष्ट्रीयता के
प्रेमचन्द जी बहुत बड़े प्रशंसक हैं और इसमें किसी प्रकार का अवगुण अथवा
अस्थायित्व वे कम देखते हैं। राष्ट्रीयता की इस धारा को वे सामान्य मनुष्यधारा
मानकर—पूरे विश्वास के साथ—राष्ट्रधर्म को मनुष्य-धर्म के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।
इस राष्ट्रीयता के रङ्ग में शराबोर होकर प्रेमचन्द जी साहित्यकला रञ्जित हुई है।
प्रेमचन्द जी की आत्मा में भी इसी का प्रकाश है। इस राष्ट्रीय वातावरण से
प्रेमचन्द जी ने जीवनदायक उत्साह संचय किया है और उनका यह उत्साह कभी
क्षीण नहीं होता। उनके उपन्यासों और कहानियों में जो उत्कट आशावाद
दिखाई देता है वह इस युग की वरेण्य विभूति है। नवयुवक रचनाकारों की
निराशा और रुदन के सामने प्रेमचन्द जी की प्रौढ़ आशा शोभाशालिनी अथच
प्राणप्रद हो रही है। जान पड़ता है प्रेमचन्द जी का व्यक्तित्व उत्साह और उत्कट

उद्योग की आधार-शिला पर स्थापित हुआ है। सामयिक परिस्थिति में आशा के लिए कम ही स्थान है यद्यपि एक आशाप्रद राष्ट्रीय हलचल मची हुई है। परन्तु प्रेमचन्द जी में यह पक्ष इतना प्रबल है कि उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। हमें उनके साहित्य में आशा और उत्साह का सन्देश मिलता है और हिन्दी राष्ट्र को भी पर्याप्त मात्रा में मिला है। प्रेमचन्दजी की चेतना इन्हीं दोनों के सम्मिलन से उद्दीप्त हुई है और वही प्रकाश उनकी रचनाओं में प्रसार पा रहा है। राष्ट्रीय शक्ति का इतना बड़ा उपसक हमारे साहित्य में कोई दूसरा नहीं है।

शक्ति के साथ यदि संयम हो तो उसकी उपयोगिता स्पष्ट ही है। प्रेमचन्दजी की रचनाएँ विशेष रूप से संयमित हैं। 'लिबर्टी' ने यह ठीक ही लिखा है कि प्रेमचन्द जी में अतिवाद नहीं है, वे मध्यमार्गी साहित्यकार है। यह उनके संयम का ही परिचय है। वे तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियों का प्रयोग करते हैं। अपनी धारणाओं पर उनकी आस्था बड़े ही प्रसन्न रूप में देख पड़ती है, नहीं तो वे मीठी चुटकियाँ न ले पाते। यह प्रेमचन्दजी की प्रशंसनीय वृत्ति है कि वे जिस विषय अथवा भावना को अपनाये हुए हैं और जिसके सम्बन्ध में उनके मन में कोई तर्क-वितर्क नहीं है उसे भी वे अधिकतर तीव्र बनाकर, कटु बनाकर प्रभाव नहीं डालते। इसे उनकी उदारता की सूचना समझनी चाहिए। इसी उदारता के साथ यदि प्रेमचन्दजी में एक समृद्ध बौद्धिक एकतानता या एकसूत्रता होती और वे कला के माध्यम से (केवल भावात्मकता या प्रचार के माध्यम से नहीं) उस एकसूत्रता का परिचय हमें करा सकते तो हमारा साहित्य प्रेमचन्द को पाकर कृतकृत्य हो जाता यहाँ हम उनके उन समीक्षकों का ध्यान आकर्षित करते हैं जो उन्हें ब्राह्मण-द्रोही समझने की मिथ्या धारणा रखते हैं।

भावों का उद्रेक करने में प्रेमचन्दजी ने अवश्य मनुष्यता की ओर से दृष्टि खींची है। यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने भावों को सुचारु, सद्भावनाप्रद बनाकर की है। प्रेमचन्दजी ने एक अनिर्दिष्ट राष्ट्रीयता का निर्देश किये बिना ही उसका पल्ला पकड़ा है, यदि इसकी त्रुटिपूर्ति किसी प्रकार हो सकती है तो प्रेमचन्दजी ने राष्ट्रीयता में उदारता की अच्छी मात्रा रहने दी है और उसमें आशा की कान्ति झलका दी है। यदि कल्पना की उच्च परिधि तक प्रेमचन्द-जी की पहुँच नहीं है, तो उनकी ईमानदारी के सम्बन्ध में कोई दो बातें नहीं कही जा सकतीं, साहित्य के लिए बहुत सी साधारण बातों की अपेक्षा इस ईमानदारी का महत्त्व अधिक है। प्रेमचन्दजी के साहित्य को उनके व्यक्तित्व की पूरी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त हुए हैं। इस युग में यह भी एक बड़ी बात है। कथानक, चरित्र, विचारसूत्र

और काल की निर्मिति में प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचते*किन्तु हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक युग के लिए उनकी देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

हमारे चारों तरफ जो दुःखपूर्ण परिस्थिति छाई हुई है उसी के भीतर से आशा की झलक दिखाना प्रेमचन्दजी की मुख्य कला है। समाज की जो वेदना उसकी भिन्न-भिन्न संस्थाओं से ऊपर सिर उठाकर दिखाई दे रही है, प्रेमचन्दजी ने उसका विलाप सुना है। अपने साहित्य में उन्होंने उसके परितोष का प्रयत्न किया है। इस मनुष्यधर्म के पालन करने में प्रेमचन्दजी समर्थ और सफल हुए हैं। उनका अधिकांश साहित्य समाज के निम्नवर्गों के कष्टों में डूबा हुआ है और प्रेमचन्दजी अधिकांश में उसके निवारण करने में लगे हुए हैं। रोगी को चिकित्सा से भी अधिक जिस तसल्ली की सम्प्रति आवश्यकता है वह उसे प्रेमचन्दजी के साहित्य में मिल रही है। यह प्रशंसनीय उद्योग है।

आत्म-कथा—एक विवाद

'जागरण' के पहले अङ्क में श्रीयुत् प्रेमचन्दजी ने अपने 'हंस' के आत्मकथांक† के लिए लेख लिखते हुए 'भारत' की साहित्यिक नीति और लेखशैली को बहुत बुरे शब्दों में याद किया है। प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपागेण्डा-वृत्ति के कारण काफ़ी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। वही वृत्ति उनके इस लेख में भी प्रसार पा रही है। यद्यपि प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'हमने तो कभी प्रोपागेण्डा नहीं किया हमारा बड़ा-से बड़ा दुश्मन भी हमारे ऊपर यह आक्षेप नहीं कर सकता'; पर प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रोपागेण्डा है। यदि प्रेमचन्दजी बिल्कुल ही भोले-भाले न बनें, तो वह अपने विरुद्ध इस प्रकार का आरोप एक नहीं अनेक बार सुन चुके होंगे, पढ़ चुके होंगे और हृदय की थाह लगाकर देख भी चुके होंगे। यदि उनके साहित्य के साथ उनके जीवन का कुछ भी संबंध है—और संबंध है क्यों नहीं?—तो हमें उनके ये विचार पढ़कर कुछ भी

---

* प्रेमचन्दजी का 'गोदान' उपन्यास प्रकाशित हो जाने पर हमारी इस धारणा में परिवर्तन हुआ है।

†आत्मकथा का विषय लेकर मुझसे और प्रेमचन्दजी से साहित्यिक उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ था, जिससे प्रेमचन्दजी के साहित्य सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश पड़ता है। उसके आवश्यक अंश यहाँ दिये जा रहे हैं।

आश्चर्य न होना चाहिए। उसमें भी हमें प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन्हीं दोनों विरोधी दलों के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमें सत्य की ओर से आँखें मूँदकर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था। प्रेमचन्दजी ने 'आत्मकथांक' की स्तुति करते हुए 'भारत' की जो निन्दा की है, उसमें हमें उपन्यास लिखने का उपर्युक्त पुराना ढर्रा ही देख पड़ा, जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक ज़माने से छोड़ चुका है। 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक को प्रेमचन्द्रजी के लेख से आश्चर्य हुआ और विरोध में टिप्पणियाँ जड़नी पड़ीं। पर हम तो उनके इस लेख में उनका वही रूप देखते हैं, जो उनके साहित्य में देख चुके हैं।

साहित्य में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो अथवा संस्था हो। हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विपक्ष में हैं, तो इसलिए कि सम्मेलन वास्तव में साहित्य के प्रति उदासीन बना हुआ है। यदि हम पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी अथवा श्रीयुत भवानीदयाल संन्यासी जी के किसी लेख अथवा साहित्यिक नीति का विरोध करते हैं, तो इसलिए कि वे सज्जन शुद्ध साहित्य को साहित्य-बाह्य वस्तुओं का भारवाही बनाते हैं, जिसे देखकर हमें ग्लानि होती है। जब हम पत्र-पत्रिकाओं में दो अक्षर लिख लेनेवालों की चित्र-वृद्धि पर आक्षेप करते हैं, तब समझते हैं कि हिन्दी में अब तक बहुत थोड़े साहित्यकार ऐसे हैं, जिनके चित्र छपने चाहिए। और, जब हम 'आत्मकथांक' का विरोध करते हैं, तब अपने साहित्य में बढ़ते हुए आत्म-विज्ञापन के कलुष का ध्यान करते हैं और यह निर्विकल्प रूप से जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति, जो आत्मकथा लिखने में योग्य हों, हिन्दी-संसार में अधिक नहीं, उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। यदि ये सब प्रेमचन्द जी के लिखे अनुसार उन्हें चौंकानेवाली बातें हैं, तो हम उनके प्रति अपना संमान प्रकट करते हुए भी चौंकानेवाली बातें कहना अपना धर्म मानते हैं। हिन्दी का साहित्यिक जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसों दूर है; इसलिए इस तरह की बातें प्रेमचन्दजी को ही नहीं, औरों को भी, अभी कुछ दिन, चौंकाती रहेंगी और इसका हम बुरा भी नहीं मानते।

साहित्य तो एक सात्त्विक जीवन है। उसे कठिन तपस्या और महान् यज्ञ समझना चाहिए। जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भाव-भूमि है। वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नहीं छापे जाते। वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्तर से जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं; पर आज दिन हिन्दी में आत्म-प्रेरणा और 'आत्मकथा' का नाम लेना पाखण्ड है और पाखण्ड बढ़ाना है। हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँ की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहाँ के सन्त हिमालय की कन्दराओं में गलकर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्ति और अपनी 'आत्मकथा' नष्ट कर आज चिरजीवन का रहस्य बतलाता है। और, जिन्होंने गाथाएँ लिखीं, वे बिला गये! इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है, उसकी मूल भावना है प्रायश्चित्त, अर्थात् वह केवल एक नकारात्मक योजना है। परन्तु प्रेमचन्द जी कैसी आत्मकथाएँ लिख रहे हैं, यह बतलाने की जरूरत नहीं।

साहित्य को केवल वाणी-विलास माननेवाले आदमी उसके उपयोगितावाद की दुहाई दे सकते हैं, जैसे श्रीयुत प्रेमचन्दजी ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी वगैरह का नाम लेकर दी है। परन्तु हम तो उसे बहुत ही साधारण कोटि की धारणा मानते हैं। लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकती है। नीति के दोहे लिखनेवाले दिन गये। इस समय हिन्दी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरों की भलाई की बीड़ा वे आगे कभी उठावेंगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी मे कितने आदमी हैं? कितने ऐसे महच्चरित हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथनियामिका बन सकती है?

निष्कर्ष यह कि वर्तमान हिन्दी में जैसी आत्मकथाएँ लिखी जा सकती हैं, वे साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से निम्नकोटि की ही होंगी। प्रेमचन्दजी ने ताज्जुब ज़ाहिर किया है कि हमने कैसे जान लिया कि आत्मकथाएँ ऐरे-गैरे लोग लिखेंगे आशा है, वह अब समझ गये होंगे कि आँखें खोलकर अपने साहित्य की गति-विधि देखनेवाले व्यक्ति ऐसा समझे बिना रह ही नहीं सकते। यही नहीं, और प्रमाण भी हैं। 'हंस' कार्यालय से मेरे पास गश्ती चिट्ठी तो कोई नहीं, यह पत्र अवश्य आया था कि मैं भी उस आत्मकथांक के लिए कुछ लिखूँ। यदि मेरे जैसे कल के साहित्यिकों से 'आत्मकथांक' की भर्ती होगी,

तो प्रेमचन्दजी को समझने का मौक़ा है कि मैंने कैसे समझा कि ऐरे-ग़ैरे नत्थू खैरे लोग उसका कलेवर भरेंगे।

जब मेरे पास उक्त पत्र आया था, तब मैंने मित्र-भाव से और प्राइवेट तरीके से 'हंस'-कार्यालय को लिखा था कि मेरी सम्मति नहीं है कि आत्मकथांक-जैसा अङ्क इस समय निकले और अङ्क के निमित्त अपनी गाथा गाने की अक्षमता के लिए मैंने क्षमा भी माँगी थी। परन्तु जब 'हंस' की ओर से यह लिख आया कि आत्मकथांक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिसपर बिगड़कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'हंस' को मेरी सम्मति की जरूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते, तो उन्हें कम-से-कम अपने प्रबन्धकों और कर्मचारियों से यह दरियाफ्त कर लेना चाहिए कि किस प्रकार का पत्र व्यवहार वे लोग कर चुके हैं। ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।

प्रेमचन्दजी का उत्तर

वाजपेयी जी फ़रमाते हैं—

"प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा-वृत्ति के कारण काफ़ी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है·· ····· प्रेमचन्दजी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष—जो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है—यही प्रोपेगेंडा है।"

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई-न-कोई प्रोपेगेंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेण्डा न हो, तो संसार में साहित्य की ज़रूरत न रहे। जो प्रोपेगेण्डा नहीं कर सकता, वह विचार-शून्य है और उसे क़लम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेण्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेण्डा के आक्षेप से है, जो मान, यश, कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य-सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो एक प्लेटफ़ार्म को सूली का तख्ता समझता हो उसे अपना ढिंढोरा पीटनेवाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहाँ किसी आर्डिनेंस का भय नहीं; जो आक्षेप कोई करना चाहे कर सकता है। वाजपेयीजी ने, 'मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से' मेरे उस लेख में मेरी प्रोपेगेण्डा वृत्ति देखकर संतोषलाभ किया, यह मेरे लिए भी आनन्द की बात है।

एक इलज़ाम तो साबित हो गया। अब दूसरा इलज़ाम सुनिए। फ़र्दे-जुर्म काफ़ी लम्बी है—

"'भारत' के सम्बन्ध में इतनी बुरी सम्मति पढ़कर हमें क्षोभ किंचित् नहीं हुआ (ग़लत, क्षोभ तो आपको इतना हुआ, जिसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी, कम-से-कम इसी विचार से कि मैं आपसे उम्र में बहुत बड़ा हूँ और मेरे सठियाने में केवल आठ साल शेष हैं) क्योंकि उसमें भी हमें प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीक़ा यह था, कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दर्जे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और इन्हीं दोनों विरोधी दलों के सङ्घर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमें सत्य की ओर से आँखें मूँदकर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता था।.......... जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक ज़माने से छोड़ चुका है।"

मैं अपने मित्र को सूचित करता हूँ कि सत्य और असत्य का सङ्घर्ष रामायण और महाभारत-काल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी, यह सङ्घर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा। मानवी हृदय नहीं बदला करता और न साहित्य-तत्त्व में परिवर्तन हो सकता है। हाँ, सतही आँखों से पढ़नेवालों को चाहे नये साहित्य में यह सङ्घर्ष न नज़र आवे; क्योंकि नये साहित्य-सेवी पुरानी परिपाटी का व्यवहार करते हुए भी, नवीन आविष्कार का गौरव प्राप्त करने के लिए धोखे की टट्टी खड़ी किया करते हैं। और जो ऊपर-ही-ऊपर तैरते हैं, उन्हें ऐसा भ्रम हो जाय, तो आश्चर्य नहीं। साहित्य का क्षेत्र है, सौन्दर्य की सृष्टि और सौन्दर्य सम्बन्ध-वाचक है। सुन्दर की कल्पना ही बिना असुन्दर के नहीं हो सकती, वैसे ही, जैसे प्रकाश अन्धकार के सम्बन्ध से ही व्यक्त हो सकता है। मैंने भी अपनी सभी रचनाओं में इस सङ्घर्ष को गुप्त रखने की चेष्टा की है, जिसमें मुझे भी नवीन आविष्कार का गौरव मिले; और अगर हमारे मित्र ने मेरा कोई उपन्यास पढ़ा होता, तो वह ऐसी असङ्गत बात न कहते।

इसके बाद 'भारत'-सम्पादक फ़रमाते हैं—

'साहित्य में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो, अथवा संस्था हो। हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के विपक्ष में हैं, तो इसलिए की वह वास्तव में.........'

कितनी शुद्ध साहित्य-सुधा-वृष्टि है ! अहंकार का एक महान् कुटिल रूप है, अल्पमत की गौरवमयी श्रेणी में रहना, चाहे उसकी संख्या एक ही तक परमित हो। सभी बड़े-बड़े विचार-प्रवर्तकों ने अपनी अकेली आवाज़ से संसार पर विजय पाई है और यदि हमारे योग्य 'भारत'-सम्पादक उस गौरव के उम्मीदवार हैं, तो हमें शिकायत की कोई गुञ्जाइश नहीं। हम सभी चाहते हैं कि कोई ऐसी बात कहें, जो कोई दूसरा न कह सके; कोई ऐसा काम कर दिखावें, जो दूसरा न कर सके। कभी यह इच्छा सच्ची होती है, कभी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित। हम इसे वाजपेयीजी के बलवान् व्यक्तित्व और उज्ज्वल प्रतिभा का प्रमाण समझते हैं। उनकी नज़र में हिन्दी का कोई लेखक नहीं जँचता, मैं इन बातों से नहीं चौंकता। आप इससे भी कोई बड़ी अनोखी नई अभूतपूर्व बात कहिए, मैं ज़रा भी न चौंकूँगा, मिनकूँगा ही नहीं। इतने महान् आविष्कार की उपेक्षा कौन कर सकता है; हिन्दी में ऐसा कोई लेखक नहीं, जिसकी आत्मकथा लिखने योग्य हो। यहाँ तो सभी आत्मविज्ञापन के उपासक हैं। केवल एक अपवाद हैं; और वह 'भारत' के सुयोग्य सम्पादक पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी एम० ए०। आश्चर्य यही है कि उन्होंने 'भारत' का सम्पादक होना क्यों स्वीकार कर लिया; क्योंकि सम्पादकत्व में आत्म-विज्ञापन कूट-कूटकर भरा होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए तो कोई गुफा ही ज्यादा उपयुक्त स्थान होती। यहाँ कैसे भूल पड़े ?

इसके आगे आपने साहित्य के उद्देश्य और क्षेत्र की पवित्रता पर ज्ञान से भरी बातें कहीं हैं। हम उसका एक-एक शब्द स्वीकार करते हैं। बेशक, साहित्य सात्त्विक जीवन है। बेशक, वह कठिन तपस्या और महान् यज्ञ है; लेकिन जब कोई सूत्रों में बातें करे, जिसको समझने के लिए किसी दार्शनिक के पास जाना पड़े, तो फिर उसका क्या जवाब ? बात भी तो समझ में आवे। उदाहरणार्थ इन वाक्यों को लीजिए—

'जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भाव-भूमि है। वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फ़ोटो नहीं छापे जाते। वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्तर से जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं।'

जहाँ वाणी मौन रहती है, वह साहित्य है ? वह साहित्य नहीं गूँगापन है। साहित्य का काम, भावों का अन्तःकरण में अनुभव करना ही नहीं, उनको व्यक्त करना है। वह मनोभाव तभी साहित्य कहलाते हैं, जब वह व्यक्त हो जाते हैं, वाणी में प्रकट होते हैं। तुलसीदास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है;

अन्यथा आज उनका कोई नाम भी न जानता। अगर वाणी मौन रहने में सुख मानती, तो आज संसार में साहित्य शब्द का अस्तित्व भी न होता।

इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ, जो हम समझ सके हैं, वह यह मालूम होता है; कि साहित्यकारों को आत्म-विज्ञापन नहीं करना चाहिए, यह सभी के लिए निंद्य है और साहित्यिक प्राणियों के लिए और भी अधिक। इसके मानने में किसी को आपसे मतभेद नहीं हो सकता; लेकिन क्या आत्मकथा और आत्म-विज्ञापन समान हैं? थोड़े बहुत, अच्छे या बुरे अनुभव-सभी प्राणियों के जीवन में हुआ करते हैं। जो लोग साहित्य के रूखे क्षेत्र में आकर अपना तन-मन घुलाते हैं, वह केवल आत्म-विज्ञापन के भूखे नहीं होते। आप अपने दार्शनिक गाभीर्य के कारण, उन्हें जितना चाहें पतित समझ लें; पर साहित्य-क्षेत्र में जो कोई भी आता है, वह अपनी आत्मा की प्रेरणा ही से आता है। यह दूसरी बात है कि वह परमपद को प्राप्त कर सके, या न कर सके। स्कूल में सभी लड़के तो गाँधी और गोखले नहीं हो जाते, न सभी 'भारत' सम्पादक हो जाते हैं; पर यह कहना कि वे केवल विद्याभ्यास का स्वाँग रचने आते हैं, ऐसी बात है, जिसका जवाब ख़ामोशी है। फिर हमने यह दावा तो नहीं किया, कि 'हंस' का 'आत्मकथांक' अमर साहित्य बनेगा। हम अगर ऐसी हिमाक़त करते भी—क्योंकि हम प्रोपागेंडिस्ट हैं—तो 'भारत' सम्पादक जैसे मनस्वी पुरुष को हमारे-दावे की उपेक्षा करनी चाहिए थी। लेकिन, साहित्य के कूड़ा-करकट से ही अमर साहित्य की सृष्टि होती है। कोई अमर साहित्य लिखने का इरादा करके अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है, वही इस पद को पाता है। हम तो कहते हैं कि एक मामूली मज़दूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायँगी, जो अमर साहित्य का विषय बन सकती हैं। केवल देखने वाली आँख और लिखनेवाला क़लम चाहिए। आगे चलकर आपने इससे भी ज्यादा मार्के की बातें कही हैं—

'हमारे देश में आत्म-कथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहाँ की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहाँ के संत हिमालय की कन्दराओं में गल कर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्त और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज चिर-जीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखीं वे बिला गये। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है, उसकी मूल भावना है, प्रायश्चित्त; अर्थात् वह केवल एक नकारात्मक योजना है, परन्तु प्रेमचन्द जी कैसी आत्मकथाएँ लिखा रहे हैं, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं।'

फिर वही शून्य शब्दाडंबर, वही रहस्य भरी बातें, जो सुनने में गूढ़, पर वास्तव में निरर्थक हैं! भारत की दार्शनिक संस्कृति में समाचार-पत्रों का विधान भी तो नहीं है। फिर आप क्यों 'भारत' का सम्पादन करते हैं? प्राचीन काल में बहुत-सी ऐसी बातें थीं, जो अब नहीं हैं और बहुत-सी ऐसी बातें नहीं थीं, जो अब हैं। तब कोई अँगरेज़ी का एम० ए० भी नहीं होता था। मैं आपसे पूछता हूँ, आप अपने नाम के सामने वाजपेयी और एम० ए० की उपाधियाँ क्यों लगाते हैं? केवल आत्म-विज्ञापन के लिए या इसमें और कोई रहस्य है? भारत के सन्त हिमालय में गल गये; मगर अमर साहित्य की सृष्टि भी कर गये, नहीं तो आज आप उपनिषद्, वेद, रामायण और महाभारत के दर्शन करते? कालिदास, माघ, भास और बाण ने साहित्य लिखा या नहीं? या वह भी गल गये और उनके नाम से आत्मविज्ञापन के इच्छुक जनों ने पुस्तकें लिख डालीं? प्राचीन भारत ने अपनी आत्मकथा नहीं नष्ट की, कभी नहीं, उनकी आत्मकथा आज भी सूर्य की भाँति चमक रही है। हाँ, केवल उनका रूप यह नहीं था। उन्होंने अपनी आत्मकथा मन्त्रों, श्लोकों और आत्मानुभवों के रूप में लिखी। हम आज गद्य लेख में और Directly लिख रहे हैं। साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्म-अनुभव भी। जहाँ जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्म-कथा का आशय है, कि केवल आत्म-अनुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो। बड़े-बड़े लोगों के अनुभव बड़े-बड़े होते हैं; लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं, जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है। सुई की जगह तलवार नहीं काम दे सकती।

आगे चलकर वाजपेयी जी ने फिर एक अत्यन्त विवादास्पद बात कही है। सुनिए—

'साहित्य को केवल वाणी-विलास मानने वाले आदमी उसके उपयोगितावाद की दुहाई दे सकते हैं, जैसे श्रीयुत प्रेमचन्द्रजी ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी वग़ैरह का नाम लेकर दी है; परन्तु हम तो उसे बहुत ही साधारण कोटि की धारणा मानते हैं। लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकती है। नीति के दोहे लिखने के दिन गये। इस समय हिन्दी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरों की भलाई का बीडा वे आगे कभी उठावेंगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी में कितने आदमी हैं। कितने ऐसे महच्चरित हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथ-नियामक बन सकती है?'

इन वाक्यों का क्या जवाब दिया जाय ? जब कोई कहे जाय कि संसार में सब अन्धे-ही-अन्धे बसते हैं, तो उसका जवाब ही क्या हो सकता है। एक आदमी अपने जीवन के तत्त्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आप से अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शान्त करना चाहता है; आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है, और आप कहते हैं, यह वाणी-विलास है ! वाणी-विलास आत्म-कथा लिखना नहीं, लतीफे कहना है। नायिका का शृङ्गार वर्णन करना है अपने हृदय-पट को, अपनी ठोकरों को, अपनी हारों को प्रकट करना अगर वाणी-विलास है, तो फिर साहित्य वाणी-विलास ही है और इसके सिवाय कुछ नहीं है।

अब रही साहित्य की उपयोगिता की बात। साहित्य का मूलाधार सत्य, सुन्दर और शिव है। साहित्य की सामग्री मनुष्य का जीवन है। कभी-कभी चर और अचर जीवन भी। पर उसका उद्देश्य भी तो कुछ होगा। क्यों संसार के महान् पुरुषों ने साहित्य की रचना की ? बिना किसी उद्देश्य के ? हम उन्हें इतना मिथ्यावादी नहीं समझते। केवल अपनी आत्मा की शान्ति के लिए ? इसके लिए लिखने की ज़रूरत न थी। साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है। उपयोगिता मानसिक, दार्शनिक, व्यावहारिक या केवल विनोदात्मक हो सकती है। मुख्य करके भावों की संस्कृति ही उसका गौरव है। जिस वाणी, पुस्तक या लेख में उपयोगिता का तत्त्व नहीं है, वह साहित्य नहीं, कुछ भी नहीं। 'गीतांजलि' को तो साहित्य कहिएगा ? टालस्टाय ने तो साहित्य लिखा ? तुलसी और सूर ने भी तो साहित्य रचा ? क्या उसकी कुछ उपयोगिता नहीं है ? अब रह गई यह बात कि हिन्दी में ऐसे लिखनेवाले कितने हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथ-नियामक बन सकती है। आपका ख़याल है, एक भी नहीं ! मेरा ख़याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। अन्तर यही है, कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन-शक्ति होती है। साहित्यकार के विकास के और क्या साधन हैं ? या तो अपने अनुभव या दूसरों के अनुभव ! किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है, जिसमें बड़े-से-बड़े महच्चरितों के लिए भी कुछ-न-कुछ विचार की सामग्री न हो। महच्चरित इसी तरह बनते हैं। घूरे पर से भी फूल को चुन लेना निषिद्ध नहीं कहा जा

सकता। एक महात्मा से किसी ने पूछा था—आप इतने बुद्धिमान् कैसे हुए? उसने जवाब दिया—मूर्खों की सोहबत से।

यहाँ तक तो ऊपर की बातें थीं। अब तत्त्व की बात सुनिए। श्रीयुत वाजपेयी जी फ़रमाते हैं—

'परन्तु जब 'हंस' की ओर से लिखा गया कि आत्मकथांक तो निकलेगा ही, तब मैंने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी थी, जिस पर बिगड़कर प्रेमचन्दजी लिखते हैं, 'हंस' को मेरी सम्मति की जरूरत नहीं है! प्रेमचन्दजी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते..........तो ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ सकती है।'

आश्चर्य है 'जागरण' के अनुद्वेगशील सम्पादक महोदय को इन पंक्तियों पर कोई टिप्पणी जमाने की ज़रा भी ज़रूरत न मालूम हुई! आप मुझे एक राय देते हैं, मैं कहता हूँ, मुझे आप की राय की ज़रूरत नहीं, मेरी जो इच्छा होगी, करूँगा, मैं आप की राय का पाबंद नहीं हूँ। आपने आत्मकथांक निकालने का विरोध किया। आपही के जैसे बुद्धि और विवेक रखनेवाले बहुत से भाइयों ने आत्मकथांक निकालने का समर्थन किया। अगर अशिष्टता न हो, तो मैं 'जागरण' के सम्पादक को भी समर्थकों में ही रख सकता हूँ। मैं मानता हूँ, इतनी रुखाई से मुझे वह वाक्य न लिखना चाहिए था। मुझे उसका खेद था और बहुत कुछ परितोष हो जाने पर, अब भी है; लेकिन यह कहना कि हम आपकी बात नहीं मानते, कठोर होते हुए भी उतना कठोर नहीं है, जितना यह कहना कि तुम असत्य हो और असभ्य हो, इसका ख़मियाज़ा तुम्हें उठाना पड़ेगा।

लेकिन जब अहंकार को चोट लगती है, तो आदमी संयत रहने का प्रयास करने पर भी बौखला ही जाता है। अन्त में हम श्रीयुत नन्ददुलारेजी वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते हैं, कि मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गई, धन तो हाथ न लगा, हालाँ कि कोशिश बहुत की; और अब इस फ़िक्र में हूँ, कि कोई गाँठ का पूरा रईस फँस जाय, तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूँ; लेकिन आप को अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ देखना है। आदर्श बहुत अच्छी चीज़ है; लेकिन संसार में बड़े-से-बड़े आदर्शवादियों को भी कुछ-न-कुछ झुकना ही पड़ता है। यह न समझिए, कि जो कुछ आप समझते हैं, वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक

है; लेकिन जिनसे मतभेद हो, उन्हें नीच न समझिए। जिसे आप नीचा समझेंगे, वह आपकी पूजा न करेगा। अब गुस्सा थूक दीजिए। आपने बिगड़कर मन को शान्त कर लिया, मैंने आपके बिगड़ने का आनन्द उठाकर मन को शान्त कर लिया। आइए, हाथ मिला लें।

मेरा प्रत्युत्तर

अपने पिछले लेख में हम 'प्रोपेगेण्डा' शब्द को काफ़ी स्पष्ट कर चुके हैं। अब इस संबंध में किसी प्रकार की ग़लत धारणा शेष रहने की गुञ्जायश नहीं रही और यदि शेष रही है तो उसकी ज़िम्मेदारी मुझ पर नहीं। 'परितोष' प्रेमचन्द्रजी 'प्रोपेगेण्डा' का डिक्शनरी वाला अर्थ लगाते हैं, पर 'प्रोपेगेण्डा' से यहाँ मेरा आशय कौशलहीन, अस्वाभाविक या कलारहित प्रचार से है। प्रेमचन्द्रजी इस विषय में कोई शङ्का न करें। वे लिखते हैं—'सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेण्डा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक।' यह मैं भी समझता हूँ, यही नहीं, आज से वर्ष भर पहले 'कंकाल' की आलोचना करते हुए मैंने ही लिखा था—

"प्रत्येक साहित्यकार जीवन और जगत्-संबंधी अपने अनुभव और अपनी धारणाएँ रखता है जो उनकी साहित्यिक कृतियों में प्रतिफलित होती हैं। जिसके ये अनुभव और ये धारणाएँ जितनी अधिक दृढ़ होंगी और जो जितने अधिक कौशलपूर्वक उनकी शक्ति समेट कर संकलित कर सकेगा उसकी कृति उतनी ही अधिक प्रभावशाली होगी। जब हम कहते हैं कि 'ला मिज़रेबल्स' संसार के शक्तिशाली (Powerful) उपन्यासों में प्रमुख है तब हम दूसरे शब्दों में उस प्रोपेगेण्डा की ही प्रशंसा करते हैं जो साहित्यकला के नियमों के अनुसार उस कृति में मौजूद है। प्रोपेगेण्डा कोई बुरी वस्तु नहीं, हम समझते हैं वह तो अनिवार्य है।" परन्तु इसके साथ ही हमने यह भी लिखा था—"जब वह (प्रोपेगेण्डा) कृत्रिम और कौशलहीन होकर अनपेक्षित अवसरों पर आकर अपनी क़ीमत कम कर देता है तब उसकी बदनामी होती है।" कहना न होगा कि पिछले लेख में प्रेमचन्द्रजी की रचनाओं के प्रसङ्ग में मैंने जिस प्रोपेगेण्डावृत्ति का उल्लेख किया था वह इसी दूसरे प्रकार की थी। अब इस संबंध में यहाँ और कुछ नहीं लिखना चाहता।

मेरा दूसरा आक्षेप यह था कि 'हंस' की अतिशय प्रशंसा करते हुए और 'भारत' की अतिशय निन्दा करते हुए प्रेमचन्द्रजी ने उपन्यास लिखने की उस पुरानी प्रणाली का परिचय दिया है जिसमें 'सत्य की ओर से आँखें मूँद कर उपन्यास का

ढाँचा खड़ा किया जाता था।' इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्दजी ने जो व्यक्तिगत चढ़ाई की है उसे मैं उनके बड़प्पन का विशेषाधिकार मान लेता हूँ, ख़ासकर जब वे सठियाने को हो रहे हैं। परन्तु जब वे यह साहित्यिक सिद्धान्त रखते हैं और मुझे सूचना देते हैं कि 'सत्य और असत्य का संघर्ष रामायण और महाभारत-काल से बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है', तब मुझे भी कुछ कहने का अवसर मिलता है। दुनिया में सत्य पूर्ण नहीं है और न असत्य ही पूर्ण है। रामायण और महाभारत के रचयिता मनीषियों ने पूर्ण सत्य और पूर्ण असत्य का आदर्श कल्पित किया था। उनका सत्य इहलौकिक नहीं और न असत्य ही इहलौकिक है। इसलिए उनका सत्य और असत्य का संघर्ष देव और दानव का संघर्ष है। वह लौकिक संघर्ष है ही नहीं। अत्यन्त अलौकिक और असामान्य है। उन्होंने किसी देश-काल का चित्रपट (Setting) नहीं रखा, सर्वदेश और सर्वकाल उनका चित्रपट है।

आज के उपन्यासों में हम एक सीमित देश, एक सीमित काल और एक सीमित समाज का चित्र अंकित करते हैं। प्रेमचन्दजी के भी ऐसे ही उपन्यास हैं। ऐसे उपन्यासों में अतिमानवीय नहीं सर्वथा मानवीय चित्रण रहना चाहिए। इसी निश्चय के आधार पर पश्चिम के उपन्यासकार यह सिद्धान्त उपस्थित कर चुके हैं कि संघर्ष नहीं समन्वय हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हम मनुष्य-मनुष्य को संधि की दृष्टि से देखें, विग्रह की दृष्टि से नहीं। हम मनुष्य की दुर्बलताओं से सहानुभूति रक्खें और उसे पापी न समझ कर दुर्बल मनुष्य समझें। यहाँ कोई पूर्ण पुण्यात्मा नहीं है। कोई पूर्ण पापी नहीं है। यहाँ पापी पुण्यात्मा बनने के योग्य है और बनाने के भी योग्य है। गाली देकर बात करना ठीक नहीं। पापी भी मनुष्य है। ईश्वर की वह भी सृष्टि है। यहाँ संघर्ष कहाँ है? सब एक ही बटेलियन के सिपाही हैं; कौन किससे लड़ेगा?

इसी लिए विकसित साहित्य में अब 'संघर्ष' को कोई विशेष स्थान नहीं दिया जाता। प्रेमचन्दजी लिखते हैं कि 'सुन्दर की कल्पना ही बिना असुन्दर के नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे प्रकाश अंधकार के सम्बन्ध से ही व्यक्त हो सकता है।' इस वैज्ञानिक युग में भी प्रेमचन्दजी वही पुरानी डफ़ली बजाते जाते हैं। प्रकाश को व्यक्त करने के लिए विज्ञान अन्धकार की आवश्यकता नहीं समझता। उसने खुले ख़ज़ाने, दिन दुपहरी, प्रकाश को व्यक्त कर दिया और अन्धकार को दूर हटा दिया। सूर्य के प्रकाश में उसने सात रङ्ग-बिरंगे रंग दिखा दिये जो सौन्दर्य की बड़ी ही मनोरम कल्पना कराते हैं। अन्धकार द्वारा प्रकाश व्यक्त नहीं होता, वह तो सात रंगों के मणिकांचन संयोग से

व्यक्त होता है। साहित्य में भी प्रकाश को इसी तरह व्यक्त करना है, इसके लिए संघर्ष की आवश्यकता कहाँ है! क्या भिन्न-भिन्न रंगों की भाँति भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों और स्वभावों का समन्वय करके हम साहित्य में आत्मप्रकाश नहीं फैला सकते? विज्ञान की यही शिक्षा है, यही वैज्ञानिक सत्य है। क्या इस पर भी संघर्ष करना होगा? यदि इसी घोषणा के बल पर प्रेमचन्द जी मुझे सतही आँखों का और छिछली धारा में तैरनेवाला कहते हैं तो पाठक इसे पढ़ें और प्रेमचन्द जी के साहस को सराहें।

इसके बाद आत्मकथा का मूल-विषय आता है, पर विषय-प्रवेश के रूप में प्रेमचन्द जी ने व्यक्तिगत वाद का बीहड़ बन खड़ा कर रखा है। हम इस झाड़-झङ्खाड़ को चुपचाप पार कर जाने में ही कल्याण समझते हैं। सन्तोष की बात है कि मूलविषय के सम्बन्ध की मेरी अधिकांश बातें प्रेमचन्दजी को मान्य हैं। मेरे लेख के कई उद्धरण देकर वे उसका 'एक-एक शब्द स्वीकार करते हैं।' इसलिए मुझे अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। केवल कुछ जगहों के कुछ वाक्य उनकी समझ में नहीं आये! वे कहते हैं कि वे सूत्ररूप में लिखे गये हैं। पाठक भी देखें कि उनमें कौन-सा अज्ञेय सूत्र है—

"जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भावभूमि है। वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नहीं छापे जाते। वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा गाने में सुख नहीं मानतीं। उस उच्च स्तर से जितने क्रियाकलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं।"

इन वाक्यों की व्यंजना यदि किसी को नहीं समझ पड़ती तो हम क्या कर सकते हैं? भाव-व्यंजना के लिए शब्द ही हमारे साधन हैं। शब्दों का सहारा लेकर उसे मैंने अधिक से अधिक सरल बनाया है। इसके आगे हमारी गति नहीं है। विज्ञ पाठक हमारा न्याय करें। हाँ, यह अभिव्यंजना हिन्दी द्वारा की गई है। प्रेमचन्दजी के लिए हिन्दी दुरतिगम्य हो और उन्हें अँगरेज़ी के वाक्यांशों में समझने में सुभीता पड़े तो यह हमारी लाचारी है। हम अत्यन्त स्पष्ट रीति से 'स्व' के उस विज्ञापन का विरोध कर रहे हैं जो साहित्य का कलुष है। साहित्य के अन्य अङ्गों से बढ़ कर 'गीत काव्य' (Lyrics) का अङ्ग अधिक व्यक्तिगत है पर श्रेष्ठ गीतों में व्यक्ति अपने को समष्टि में लीन कर देता है, उसकी आत्मा में विश्वात्मा की झलक आ जाती है। उसी को हम कहते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते। 'आत्मकथा' तो गीतकाव्य की भी अपेक्षा अधिक व्यक्तिगत है। 'आत्म-

कथा' के इस अत्यन्त व्यक्तिगत विषय से 'अहं' के सब अङ्कुश खींच लेना तो और भी कठिन है। हमने यही कठिनाई दिखाई है। क्या यह 'शाब्दिक गोरखधन्धा' है?

यही हमारे उपर्युक्त उद्धरण का आशय था, पर प्रेमचन्द जी एक शब्द को लेकर मज़ाक़ करने लगे—"जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूँगापन है" यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते है कि उपन्यास कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आपकी वाणी चिल्लाया करती है? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहीं की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं! शायद इसे आप 'शाब्दिक गोरखधन्धा' न समझें क्योंकि यह आपकी ही तर्कप्रणाली का अनुकरण है।

मेरा एक अन्य उद्धरण देकर प्रेमचन्द जी उसे 'शून्यशब्दाडम्बर रहस्य भरी बातें, सुनने में गूढ़ पर वास्तव में निरर्थक' बतलाते हैं। वह यह है—

"हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही यहाँ की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं है। यहाँ के सन्त हिमालय की कन्दराओं में गल कर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्त और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज चिरजीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएँ लिखीं वे बिला गये। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है उसकी मूल भावना है—प्रायश्चित्त; अर्थात् वह केवल एक नकारात्मक योजना है, परन्तु प्रेमचन्द जी कैसी आत्मकथाएँ लिखा रहे हैं यह बतलाने की ज़रूरत नहीं।"

इसमें क्या 'शून्य शब्दाडंबर' है? क्या यह इतिहाससिद्ध सत्य नहीं कि प्राचीन भारत में इतिवृत्त लिखनेवालों की आश्चर्यजनक कमी रही है? क्या यह विज्ञान का प्रमाण नहीं कि शक्तिसंचय के लिए बहिर्मुखी वृत्ति अहितकर है? क्या इसमें भी संदेह है कि प्राचीन हिन्दू-जाति आज भी जीवित है जब कि प्राचीन मिस्र, ग्रीस और रोम संसार से मिट गये। क्या यहाँ व्यक्ति के विकास की उच्च कक्षा में संन्यास का पाठ नहीं पढ़ाया गया? क्या व्यक्तिगत साधना का अर्थ आप नहीं समझते और महात्मा गांधी की आत्मकथा में आदि से अन्त तक सत्य की वह पञ्चाग्नि दहकती नहीं देखते जिसमें मित्रवर वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'भस्मान्त जड़ शरीर विलीन हो गया है, आत्मकथा का मूल अहङ्कार विशाल होकर विराट् में मिल गया है, इसी लिए 'सत्य के प्रयोग' देखने में आत्मकथा होने पर भी 'अहमेतन्न'

की अमृत ध्वनि से ओत-प्रोत है।' क्या यह सत्य समीक्षा भी शून्य शब्दाडम्बर है? यह सब शब्दाडम्बर ही सही—आपकी जो आडम्बररहित, शुद्ध, प्रांजल, अतलव्यापी, गम्भीर समीक्षा है उसका नमूना भी पाठकों को देखना चाहिए। मैं कह चुका हूँ और अब भी कहता हूँ कि भारत की दार्शनिक संस्कृति में 'आत्मकथा' का विधान नहीं है। पर प्रेमचन्दजी लिखते हैं—

'प्राचीन काल में बहुत-सी ऐसी बातें थीं जो अब नहीं हैं और बहुत-सी ऐसी बातें नहीं थीं जो अब हैं। तब कोई अँगरेज़ी का एम० ए० भी नहीं होता था।'

यह आपके 'बातें' शब्द की ही महिमा है कि आप 'भारत की दार्शनिक संस्कृति' से अगरेज़ी के एम० ए० का सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ हो गये हैं। 'भारत की दार्शनिक संस्कृति' क्या है, पश्चिम की कोई तुनकमिज़ाज़ पत्नी है जिसने 'अगरेज़ी के एम० ए०' पति को तलाक़ दे दिया है। पर संतोष का विषय है कि 'भारत की दार्शनिक संस्कृति' इतनी क्षुद्रबुद्धि नहीं रही जितनी प्रेमचन्दजी की कल्पना उसे बनाना चाहती है। 'भारत की दार्शनिक संस्कृति' ने ज्ञान के प्रकाश के लिए चारों ओर से कपाट खोल रखे हैं, वह अँगरेज़ी के एम० ए० का बहिष्कार क्यों करेगी? आज जब अँगरेज़ी के अनेक एम० ए० भारत को 'दार्शनिक संस्कृति' में अपने लिए स्थान पाते हैं और वह संस्कृति पुत्रवती कामिनी की भाँति उन्हें अपनी गोद में स्थान देती है तो बहिष्कार की बातें कहाँ हैं? हमारी दार्शनिक संस्कृति अधिक से अधिक व्यापक, सहिष्णु और सहानुभूति-शालिनी है; उस ज्ञानवती में अज्ञान का एक भी अंकुश नहीं। वह तो अमरकाल के सिंहासन पर चरण रखकर उन्नत-ललाट दिग्वसना खड़ी है। सब देश, सब काल उसके हस्तामलक हैं। इस विराट् चित्रपट पर ज्ञानियों की ज्ञानमुद्राएँ अनन्तजीवन के रहस्य-संकेत हैं, इसलिए अपर व्यक्तियों ने उस पर अपना गाथाचित्र अंकित करने का साहस नहीं किया। यही वह स्वतः सृष्ट विधान बन गया जिसे हम कहते हैं कि हमारी दार्शनिक संस्कृति में 'आत्मकथा' का नियम नहीं रहा। यही यहाँ की दार्शनिक संस्कृति का मूल रहस्य है। इस एक वाक्य के अन्तर्गत वह सम्पूर्ण साधना व्यंजित है जो हमारी दार्शनिक संस्कृति पर संख्याहीन युगों से चढ़ती आई है; परन्तु प्रेमचन्दजी की 'बातें' कुछ दूसरी ही हैं। उन 'बातों' को क्या कोई सतही कह सकता है?

जिस साहित्य के मूल में यह साधनामय व्यक्तित्व नहीं है वह सम्पूर्ण वाणी-विलास है। वह लतीफ़ा हो या ब्रह्म-मीमांसा; उसकी उपयोगिता हम मानते ही नहीं, चाहे बाहर से उसमें वह देख भी पड़ती हो। बहुत से कनकटे ब्रह्म-ब्रह्म रटा करते हैं और

मूर्ख समाज में उसकी उपयोगिता भी हो जाती है, पर वह वास्तविक उपयोगिता नहीं। उपयोगिता की परीक्षा की एक सीधी कसौटी यह है कि हम देखें कि कोई कृति अपने कृतिकार के विकास में कहाँ तक सहायक हो सकती है। कनकटे के 'ब्रह्म-ब्रह्म' से उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। वह अपने श्रोता-समाज को धोखा देता और अपने को गड्ढे में गिराता है। यही उसकी वास्तविक उपयोगिता है। यही कसौटी साहित्य की भी हो सकती है। कनकटे को किसी भले काम से लगना चाहिए। साहित्यकार को भी दूसरों की उपयोगिता का ढोंग न कर अपनी उपयोगिता का रास्ता पकड़ना चाहिए। तुलसी-दास का रामचरित-मानस उनके ही 'स्वान्तः सुखाय' है। उसकी उपयोगिता उन्हें ही सन्त बनाने में थी। दूसरों की बात दूसरे जानें। कोई गाली देता है, कोई पूजा करता है। महात्मा गांधी की आत्मकथा उनके ही 'सत्य का प्रयोग' है। इससे अधिक हम क्या कहें।

'सत्यं शिवं शुन्दरम्' का लतीफा हिन्दी-संसार में खूब चल गया है। यह बंगाल के ब्रह्मसमाज की उद्भावना है जिसे महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा बड़ा विस्तार प्राप्त हुआ है। कुछ लोग इसे उपनिषदों से उत्पन्न बतलाते हैं पर उपनिषदों में वह कहीं देखने में नहीं आया। तथापि हिन्दी में वेद वाक्य से बढ़कर उसकी मान्यता है और प्रेमचन्दजी को भी उसका व्यवहार करना भाता है। इसका अर्थ समझने में हमें अब तक द्विविधा ही है। यदि इसका अर्थ यह है कि जो सत्य है वही शिव है और वही सुन्दर भी है तो यह सत्य शब्द की व्याख्या मात्र हुई। यह साहित्य-समीक्षा की कसौटी तो नहीं हुई। यदि इसका अर्थ यह है कि सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति साहित्य का लक्ष्य है तो यहाँ बहुत कुछ आरोप करना पड़ा। प्रेमचन्दजी इसका व्यवहार इसी दूसरे अर्थ में करते हैं। उनका कहना है कि साहित्य का मूलाधार सत्य, सुन्दर और शिव है। इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं। सत्य और सुन्दर पर्याप्त हैं। जो सत्य और सुन्दर हैं वे शिव होंगे ही। 'शिव' को बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं। बाहर से लाया हुआ 'शिव' साहित्य का विलास या Luxury है। हम उसकी कीमत नहीं चुका सकते। बाहर से लाने का ही नतीजा है कि साहित्यकार दूसरों का कल्याण करने के धोखे अपनी ही सत्य-साधना भंग करते और अपनी ही विकास में बाधा डालते हैं।

विवाद के प्रसंग में एक जगह प्रेमचन्दजी सत्य के बहुत नज़दीक पहुँच गये हैं। वहाँ उनमें और मुझमें केवल शब्दों के आग्रह (Accent) का भेद रह

गया है। परन्तु प्रेमचन्दजी समझते हैं कि वहाँ वे मुझसे सबसे अधिक दूर हैं क्योंकि उन्होंने यह उदाहरण दो बार उपस्थित किया है। वे लिखते हैं—

१—"अब रह गई यह बात कि हिन्दी में ऐसे लिखने वाले कितने हैं जिनकी जीवनी हिन्दी-जनता की पथनियामिका बन सकती है। आपका खयाल है एक भी नहीं; मेरा खयाल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। अन्तर यही है कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन-शक्ति होती है।"

२—"एक मामूली मज़दूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायँगी जो अमर साहित्य का विषय हो सकती हैं। केवल देखनेवाली आँख और लिखने वाला क़मला चाहिए।"

इन दोनों बातों से मेरा कोई झगड़ा नहीं कि आपके घर के 'मेहतर' और एक 'मामूली किसान' के जीवन में अमर साहित्य का विषय बनने की क्षमता है। मैं आपकी इन शर्तों को भी ठीक समझता हूँ कि देखनेवाली आँख और लिखनेवाला क़लम अथवा विवेचन-शक्ति की आवश्यकता है। मैं केवल यह चाहता हूँ कि आप इन आवश्कताओं के नीचे सौ-सौ सतरें खींच दें ताकि आपके हृदय में भी एक लकीर खिंच जाय कि ये आवश्यकताएँ कितनी महान् हैं। मुझसे यदि आप अपना पक्ष-समर्थन कराना चाहते हैं तो मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आपके मेहतर के जीवन में ऐसे रहस्य हैं जिनसे इतना प्रकाश मिल सकता है जितना महान् छत्रधारी सम्राटों के जीवन से मिल सकता है, पर आपको भी यह मानना पड़ेगा कि उस मेहतर के जीवन-रहस्य से प्रकाश पाने के लिए अपना जीवन भी प्रकाशमय बनाना होगा। हिन्दी में इस प्रकाशमय जीवन की ही तो कमी है।

इसमें आदर्शवाद क्या है? यह तो एक व्यावहारिक सत्य है। जो विषय कठिन है उसे कठिन कहना आदर्शवाद नहीं है। हम जड़ व्यक्तित्व को मिटाने का निवेदन करते हैं आप उसे 'हम चुनी दीगरे नेस्त' समझते हैं। हम साहित्य की साधना का उल्लेख करते हैं, आप उसे मेरी महत्त्वाकांक्षा बतला देते हैं। हम क्रमविकास पर विश्वास रखते हैं, आप मुझे गुफा में भेज देना चाहते हैं। हिन्दी में साहित्य-समीक्षा हाल में शुरू हुई है इसलिए नई बातें कही ही जाती हैं। पर आप प्रत्येक नई बात को अहंकार का महान् कुटिल रूप ठहराते हैं। क्या इस तरह इलज़ाम लगाकर आप साहित्य का विकास करेंगे अथवा क्या मुझे अपने विचार प्रकट करने से रोक देंगे?

सिद्धान्तों की चर्चा इतनी ही है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी ने अपने 'आत्मकथांक' के समर्थन में कुछ ऐसी बातें कही हैं जो केवल भ्रम हैं। उदाहरण के लिए वे एक स्थान पर यह आभास देना चाहते हैं कि महात्मा तुलसीदास ने जो कुछ लिखा 'आत्मकथा' ही है। यही नहीं, आप ने तो एक तरफ 'उपनिषद्, वेद, रामायण, महाभारत' और दूसरे तरफ 'कालिदास, माघ, भास और बाण' जो कुछ गिनाते बना सब आत्मकथा की श्रेणी में गिना दिया। यह इस आधार पर कि सब ने अपने-अपने अनुभव व्यक्त किये। पर जब प्रेमचन्दजी "क्या आत्मकथा साहित्य का अंग है या नहीं" शीर्षक पहले लेख में 'आत्मकथा' को साहित्य के एक विशेष अंग के रूप में ग्रहण कर तर्क आरम्भ कर चुके हैं तब अन्यत्र इस प्रकार की विज्ञप्ति करने का कोई अधिकार नहीं रखते। जब 'आत्मकथा' का एक अर्थ आप आरम्भ में मान चुके हैं तब दूसरे अर्थ को ग्रहण करने में या तो आपका अनिश्चय प्रकट होता है या वाक्छल।

अन्त में मुझे यह समझकर मनोरञ्जनयुक्त विस्मय होता है कि जिस मूलवस्तु को लेकर यह सम्पूर्ण विवाद हुआ वह 'हंस' का तथाकथित 'आत्मकथांक' वास्तव में 'आत्मकथा' नहीं 'संस्मरणाङ्क' के रूप में निकला है। यदि इसका विज्ञापन करने वाले इस विभेद का ध्यान रखकर 'संस्मरणाङ्क' के नाम से विज्ञापन करते तो शायद इतना तूफ़ान उठने की नौबत ही न आती। तथापि 'आत्मकथा' के विषय में प्रेमचन्दजी की बातें सुनने, अपनी बातें कहने और अनेक आदरणीय हिन्दी-कवियों की बातें जानने का मुझे जो सुअवसर प्राप्त हुआ उसका श्रेय 'हंस' के तथाविज्ञापित 'आत्मकथांक' को ही है। हिन्दी-जनता का इस कहा-सुनी से जो मनोरञ्जन हुआ—और मुझे सूचना मिली है कि उसका पर्याप्त मनोरञ्जन हुआ है—वह अलग।

व्यक्तिगत सम्बन्ध का विचार कर ऊपर मैं जो कुछ कह चुका हूँ, आशा है उसके बाद अब मुझे प्रेमचन्दजी से क्षमा-प्रार्थना की आवश्यकता नहीं रही। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब पिछली बार लखनऊ में दिये हुए अपने वचन के अनुसार प्रेमचन्द्रजी प्रयाग आकर मुझे दर्शन देंगे और मेरे अतिथि बनेंगे।

——

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

—:o※※o:—

नवीन युग की हिन्दी-कविता की वृहत्त्रयी के रूप में श्री जयशङ्कर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिष्ठा मानी जाती है। उपर्युक्त वृहत्त्रयी ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी काव्य में युगान्तर उपस्थित कर चुकी है। यह कविता के अन्तरङ्ग और बाह्यांगों की मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इनमें भी ऐतिहासिक दृष्टि से श्री जयशङ्करप्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेषता-समन्वित है। उन्होंने कविता विषय का सबसे प्रथम विस्तार किया, कल्पना और सौन्दर्य के नये स्पर्श अनुभव कराये। उनके पूर्व के हिन्दी-कवि, प्राचीन शृङ्गार कवियों के शृङ्गार से इतना भयभीत से हो गये थे कि वे उसे स्पर्श करने में ही सङ्कोच मानने लगे थे। काव्य में मधुर भावों का प्रवेश सशंक दृष्टि से देखा जा रहा था, जिसके कारण कविता के प्रति आकर्षण की कमी हो रही थी। समालोचकों ने लिखा है कि आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी पर मराठी भाषा का प्रभाव था और मराठी की पदावली स्वभावकर्कश थी। उनका कथन है कि द्विवेदीजी तत्कालीन हिन्दी-कविता के अध्वर्यु थे, इसलिए मराठी की उक्त कर्कश पदावली हिन्दी में भी आ गई। परन्तु इस प्रकार के आरोप विशेष संगत नहीं समझ पड़ते। आचार्य द्विवेदीजी पर मराठी से कहीं अधिक संस्कृत का प्रभाव था और वे हिन्दी के नेता होते हुए भी कविता के डिक्टेटर उस अर्थ में नहीं बने जिस अर्थ में मुसोलिनी इटली का डिक्टेटर है। इसलिए ऐसा कहना कदाचित् भ्रमपूर्ण होगा कि मराठी के प्रभाव और हिन्दी में द्विवेदी जी के नेतृत्व के कारण नीरसता का प्रसार हो रहा था। यह कहना भी समुचित नहीं कि हिन्दी की तत्कालीन कर्कशता खड़ी बोली के व्यवहार के कारण थी। यदि थोड़ा-सा ध्यान देकर देखा जाय तो समझ में आ जायगा कि खड़ी बोली का व्यवहार, मराठी का प्रभाव आदि हिन्दी की तत्कालीन कठोरता के कारण नहीं थे वरन् ये स्वयम् लक्षण थे जिनका कारण तत्कालीन वातावरण में ढूँढ़ना चाहिए।

हम उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी के द्विवेदी-युग के साहित्यिकों को शृङ्गारी कविता के प्रति स्वभावसिद्ध शङ्का रहती थी। उस समय की यत्किंचित् शृङ्गारोन्मुख रचनाएँ देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविगण कितना भयभीत होकर, फूँक-फूँक

कर क़दम रखते थे। अभी उस दिन हम 'कविता-कलाप' नाम का आचार्य द्विवेदीजी कृत संग्रह देख रहे थे जिसमें 'महाश्वेता' आदि कितने ही स्त्री-चरित्रों पर कविताएँ लिखी गई हैं। हमने देखा कि सर्वत्र सङ्कोच के कारण कविताएँ त्रुटिपूर्ण हो गई हैं। अधिकतर एक कृत्रिम उपदेश की भावना लिये हुए नारी का सौन्दर्याङ्कण किया गया है और वह सौन्दर्य बहुत ही स्थूल, बाह्य-रेखाबद्ध और नपा-तुला हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि कवियों ने शृङ्गार-विषय को काव्यवस्तु बनाने की प्रवृत्ति ही क्यों दिखाई! शायद वह प्रवृत्ति मनुष्यता की अनिवार्य माँग है। जब वह अनिवार्य है तो शृङ्गार यदि विष भी हो तो भी उसे शोध कर गुणकारी बनाना चाहिए था। किन्तु वह गुणकारी किस प्रकार बन सकता है, इसकी विधि द्विवेदी-काल के साहित्यसेवियों को निश्चयपूर्वक मालूम न थी। स्मरण रखना चाहिए कि वह ऋषि दयानन्द के आर्य-समाज का युग था, जिसकी विशेषता संघर्ष बतलाई जाती है। चित्रकला में रविवर्मा उस काल के प्रतिनिधि थे। उनकी भी रुखाई हम लोगों को मालूम ही है। उस समय लोग घर में लड़ाई करके बाहर देशप्रेम जनाने में गौरव का अनुभव करते थे। नारी के प्रति न तो प्राचीन काव्यों का-सा औदात्त्य, न कादम्बरी का-सा सहज स्वा-तंत्र्य और न पाश्चात्य यथार्थोन्मुख रचनाओं की-सी अकृत्रिम भावना व्यक्त हो सकी। बहुत से कवि जीवन के व्यापक क्षेत्र से हटकर डिप्टी कलक्टरों और तहसील-दारों को 'जुग-जुग जिलाने' में ही लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में जब कभी कविगण अपने हृदय की टोह लगाते होंगे तब अपनी रचनाओं में एक अपूर्णता और कृत्रिमता का अनुभव अवश्य करते होंगे। शायद यही अनुभव कर वे प्राचीन रसमय संस्कृत काव्यों का अनुवाद करने को प्रेरित हुए। श्री श्रीधर पाठक ने इसी समय के लगभग कुछ अँगरेज़ी कविताएँ पढ़ीं और हिन्दी में उन्हें उद्धृत किया। परन्तु अनुवाद तो आख़िर अनुवाद ही है।

एक और बात भी ध्यान देने लायक़ है। ब्रजभाषा में उस समय शृङ्गारिक समस्यापूर्तियाँ हो रही थीं, जिनके विरुद्ध खड़ी बोली में एक आन्दोलन ही चल उठा था। इन समस्यापूर्तियों में भी ऊपरी हावों-भावों, बाहरी मुद्राओं और स्थूल इंगितों की ही प्रधानता रहती थी। उधर उन लोगों ने शृङ्गार के अतिरिक्त सब कुछ अस्पृश्य समझ लिया और उसे कोरी शारीरिक वर्णनों तक ही सीमित रक्खा। इधर इन लोगों ने शृंगार को ही अस्पृश्य समझ लिया और उसका या तो त्याग ही कर दिया या उसे उपदेशात्मक काव्य का विषय बना डाला। वे लोग प्राचीनतावादी हो गये, ये लोग नवीनतावादी। उन लोगों को यह शऊर नहीं था कि शृङ्गार का संस्कार करते, इन

लोगों को शृङ्गार नाम से ही इतनी चिढ़ हो गई थी कि उसके संस्कार की कल्पना भी न कर सके। एक प्रकार का द्वंद्वयुद्ध चल रहा था जिसमें विवेक का प्रायः दोनों ओर से अभाव था। तथापि नवीन नवीन ही है और प्राचीन प्राचीन ही। सामयिकता की ओर प्रायः सब की रुचि होती है। द्विवेदी युग अपनी नवीनता के कारण सम्मानित हुआ। नवीन युग का उत्साह नवीन कविता में अवश्य देखा गया, पर जीवन के अंतरंग को स्पर्श करनेवाली वास्तविक काव्यसृष्टि कम ही हो सकी।

एक चौथी बात और है। हिन्दी में द्विवेदी-युग गद्य के अभ्युदय का युग था। विचारों का प्रकाश जितना गद्य में प्रकट होता है उतना पद्य में कठिनाई से हो सकता है। समूह की भाषा गद्य की ही हो सकती है, और उस समय समूह की भाषा की आवश्यकता थी। काव्य के द्वारा तर्क नहीं किया जा सकता, पर उस समय लोग तर्क पसन्द करते थे। अभ्युदयशील जनतावाद के युग में पद्य की अपेक्षा गद्य का अधिक प्रयोग किया जाना स्वाभाविक ही है, वही किया भी गया। सिद्धान्तों की चर्चा के लिए, साधारण विचार व्यक्त करने के लिए, वक्तृताओं के लिए, गद्य का सभी लोग प्रश्रय लेते हैं, उस युग के भी साहित्यिकों ने लिया। आचार्य द्विवेदी जी की अधिकांश प्रतिभा गद्यशैली की स्थापना में ही व्यय हुई। छंद की ओर उतना ध्यान नहीं रहा जितना व्याकरण की ओर। काव्य सङ्गीत को छोड़कर साहित्यिकों ने गद्य-प्रवाह का पल्ला पकड़ा। कोई नहीं कह सकता कि वे अपने कार्य में असफल हुए। कुछ ही वर्षों के प्रयास से उन्होंने हिन्दी में गद्यशैली की ऐसी सुदृढ़ स्थापना कर दी जिसका लोहा अब भी माना जाता है। कविता के क्षेत्र में द्विवेदी-युग का अतिक्रमण किया जा चुका है। विचारों की दुनिया भी बदल चुकी है, पर गद्यशैली तो उसी युग की अब भी चल रही है। आज भी आचार्य द्विवेदी जी गद्य के सब से बड़े अधिष्ठाता माने जाते हैं। जिस प्रकार कव्य में खड़ी बोली का प्रयोग सामयिक वातावरण का एक लक्षणमात्र था, उसी प्रकार गद्य का विकास भी। उसी वातावरण में रविवर्मा के चित्रों का सार्वदेशिक सम्मान हो रहा था। उस वातावरण को हम एक प्रकार का सामूहिक पवित्रता-वादी, नवोत्साहपूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसमें स्थूलता और कृत्रिमता की छाप भी देखी जाती है।

सब लोगों को इस प्रकार का वातावरण रुचिकर नहीं होता। यदि कुछ लोग सिद्धान्त-निरूपण और तर्क पसन्द करते हैं तो सब लोग नहीं कर सकते। गद्य का चमत्कार उन्हीं के कानों में सङ्गीत से बढ़कर आनन्द उत्पन्न कर सकता है जिनको

वैसी अभिरुचि हो। बहुत से ऐसे आदमी मिलेंगे जो श्री० महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्यसौन्दर्य को श्री० सुमित्रानन्दन के छन्दों से अधिक पसन्द करें, पर बहुत से ऐसे नहीं भी मिलेंगे। 'कविता-कलाप' की रचनाएँ तो आज बहुत ही कम रुचिकर लगेंगी, उसकी शृङ्गार सम्बन्धी कविताएँ तो निम्न कोटि की समझ पड़ेंगी। उनमें कवियों का हृदय खुलकर कल्पना और भावना की तरंगों में बहा ही नहीं। जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' पढ़ी है, फिर 'कविता-कलाप' की 'तिलोत्तमा' आदि का वर्णन पढ़ा है वे यह समझ लेंगे कि द्विवेदी-युग कविता के लिए कितना अनुपयोगी और अनुर्वर था। यदि काव्य के लिए अनुपयोगी न होता तो शायद इतने अल्प समय में गद्य की इतनी सुन्दर प्रतिमा खड़ी न की जा सकती। कविता के लिए अनुपयोगी हो, तो भी हिन्दी के लिए वह सुयोग ही था।

उस समय की प्रचलित कविता की दिशा बदलने में अग्रणी श्री जयशङ्कर प्रसाद ही ठहरते हैं। श्री० श्रीधर पाठक की अनुवादित कृतियों के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ प्रसादजी के पहले की नहीं हैं। कवि श्री० रत्नाकर प्राचीन पौराणिक कथा-वस्तुओं को लेकर आलंकारिक रचनाएँ कर रहे थे। उनकी भाषा पुरानी और काव्य-संस्कृति मध्यकालीन थी। नवीनता केवल नवीन रूपकों, अलङ्कारों और प्राचीन भावों को नवीन उक्तियों से सज्जित करने में थी। आप कह सकते हैं कि कथानक के प्राचीन होने से क्या उनका चित्रण नवीन नहीं हो सकता? हो सकता है, जैसा मैथिलीशरण जी के 'साकेत' आदि काव्यों में हुआ भी है, किन्तु रत्नाकरजी की वह दृष्टि नहीं थी। वे प्राचीन आत्मा में नव्य प्रकृति का सन्निवेश नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने प्राचीन आत्मा को ही रंगीन बनाकर उपस्थित किया। उनकी रचना इसी लिए उक्ति-बहुल और आलङ्कारिक हुई। एक बात यहाँ और समझने की है। जिसे हम आज प्राचीन या मध्यकालीन कहते हैं वह उन-उन कालों में प्राचीन नहीं थी जब उसकी सृष्टि हुई थी। उदाहरण के लिए सूरदास जी को लीजिए और उनकी तुलना रत्नाकर से कीजिए। सूरदासजी के काव्य में वही भाव अतिशय प्राकृतिक, रसमय, मनोरम और परिपुष्ट संस्कृति के उन्नायक होकर आये हैं। उनकी काव्यधारा 'रत्नाकर' जी की-सी उक्ति-बहुल, अलंकृत और कोरी साहित्यिक (Pedantic) नहीं है।

श्री० मैथिलीशरण गुप्त तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय काव्यगत नवीनता, एक नया संदेश और नई दृष्टि लेकर आये। रत्नाकरजी के 'गङ्गावतरण' से गुप्त जी के 'जयद्रथवध' की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली में एक नई खराद

और काव्य में पौराणिकता के स्थान पर आदर्शात्मक मनोभावों का प्रवेश भी हो रहा है। किन्तु वह प्रवेश भी आरंभिक और आंशिक है। मैथिलीशरणजी में वह एक करुण मानवीय सात्त्विकता तथा उपाध्यायजी में प्रशान्त सात्त्विकता तक सीमित है। अपने समय के ये उत्थान कम उल्लेखनीय नहीं हैं, किन्तु ये शैशवावस्था के हैं। ये जीवन की व्यावहारिक वास्तविकताओं और यौवनोद्वेग की किरणों से ऊष्म नहीं हैं। कथावस्तु प्राचीन है, यद्यपि निरूपण नया है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि पूर्वयुग की है। उदाहरण के लिए गुप्तजी की नवीनतम रचना 'द्वापर' काव्य को भी देखें तो स्त्री का वही करुण समर्पण, भावुक परावलम्बन आदि देखने को मिलेंगे। काव्य-चित्र और काव्य-शैली भी व्यक्त, स्थूल रेखाबद्ध, अनुदात्त और अनुत्कर्षपूर्ण है। सिख गुरु के प्रभाव के कारण उपाध्यायजी में करुणा की अपेक्षा शान्त और भावना की अपेक्षा कर्तव्यपरायणता की प्रमुखता है किन्तु दोनों है एक ही युग के दो रत्न, साहित्य में भी समानधर्मी, सांस्कृतिक दृष्टि भी मिलती-जुलती। कुछ समीक्षकों ने लिखा है कि इन कवियों का प्रकृति-प्रेम और प्राकृतिक चित्रण भी उल्लेखनीय है किन्तु प्रकृति का स्वतन्त्र और वास्तविक चित्रण तथा उसकी निजी सत्ता के प्रति आकर्षण हमें इन कवियों में कहीं नहीं देख पड़ता। यत्किंचित् वह उपाध्यायजी में है पर कथा के अङ्ग-रूप में ही। यह भी एक कारण है कि हमें इन कवियों में प्रबन्ध-रचनाओं की ही प्रवृत्ति देख पड़ती है, सुन्दर भाव-गीतों की सृष्टि की नहीं।

श्री जयशङ्कर प्रसाद ने काव्य के लिए परम आवश्यक माधुर्य भाव की सृष्टि प्राकृतिक वर्णनों द्वारा आरम्भ की। 'चित्राधार' की उनकी उस काल की कविताएँ लोगों को अनोखी लगी होंगी।

'चित्राधार' से प्रकृतिप्रेम की जो कविता आरम्भ हुई उसका विश्लेषण करने पर कई बातें मालूम होती हैं। एक तो वह गीत-कविता के रूप में है। जहाँ छोटी-छोटी भावानाएँ एक में केंद्रित होकर गेय हो उठती हैं, उसे गीत-काव्य कहते हैं। हिन्दी के आलोचकों ने गीत-काव्य के सम्बन्ध में भयानक भ्रम फैला रखा है। अपनी विचित्र व्याख्याओं में वे कहा करते हैं कि जहाँ अंतःसौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहाँ गीत-काव्य द्वारा और जहाँ बाह्य-सौन्दर्य व्यक्त करना होता है वहाँ प्रबन्ध-काव्य द्वारा किया जाता है। पर इस प्रकार की बात वास्तव में है नहीं ! द्विवेदी-कालीन काव्यकारों या पुस्तक-रचयिताओं को ही लीजिए। क्या उनमें हम केवल बाह्य आकार-प्रकार और व्यवहार की स्थूल वर्णना ही मुख्यतः नहीं पाते ? यही नहीं, प्रेम-

मूलक जिन कविताओं में वे समीक्षक अन्तःसौन्दर्य देखा करते हैं उनमें कहीं-कहीं तो अन्तःसौन्दर्य यही होता है कि वे एक उत्तेजनाशील प्रज्वलन मात्र उत्पन्न करती हैं। यदि देखा जाय तो इस प्रकार के अन्तःसौन्दर्य से तो बाह्य-सौन्दर्य ही श्रेष्ठ है। इसी के विपरीत हम प्रबन्धकाव्यों के विस्तृत कथनाकों और चरित्र-चित्रणों में जो ऊपरी दृष्टि से बाह्य प्रतीत होते हैं उत्कृष्ट श्रेणी का अंतःसौन्दर्य देखते हैं। वास्तव में सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साँचे की बंदिनी नहीं। वर्णानात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके बाह्य और आन्तर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असङ्गत है। गीत-काव्य और प्रबन्ध-रचना में भेद यह है कि एक में काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य या जीवनसमस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है और दूसरे में बहुमुखी जीवनदिशाओं और स्थितियों का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य की भूमिका प्रायः उदात्त और स्वर गम्भीर हुआ करता है; जब कि गीतों में माधुर्य की प्रधानता होती है। वर्णनात्मक काव्य में बाह्य जगत् और जीवन-व्यापारों का सौन्दर्य दर्शनीय होता है और मुक्तक काव्य में मानसिक स्वरूपों, सूक्ष्म और रहस्यमय मनोगतियों की सुषमा अधिक देखने को मिलती है। दोनों में ही उच्च कोटि का काव्य, जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, हमें मिल सकती है।

यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त अद्भुतआलोचकों के कारण हिन्दी काव्यजगत् में अत्यंत हानिकारिणी विचार-परम्परा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौन्दर्य नहीं। वहाँ अन्तःसौन्दर्य देखा जाता है। जहाँ सौन्दर्य है उसकी अवहेलना की जाती है। जो गीत-काव्य केवल काव्य सम्बन्धी बाह्य वर्गीकरण की वस्तु है उसे जीवन के अन्तःसौन्दर्य का प्रतिनिधि समझा जाता है। यह सब का सब भीषण भ्रम है। कविता की प्रकृत समीक्षा में न कहीं गीतकाव्य है, न कहीं अगीत काव्य। न कहीं अन्तःसौन्दर्य है, न कहीं बाह्य सौन्दर्य। सब प्रकार के काव्य में सब प्रकार का सौन्दर्य समाहित किया जाने योग्य है। हमें देखना यही चाहिए कि कहाँ पर क्या है?

श्री जयशङ्कर प्रसाद के 'चित्राधार' में उनकी विशिष्ट प्रकार की दार्शनिक अभिरुचि के कारण प्रकृति-प्रेम एक विशिष्ट प्रकार से व्यक्त हुआ है। अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निसर्गसिद्ध तादात्म्य नहीं देख पड़ता। प्रत्येक पुरुष में उन्हें वह प्रीति नहीं जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। यह 'चित्राधार' की बात कही जा रही है। उसमें उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता में

रमणीयता देखते हैं, सर्वत्र नहीं। इस रमणीयता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है, जिज्ञासा उनका मस्तिष्क-पक्ष। कहीं-कहीं वे रमणीय दृश्यों को देख कर मुग्ध होते और कहीं-कहीं प्रश्न पूछते हैं कि यह रमणीयता इसमे कहाँ से आई। यदि अधिक छान-बीन की जाय तो देखा जायगा कि मुग्ध होने वाले स्थल कम हैं, जिज्ञासा के स्थल अधिक। जिज्ञासाओं की व्यञ्जना यह है कि वे प्रत्येक रमणीय वस्तु में चैतन्य ज्योति देखते हैं। अवश्य ही यह चैतन्य ज्योति कवि के हृदय मे चमत्कार उत्पन्न करती है। यह चमत्कार आरम्भ में जीवन के किसी गहन स्तर को स्पर्श करता कम देख पड़ता है। नवयुवक कवि यद्यपि अनेक बार इस प्रकार की जिज्ञासाएँ करके दिव्य सौन्दर्य का संकेत करता है पर उसकी सामान्य दृष्टि किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती। उसकी सौन्दर्य-भावना का विकास व्यापक नहीं होता। वह प्रकृति के रम्य रूपों और नारी की मनोहरता तक ही परिमित रहती है। जिस प्रकार व्रजभाषा के कवि प्रकृति का वर्णन मनुष्यजगत् का उद्दीपन बनाकर करते थे, उसी प्रकार अनेक बार जयशङ्करजी ने भी किया है, किन्तु उनकी भावना आरम्भ से ही अधिक सूक्ष्म और उन शृङ्गारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा ही आगे उनके विकास में सहायक हुई है। यदि 'चित्राधार' में ये जिज्ञासाएँ न होतीं तो प्रसादजी प्रेमाख्यानक शृङ्गारी कवियों की श्रेणी से ऊपर उठकर उच्चतर रहस्यकाव्य का सृजन न कर पाते।

'चित्राधार' से आगे बढ़ने पर श्री जयशङ्कर प्रसाद के प्रकृति-प्रेम और मानव-चरित्र सम्बन्धी धारणा को उत्तरोत्तर गहराई मिलती है। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति का विकास होता है। 'प्रेम-पथिक' इसका प्रमाण है। इसमें प्राकृतिक वर्णन मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गया है और मानव-सौन्दर्य केवल कुतूहल की वस्तु न रहकर एक अनुपम त्याग की भावना में पर्यवसित हो गया है। प्रकृति के प्रेम से हटकर उनकी जिज्ञासा मनुष्यों के प्रेम में समाविष्ट हो गई है। जिज्ञासा का तार नहीं टूटता। इसी में कवि का विकास देखा जा सकता है। 'प्रेम-पथिक' में कवि की मनुष्यप्रेम सम्बन्धी जिज्ञासा का स्वरूप प्रकट हुआ है। यहाँ कवि एक तात्त्विक निष्कर्ष तक पहुँच सका है। प्रेम अनन्त है, उसका ओर-छोर नहीं है। उसकी परिणति पूर्ण त्याग में है। इसमें बड़ी स्वच्छता और सात्त्विकता है। यह न समझना चाहिए कि प्रसादजी का यह प्रेम-सम्बन्धी आदर्श प्राचीन आध्यात्मिक गतानुगतिकता का परिणाम है। इसमें कवि की अपनी अनुभूति और विचारणा का भी योग है। इसका भाव-चित्रण तथा

प्राकृतिक दृश्यावली कवि के हृदय के योग से अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखती है। इसमें परम्परा-रक्षण के स्थान पर नवीन उद्योग है। बाह्य प्रकृति की रमणीयता के साथ-साथ प्रेम की रमणीयता की यह छोटी-सी आख्यायिका हिन्दी में एक नवीन भावधारा का आगमन सूचित करती है। प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि से स्वच्छ जीवन क्षण में लिखा गया है।

'आँसू' प्रसादजी का विरहकाव्य है। यह बड़ी ही मनोरम गीतकविता है। हिन्दी में इसकी गणना थोड़ी-सी उत्कृष्ट रचनाओं में की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी में जो थोड़े-से प्रथम श्रेणी के विरह-गीत हैं उनमें 'आँसू' का भावना-सङ्कलन श्रेष्ठ होने के कारण वही उत्तम गीत है। 'आँसू' को अध्यात्म और छायावाद आदि का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसको उसके प्रकृत रूप में देखना चाहिए। विरह का इतना मार्मिक वर्णन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया लेने की ज़रूरत नहीं—उसकी उच्चता स्वतःसिद्ध है। काव्य-विकास के जो परमाणु खिलकर 'आँसू' में निखरे हैं, उन्हें वादों के बखेड़े में डाल देने की हम तजवीज़ नहीं कर सकते। कवि के साथ यह अन्याय अनुचित होगा।

'आँसू' प्रसादजी की पूर्व की रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें 'चित्राधार' की-सी हलकी, चमत्कार-चञ्चल दृष्टि नहीं है, न 'प्रेमपथिक' का-सा 'रोमांटिक' प्रेमादर्श का निरूपण है—वह अधिक गहरी चीज़ है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि निःसङ्कोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट् आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट् रूपकों और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है वही 'आँसू' बनकर निकली है। इसे आप कवि का आत्मस्वीकार मान सकते हैं जिससे बढ़कर काव्योपयोगी वस्तु दूसरी है ही नहीं। यह कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग अधिक मार्मिक और अधिक सत्य है? जब कवि किसी अत्यन्त आवश्यक सांसारिक समस्या पर अपने अन्तरतम की बातें कह रहा है, तब उसे उसी रूप में न ग्रहण कर हम न अपने प्रति न्याय करते हैं न कविता के प्रति। 'आँसू' में छायावाद कहाँ है? उसके वियोग-वर्णन में? नहीं वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति में? नहीं, वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी में जब किसी के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इस तरह

की बातें कहे, तब प्रसादजी ने उन्हें कहा! यह साहस और कवि की समवेदना स्वतः ही काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर ले गई है। दूसरे अध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं।

हाँ, इस सम्पूर्ण वर्णना में जो मानवीय और प्रकृत है, एक अन्तर्निहित रहस्यात्मक या आध्यात्मिक ध्वनि भी आद्यंत सुन पड़ती है, यही है 'आँसू' की रहस्यात्मकता। इसका कारण यह है कि मानवीय प्रेम या सौन्दर्य आदि 'आँसू' काव्य में केवल स्थूल प्रेम या सौन्दर्य नहीं हैं, वे प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के अङ्ग बन गये हैं। 'आँसू' में मानवीय प्रेम और विरह एक नवीन रहस्यात्मक दीप्ति से दीपित है। यही अन्तर है, सूफ़ी-प्रेम और सौन्दर्य की अभिव्यक्तियों में और प्रसादजी के प्रकृत रहस्य-काव्य में। सूफ़ी, प्रेम और सौन्दर्य रूप आत्मा के चित्रण को ही लक्ष्य मानकर, केवल आनुषंगिक रूप से मानव-जीवन के दृष्टान्त लेते हैं, किन्तु प्रसादजी अथवा आधुनिक छायावादी दृश्यमान् मानव-जीवन को ही लक्ष्य मानकर उसकी अलौकिकता की झाँकी देखते हैं। यह स्पष्ट है कि इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यों, परिस्थितियों और व्यापारों की नियोजना आधुनिक छायावाद से प्राचीन सूफ़ी-काव्य की अपेक्षा अधिक सबल और यथार्थोन्मुख हुई है।

'आँसू' सब प्रकार से एक मानवीय विरह-काव्य है। तभी उसके अन्त में जो तत्त्विक निष्कर्ष है वह हमारे इस जीवन के लिए आशाप्रद और उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सम्पूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अन्तिम पंक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे न रसानुभव कर सकेंगे। 'आँसू' की अन्तिम पंक्तियों की शिक्षा हम पर तभी प्रभाव कर सकेगी जब हम उसे मानवीय आत्मकथा मानें। यदि वह छायावाद है तो इसी अर्थ में कि वह मानवीय प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है। कवि की अनुभूतियों के साथ इसी रीति से न्याय किया जा सकता है।

'आँसू' के अनन्तर कुछ समय तक प्रसादजी की कविता का वैसा परिपाक कहीं नहीं देख पड़ता। 'झरना' में कुछ अच्छी रचनाएँ बहुत-सी साधारण कृतियों के साथ मिली होने के कारण अच्छा प्रभाव नहीं उत्पन्न करतीं। प्रगतिशील समय के नवीन बौद्धिक प्रयोगों और उसकी निर्णयहीन अव्यवस्था में प्रसादजी अपने को पुनः डुबा देते हैं। उनकी वाणी वहाँ प्रकृत रीति से कम ही झंकृत हुई है, उनके स्वर का निसर्ग उच्छ्वास वहाँ नहीं सुन पड़ता। इसका कारण ढूँढ़ने बहुत दूर नहीं जाना है। यह तो

उनके विकास के साथ-साथ स्पष्ट देख पड़ता है। प्रसादजी मूलतः प्रेम-रहस्य के कवि हैं। सामाजिक विचारणा में वे 'मिल' की भाँति व्यक्तिवादी हैं और सामूहिक प्रगति सम्बन्धी उन आदर्शों से अनुप्रेरित हैं जो मध्यवर्ग के बौद्धिक और औद्योगिक उत्थान के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे, जिनमें स्वभावतः अल्पसंख्यक उच्चवर्ग और उसके ह्रासोन्मुख-संस्कारों के विरुद्ध नवीन जनसत्तात्मक भावों का प्राधान्य था। यूरोप में यही प्रगति 'लिबरलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध हुई, और अब भी जनसत्तात्मक राष्ट्रों मे, आवश्यक परिवर्तनों के साथ प्रचलित है। राष्ट्रीय औद्योगीकरण, वर्गसंघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन 'यथार्थवाद' का प्रसादजी के साहित्य में केवल एक आभास मिलता है। यद्यपि प्रसादजी की मूल प्रवृत्ति 'यथार्थोन्मुख' ही है किन्तु संकीर्ण अर्थ में 'यथार्थवादी' वे नहीं हैं। कोरा भौतिक दर्शन और वैज्ञानिक प्रगति से आक्रान्त मनोभाव प्रसादजी में हम नहीं पाते।

प्रसादजी मनुष्यों के और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। शेष प्रकृति यदि उनके लिए चैतन्य है तो भी मनुष्य सापेक्ष्य है। यह विकास-भूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है। 'आँसू' में प्रसादजी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी साज सजाकर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शङ्खनाद है। कवि जयशङ्कर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसाद जी प्रसादजी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं। 'झरना' में एक विचित्र अवसाद, जो नवीन बौद्धिक अन्वेषणों और तज्जन्य संशयों का परिणाम जान पड़ता है, बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रेम-पथिक' की आदर्शात्मक भाव-धारा की प्रतिक्रिया भी इसमें दिखाई देती है। यह प्रसादजी के मानसिक विकास की दृष्टि से परिवर्तन-काल की सृष्टि है, किन्तु प्रसादजी जैसे प्रतिनिधि कवि के लिए जो नवीन प्रयोगों में (सामयिक विचार-प्रवाहों के नये चक्रों में) स्वभावतः व्यस्त रहते थे, यह कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। प्रश्न यह अवश्य है कि वे नवीन प्रयोग कौन से हैं जिनका अनिवार्य परिणाम 'झरना' है। मेरे विचार से ये वे प्रयोग हैं जो प्रसादजी को क्रमशः आशा और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गम्भीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहे थे। अवश्य ही यह साक्षात्कार 'झरना' में स्पष्ट नहीं है, केवल भाव-परिवर्तन की झलक भर है, किन्तु कटु वास्तविकता, गम्भीर जीवनानुभव तथा स्थान-स्थान पर प्रकट होनेवाली आलोकरहित प्रगाढ़ निराशा की वे प्रेरक शक्तियाँ यहीं उत्पन्न हो रही थीं जिनका परिपाक हम

आगे चलकर 'कामायनी' काव्य में देखते हैं। यद्यपि प्रसादजी में मानवता, उसकी शक्ति और सम्भावना के प्रति इतनी सुदृढ़ आस्था थी कि 'कामायनी' में काव्य दुःखान्त होने से बच गया, किन्तु अपने युग की सामाजिक और सांस्कृतिक असाध्य हीनताओं के प्रति प्रसादजी की विरक्ति, क्षोभ और आवर्जना 'कामायनी' में कम परिस्फुट नहीं हुई है। उन्हीं का उद्गम-स्रोत हमें 'झरना' में दिखाई देता है।

अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसादजी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामञ्जस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्व-प्रथम चेष्टा इस काव्य में की गई है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखनेवाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसादजी को प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा; कर्म, भावना और बुद्धि; क्षर, अक्षर और उत्तम तत्त्वों को सुसंलग्न कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने इन तीनों का भेद मिटाकर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं, यही नहीं, शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही है। एक की साधना से सब की साधना बन जाती है। महाराज मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की कठोर परीक्षा करके 'मनु-स्मृति' की रचना की थी। उसमें उन्होंने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार आश्रमों की नियोजना की थी। इस आश्रम-संस्था के मूल में जो सुदृढ़ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसादजी ने उसका काव्यमय रूप पुनः उपस्थित किया है। उसकी ओर लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य में मनु, मानव या मनस्तत्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा सांख्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण से, वैदिक तथा पौराणिक कथाओं की अनुश्रुति पर, मनुस्मृति का सामयिक अनुशीलन, अनुसरण और संशोधन करते हुए, आधुनिक रुचि के अनुकूल, नारी की महिमा का विशेष रूप से प्रकाश करने के लिए, उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा

विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसी लिए मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदासजी की इन स्मरणीय पंक्तियों से करता हूँ :—

अस मानस मानस चख चाही
भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखों से देखने पर प्रकट होता है कि उसमें मन की नैसर्गिक इच्छाओं और भावनाओं के विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसके उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम समरसता में सजाकर उसे विशृङ्खल बनने से बचाया गया है। आप कह सकते हैं कि यह समरसता भी अपनी सीमारेखाएँ बनाकर रूढ़ का रूप धारण कर सकती है। सम्भव है ऐसा हो, किन्तु इस भय से कोई कवि अपने काव्य में आवश्यक सन्तुलन (Equilibrium) की नियोजना बिना किये कैसे रह सकता है ! फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रूढ़ि के स्थान पर नई रूढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि सम्भव है ऐसा भी हो, किन्तु हम यह भूल नहीं सकते कि नई रूढ़ि में हमें नये जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रूढ़ि में ताज़े जीवन-स्रोतों का अभाव ही नहीं होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओं में दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अन्तर भी कम ध्यान देने योग्य नहीं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकाङ्गी और अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर, व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।

'कामायनी' काव्य अपने पूर्व युग की कृतियों से अनेक विशेषताएँ रखता है। प्रथम, उसका मनोवैज्ञानिक आधार सुविकसित और प्रौढ़तर है तथा उसमें एक व्यापक अंतर्निहित दार्शनिक निरूपण अपने लिए स्थान बना सका है। यह निरूपण प्रसादजी की समन्वयशील विचारणा का परिणाम है। द्वितीय, कामायनी में पूर्वयुग की नीतिवादी प्रतीकव्यंजना के स्थान पर आनन्दवादी आध्यात्मिक व्यंजना की स्थापना है। तृतीय, इसमें पूर्व युग की 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' की बँधी हुई, आदर्शवादी लीक को तोड़ कर जीवन-प्रयोगों का विस्तार दिखाया गया है। यह विस्तार नवीन युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक है। चतुर्थ, रहस्यवाद और प्रेमाख्यानक काव्य के भीतर प्रसादजी ने नवीन सांस्कृतिक निर्माण का कार्य प्रचुर

परिमाण में 'कामायनी' द्वारा किया है। और पंचम, केवल काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी कामायनी का स्थान आधुनिक हिन्दी में अत्यन्त ऊँचा है।

प्रसादजी का साहित्य सच्चे अर्थ में नवीन जीवन से सम्बद्ध है और वह आधुनिक समस्याओं का हल भी उपस्थित करता है। वह सांप्रतिक जीवन का उन्नायक है। उनका नाटक-साहित्य इतिहास और 'रोमान्स' के भीतर से नई सांस्कृतिक जागृति में सहायक हुआ है। यह बात साहित्य के विद्यार्थियों से छिपी नहीं है कि पश्चिमी सांस्कृतिक उत्थान ('रिनेसाँ') के प्रभातकाल में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ साहित्य में दिखाई दी थीं। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ या छोटी कहानियाँ कोमल, कल्पनाविशिष्ट किन्तु उत्थानमूलक भावनाओं से भरी पड़ी हैं। उनके दोनों उपन्यासों में एक (कंकाल) रूढ़िबद्ध जाति-प्रतिष्ठा के विरुद्ध और दूसरा (तितली) उच्चवर्गीयता के विरुद्ध आन्दोलन करता है। तितली के नायक और नायिका दोनों ही श्रमिक वर्ग के हैं और यद्यपि वे कम्यूनिस्ट लेखकों के इस श्रेणी के चरित्रों की भाँति कर्कश, सङ्घर्षमय और घृणाभिभूत नहीं हैं फिर भी अपनी वर्गचेतना से रिक्त नहीं हैं और भारतीय श्रमिक की संस्कारी परम्पराओं से युक्त हैं। और प्रसादजी का काव्य, चाहे उसे छायावाद कहिए या रहस्यवाद, मानवीय भूमि पर ही खड़ा हुआ है। अपने काव्य के लिए जो कतिपय दार्शनिक उद्भावनाएँ उन्होंने की हैं, उनसे यह आभास मिल जाता है कि प्रसादजी शक्ति और आनन्द की ऊँची मानसिक अभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य लक्ष्य मानते हैं। मैं यह नहीं कहता कि प्रसादजी की रचनाओं में कहीं मानसिक शैथिल्य, ख़ुमारी या ऐन्द्रिय विकार हैं ही नहीं, कतिपय क्षणों में उन्होंने जीवन-सङ्घर्ष के प्रति भीरुता या पलायन का भाव भी प्रकट किया होगा, किन्तु उन्हें हम अपवाद-स्वरूप ही मान सकेंगे।

अवश्य प्रसादजी का साहित्य 'रोमैन्टिक' या कल्पना-प्रधान श्रेणी में रक्खा जायगा, किन्तु रोमान्स के अन्तर्गत प्रगतिशील साहित्य भी आ सकता है और ह्रास-शील भी। रोमैन्टिक नाम से ही कुछ-का-कुछ समझ बैठना ठीक नहीं। हमें साहित्य की परीक्षा उसमें निहित मनोभावना से ही करनी होगी। जो 'प्रगतिशील' महानुभाव केवल ऊपरी दृष्टि से जीवन और साहित्य का ऐक्य देखना चाहते हैं, जो साहित्य की भावनात्मक गहराई में नहीं पैठना चाहते, जिनके लिए साहित्यिक प्रगति की पराकाष्ठा 'लाल तारा' तक पहुँचकर रह गई है और जो स्वभावतः 'रोमान्स' नाम से ही नफ़रत करने लगे हैं (मैं कह सकता हूँ उनमें से बहुतों को नफ़रत केवल काग़ज़ी है) उन्हें

में साहित्य का समीक्षक मानने से इन्कार करता हूँ। उन्हें चाहिए कि वे राजनीतिक गुटबन्दी के भीतर ही अपने विचारों का आदान-प्रदान किया करें।

यहाँ मैं उन असाहित्यिक प्रगतिवादियों के लिए उन्हीं के एक गुरुदेव की सम्मति का कुछ अंश उद्धृत करूँगा जो उन्होंने एक शताब्दी पूर्व के 'रोमान्स' वादी कवि 'स्काट' के सम्बन्ध में दी थी। ये उनके गुरुदेव साहित्यिक क्षेत्र से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते फिर भी इनकी सम्मति काफी निष्पक्ष है। आप (मेरा मतलब महाशय हैवलक एलिस से है) लिखते हैं:—

"Scott's work is the outcome of a rich and generous personality endowed with an eager imaginative receptivity. When he appeared he brought into the world what was, in effect, with all its imperfections, a new vision of the panorama of human life on earth. It has ceased to thrill by its novelity. But when it appeared it appealed mightily to grown men and women and influenced the course of literature everywhere. Half a century ago it was still a paradise for the young And now ? Well, it remains a source of joy if you have the fine thirst do drink there.

Today I view Scot with more balanced judgment. His faults were many and his inequalities disconcerting: but the same may be said, I find, of the very different virtues and vices of the most modern men, D. H. Lawrence or whom you will."

यह तो हुई 'स्काट' की बात। प्रसादजी तो उसकी अपेक्षा बहुत आधुनिक हैं। वे कोरमकोर रोमांसवादी भी नहीं, वे रहस्यवाद के ऊँचे समतल पर पहुँचते हैं और सबलतर भावना की सृष्टि करते हैं। मैं तो 'अध्यात्म' शब्द से नहीं घबड़ाता, क्योंकि मैंने 'अध्यात्म' का लेबल लगा हुआ उच्च काव्य पढ़ा है किन्तु जो इस नाम से ही इसे जीवन के बाहर की वस्तु समझ लिया करते हैं उनके आश्वासन के लिए मैंने कहा है कि प्रसादजी का रहस्यवाद अथवा उनकी आध्यात्मिक अनुभूति मानव-जीवन-व्यापार की नींव पर ही खड़ी है। आप नींव भी देख सकते हैं और प्रासाद

भी (तब सम्भवतः आप प्रसाद को केवल आकाश की वस्तु समझना छोड़ें)। प्रसादजी ने अपने काव्य की मानवीय नींव इसलिए स्पष्ट रूप में दिखाई है कि आध्यात्मिक उच्च भावना का व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक पहलू भी हम देख लें। बिना इसे देखे आज के पाठक को शायद सन्तोष न हो।

ऊपर मैंने प्रसादजी के काव्य की मानवीय नींव की बात कही है। आजकल जहाँ देखिए वहाँ मानवीय शब्द की भरमार हो रही है। सभी अपने काव्य को मानवीय क़रार देना चाहते हैं। फलतः 'मानवीय' शब्द इतना अनेकार्थी हो गया है कि उसे हम निरर्थक भी कह सकते हैं। बहुत-से लोग मैथिलीशरणजी के काव्य में मानवता का निरूपण देखते हैं। अवश्य, उसे हम अमानवीय नहीं कह सकते, पर वह एक प्रकार की आश्रमवासिनी मानवता है। आश्रम-वासी की सारी पवित्रता और सम्पूर्ण सरलता उसमें है। किन्तु उनका काव्य आधुनिक जीवन-व्यापी संघर्ष से अनाक्रान्त और अपरिचित है। वे आज के साहित्यिक को उपदेश देते हैं कि वह दीन-दुखियों का कष्ट देखे और उसका प्रदर्शन काव्य में करे। गुप्तजी शायद इस बात से सुपरिचित नहीं कि आज के साहित्यिक कर क्या रहे हैं! गुप्तजी एक युग पहले का मध्यवर्गीय सन्तोष हमें सिखाते हैं, उन्हें आज की आग का अन्दाज़ नहीं है।

गुप्तजी की मानवता और उसकी समस्त भावना और संस्कारों से भिन्न प्रसादजी की मानवकल्पना है। प्रसादजी दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टियों से मानव को जीवन-संघर्ष के लिए उद्यत कर देते हैं। वे कहीं कृत्रिम सन्तोष का पाठ नहीं पढ़ाते। प्रसादजी नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बाँधकर एक संघटित मोर्चा तैयार करते हैं (उनकी आख्यायिकाओं में यह सूत्र हमें मिलता है और 'तितली' में मोर्चा तैयार है)। प्रसादजी का मानव, धर्म की रूढ़ियों से छूटकर, आत्मा की अमरता की सीख लेता है और खुली आँखों सांसारिक स्थिति को देखता है। व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठानेवाली आध्यात्मिकता और रहस्यभावना का प्रयोग जीवन से पराङ्मुख करने का साधन क्यों माना जाय? गीता में यही निरूपण अर्जुन को महाभारत के संघर्ष के लिए तैयार कर सका था!

जो लोग दुःख और अभाव की समस्या का वैज्ञानिक समाधान चाहते हैं वे इस आध्यात्मिक हल को कोई हल नहीं मानते। वे प्रत्यक्ष तथ्यवादी (पाज़िटिविस्ट्स) उल्टा इसे असली प्रगतिशील समाधान को दूर घसीटनेवाला क़रार देते हैं। असली

प्रगतिशील समाधान है ६० प्रतिशत समस्याओं के लिए वर्गसंघर्ष और क्रान्ति, सामाजिक विधिनिषेधों का परित्याग और नवीन प्रयोग। प्रसादजी का रहस्यवाद, चाहे उसे 'आँसू' के पद्यों में देखिए अथवा 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग में, मानसिक सन्तुलन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'गीता' में भी रहस्यवाद या आध्यात्मिक समाधान सांसारिक द्वन्द्व का प्रेरक ही सिद्ध हुआ है। हमें किसी वस्तु से न चिढ़कर उसके प्रयोग की परीक्षा कर देखनी चाहिए। तभी हम रचनाकार का ठीक उद्देश्य समझ सकेंगे।

रचनाकार की समसामयिक स्थिति से भी हमें अपरिचित नहीं रहना चाहिए। प्रसादजी मुख्यतः साम्य, सख्य, और स्वातन्त्र्य (equality fraternity and liberty) के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित थे। फिर भी उन्होंने एक भविष्य द्रष्टा की भाँति आगामी वर्ग-संघर्ष का आभास दिया है। उन्होंने एक कल्पनाप्रवण, सहानुभूतिशील और अग्रगामी मध्यवर्ग के चित्रण से आरम्भ कर श्रमिक दम्पति के चरित्रनिर्माण तक अपना कथानक साहित्य पहुँचा दिया है। कामायनी काव्य में उन्होंने एकांगी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में हमें आगे कुछ और कहना है। यहाँ इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी कम्युनिस्ट उपचारों को कट्टरपन के साथ ग्रहण नहीं करते, किन्तु अपने युग की प्रगति में वे पिछड़े हुए नहीं थे।

इस प्रश्न को इस हद तक बढ़ाना इसलिए आवश्यक था कि आजकल 'रोमान्स' और 'रहस्यवाद' का नाम देकर प्रसादजी के साहित्य के प्रति विरक्ति उत्पन्न की जाती है। यह विरक्ति अस्पृश्यता की सीमा तक पहुँच जाती है और हम प्रसादजी का वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य आँकने से भी विरत रह जाते हैं। कुछ लोग तो साहित्यिक और कलात्मक उत्कर्ष की ओर ध्यान न देकर, जीवनमय चरित्रों के निर्माण से बहुत दूर रहनेवाले लोकपीटक सङ्घर्षवादी को साहित्य-शिरोमणि करार देने लगे हैं। ये लोग अपने को साहित्य और जीवन का समन्वयकारी समझते हैं, किन्तु इन्हें यह पता नहीं कि साहित्य में जीवन केवल कुछ सैद्धान्तिक नुस्खों और कुछ चुने-चुनाये वाक्यांशों को नहीं कहते; उसकी और भी गहरी सत्ता है। न इन लोगों को यही मालूम है कि साहित्य के भीतर प्रगतिशील जीवन की सृष्टि कैसे की जाय। राजनीतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खों से चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई में बिना प्रवेश किये नहीं आती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देखकर प्रौढ़, जीवनमय साहित्य का निर्माण करनेवाले साहित्यिकों के प्रति नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं और इस प्रकार साहित्य में

जीवन के सन्निवेश की समस्या को गहरी ग़लतफ़हमियों में डुबो देते हैं। यदि मुझे क्षमा किया जाय तो मैं कहूँगा कि पुराने और नये कितने ही समीक्षक हिन्दी में आज इसी छिछली प्रणाली का अनुसरण कर रहे हैं।

कला और साहित्य में प्रगतिशील निर्माण की समस्या उस प्रगतिशीलता से बिल्कुल भिन्न है जिसे हम एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त या उपचार के रूप में जानते हैं। दोनों को एक ही लाठी से नहीं हाँका जा सकता। साहित्य में जीवन की वास्तविक रचना करनी होती है, अतः उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन-निर्माण की सफलता और असफलता के आधार पर होगी। साहित्य में प्रगतिशीलता का स्वरूप सिद्धान्त-निरूपण और नपे-तुले हलों द्वारा नहीं जाना जायगा। उसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदण्ड होंगे। जीती जागती बहुरूप जीवन-परिस्थिति का प्रदर्शन उसके लिए आवश्यक है। साहित्यकार बाध्य नहीं है कि वह प्रगतिशील नामधारी एक दार्शनिक उपक्रम का अनुगामी हो। यदि उसने पतनोन्मुख समाज के जीवन चित्र हमारे सामने उपस्थित किये हैं और यदि वे अपना ईप्सित प्रभाव हम पर छोड़ जाते हैं तो हम उस कलाकार को अप्रगतिशील नहीं कहेंगे।

प्रसादजी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियों के निरूपक हैं। उनकी साहित्य-सृष्टि एक आशावादी और स्वातन्त्र्य-प्रेमी युग की प्रतिनिधि है। साहित्यक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।

मैथिलीशरणजी जिस पूर्व युग के प्रतिनिधि हैं, उससे भिन्न युग की काव्य-सृष्टि प्रसादजी की है, इस बात की पुष्टि के लिए दोनों की दो-चार चुनी हुई रचनाओं की बानगी देख लेना काफ़ी होगा। गुप्तजी की प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव श्री प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा ने एक स्थान पर कर दिया है, इससे हमारा काम और भी सरल हो गया है। गुप्तजी की शैली का विकास उन्होंने इन उद्धरणों में दिखाया है—

अहा ग्राम्यजीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे।
थोड़े में निर्वाह यहाँ है, ऐसी सुविधा और कहाँ है?

× × ×

वे मोह-बन्धनमुक्त थे, स्वच्छन्द थे, स्वाधीन थे।
सम्पूर्ण सुख संयुक्त थे, वे शान्ति शिखरासीन थे॥

मन से, वचन से, कर्म से, वे प्रभु-भजन में लीन थे।
विख्यात ब्रह्मानन्द नद के, वे मनोहर मीन थे।

× × ×

ये गगनचुंबित महा प्रासाद, मौन साधे हैं खड़े सविषाद।
शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण, शाप से किसके हुए पाषाण।
या अड़े हैं मेटने को आधि, आत्मचिन्तन रत अचल ससमाधि।
किरणचूड़ गवाक्ष लोचन मींच, प्राण से ब्रह्माण्ड में निज खींच।

× × ×

प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।
यह नश्वर तनु लेकर कैसे स्वागत सिद्ध करूँगी मैं।
नश्वर तनु पर धूल किन्तु हाँ उन्हीं पदों की धूल;
कर्मबीज जो रहे मूल में उनके सब फल-फूल,
अर्पण तुम्हें करूँगी मैं, प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं।

× × ×

अब यदि इन्हें हम औसत तौर पर गुप्तजी की प्रतिनिधि रचना मान लें तो हम देखेंगे कि इनमें एक विनयपूर्ण सीधा-सादा आदर्शवाद जिसमें आरंभिक राष्ट्रीयता का मीठा-मीठा स्पन्दन है, कल्पना की ऊँची उड़ानों से रहित अनुभूति, द्वन्द्वरहित भाव और एकहरी अभिव्यक्ति है। इसमें किसी जीवनतत्त्व का वैषम्य, आलोड़न-विलोड़न, संशय और तज्जनित भावोत्कर्ष आयोजित नहीं है। सीधा रास्ता, सीधी समस्या और सीधा समाधान। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह सिधाई आश्रम-वासिनी सिधाई है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ प्रेमचन्दजी की भी सफलता इसी प्रकार की सीधी समस्याओं के समाधान में है जो छोटी कहानियों में समा सकी हैं। कहानियों के निर्माण में साधारण उत्थान-पतन, भावों का आरोह-अवरोह, स्थितियों का वैचित्र्य दिखा सकना ये प्राथमिक सफलताएँ उनकी हैं। बड़े जीवन-चक्रों को हाथ में लेना; पेचीदा भावधाराओं और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उठी हुई जटिल समस्याओं का निरूपण करना; व्यक्ति, देश और जाति के जीवन के बृहत् छाया-आलोकों को उद्घाटित कर सकना, सारांश यह कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात-प्रतिघातों और विस्तृत जीवन-दशाओं में पद-पद पर आनेवाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें सँभालना और अपनी कला में उन सबको सजीव करना गुप्तजी

और प्रेमचन्दजी की साहित्य-सीमा के बाहर है। प्रसादजी की अनुभूति तथा सूझ अधिक गहरी और उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक ऊँची अवश्य है, यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने युग-जीवन के उद्घाटन में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

प्रसादजी की रचनाओं से भी मैं चार ही पाँच उद्धरण दूँगा :—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे,
जब सावन-घन सघन बरसते इन नयनों की छाया भर थे।

× × ×

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मङ्गल कुंकुम सारा।

× × ×

वह सारस्वत नगर पड़ा था क्षुब्ध मलिन कुछ मौन बना।
जिसके ऊपर विगत कर्म का, विष-विषाद आवरण तना।
उल्काधारी प्रहरी से ग्रह तारा नभ में टहल रहे।
वसुधा पर यह होता क्या है, अणु-अणु क्यों हैं मचल रहे।
निशिचारी भीषण विचार के पङ्ख भर रहे सर्राटे।
सरस्वती थी चली जा रही खींच रही सी सन्नाटे।

× × ×

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग मे नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में, आँखों में अञ्जन-सी लगती।
कुञ्चित अलकों सी घुँघराली मन की मरोर बनकर जगती॥
चञ्चल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ, जो बनती कानों की लाली॥

× × ×

तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते, जीवन के घन रसकन ढलते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?

ये प्रसादजी की औसत रचना के उदाहरण हैं और गुप्तजी के उद्धृत अवतरणों से मिलते-जुलते विषयों पर चुने गये हैं। पाठक देखेंगे कि इनमें एक नई कल्पना-शीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य में छायावाद के उपकरण बनकर आये। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में एक स्वातंत्र्यलालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की एक अनिर्दिष्ट स्थिति देख पड़ती है। ये सभी एक कल्पनाविशिष्ट दर्शन के अङ्ग बने हुए हैं जिसमें बड़ी व्यापक सहानुभूतियाँ हैं। इस नवीन दर्शन में कल्पना, भावना और कर्मचेतना की सम्मिलित झाँकी है। इसे अकेले कर्मसंघर्ष से सम्भूत दर्शन हम नहीं कह सकते। यह उसका पूर्वरङ्ग अवश्य कहा जायगा। इसमें कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी गई है। 'कामायनी' काव्य में इड़ा के प्रतीक द्वारा जिस संघर्ष-प्रधान, कर्मप्रमुख जीवन उपक्रम का प्रदर्शन कराया गया है, उसकी पूर्ण स्वीकृति न तो 'कामायनी' में है और न छायावाद काव्य में ही। किन्तु गुप्तजी की ऐकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी-सादी भावव्यंजना के कई क़दम आगे वह अवश्य है।

इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।

प्रसादजी के साहित्य की दार्शनिक सीमा-रेखा और भी स्पष्ट हो जाय इस दृष्टि से हम कामायनी काव्य में आये हुए श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों को नये सिरे से आपके सम्मुख रखना चाहेंगे। कामायनी काव्य में दो पीढ़ियों के चार चरित्र हैं। पहली पीढ़ी मनु और श्रद्धा की है जो काव्य के नायक-नायिका हैं और दूसरी पीढ़ी श्रद्धा-पुत्र और इड़ा की जोड़ी बनकर चलती है। इन दोनों पीढ़ियों में कुछ हद तक खींचतान भी है। मनु को सारस्वत या बौद्ध प्रदेश का पुनरुत्थान करने में लगाकर फिर उसके दुष्परिणामों से उन्हें अभिभूत कर दिया जाता है। प्रसादजी अपने काव्य का अधिनायकत्व श्रद्धात्यागी और इड़ा-सेवी मनु को नहीं देते, वे उसे रास्ते पर लाते हैं। फिर दूसरी पीढ़ी में उनकी सन्तति भी श्रद्धा और बुद्धि के सम्मिलित योग से नवीन जीवन क्रम चलाती है।

वन्य या ग्राम्यजीवन से आरम्भ होकर कामायनी काव्य की प्रगति नागरिक सम्यता और नवीन औद्योगिक आयोजनों तक होती है। प्रसादजी यद्यपि यह स्वाभाविक विकास दिखाने में अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय देते हैं किन्तु वे औद्योगिक संघर्ष को यथार्थ और अनिवार्य रूप में नहीं लेते। वे उससे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्व का समाधान करने के लिए श्रद्धा-पुत्र को छोड़ जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे श्रद्धा और बुद्धि दो वस्तुओं के सन्तुलन में इस समस्या का समाधान देखते हैं।

मैंने कामायनी की आलोचना में यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनकी दृष्टि समन्वय चाहती है और वे संघर्षात्मक जीवन दर्शन के अनुयायी नहीं हैं। अब, मेरे सहृदय और विचक्षण काव्यपारखी मित्र श्री इलाचन्द्र जोशी श्रद्धा और इड़ा के प्रतीकों द्वारा व्यञ्जित दो जीवनदृष्टियों को विरोधी शिविरों में रखते हैं और श्रद्धा को अतिशय कल्याणीया, अनन्त करुणामयी, मङ्गल अभिषेकमयी आदि कहकर ग्रहण करते हैं, और इड़ा को उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी, अनन्त अतृप्ति-प्रदायिनी आदि रूपों में देखते हैं। किन्तु इसी 'उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी' को मनु अपने पुत्ररत्न की सहचरी बनाते हैं। स्पष्ट है कि प्रसादजी सभ्यता के इस बुद्धिवादी विकास को लांछित नहीं करते, न उसको वास्तविकता से आँखें मूँदते हैं, किन्तु वे एक समन्वय-सूत्र हमारे सामने रखना चाहते हैं।

इस सम्बन्ध में मुझे अपने मित्र हिन्दी के सुपठित मनोविश्लेषक और काव्यालोचक श्री नरोत्तमप्रसाद नागर की उद्भावना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। वे पूछते हैं, श्रद्धा करुणामयी कहाँ है—जब कि वह इतनी असहनशील है? इड़ा यदि नारी होने के कारण ही उन्मत्त-लालसा-प्रज्वालिनी हो तो इसमें उसका क्या दोष? और श्रद्धा का भी यही स्वरूप (बल्कि इससे अधिक उन्मत्त लालसामय) पुस्तक के प्रारम्भिक सर्गों में देखा जा सकता है। इड़ा तो मनु को सच्छिक्षा ही देती है, उस बेचारी का अपराध क्या है?

मनु और इड़ा के सम्बन्ध को प्रसादजी ने मनुपुत्र और इड़ा के सम्बन्ध में परिणत कर दिया है। इससे इड़ा का त्याग नहीं, ग्रहण ही सिद्ध होता है। हाँ, प्रसादजी का मनु को श्रद्धा के साथ एकान्त मानस प्रदेश की ओर ले जाना और वहाँ भाँति-भाँति के दृश्यों के बीच 'कर्म', 'भावना' और 'चेतना' के तीन गोलक दिखाना तथा उनके वैषम्य को मिटाकर उन्हें समन्वित कर देना प्रसादजी के समन्वयवाद का द्योतक है। वैज्ञानिक प्रगतिवाद की दृष्टि से प्रसादजी यहीं प्रवृत्तिमूलक वैज्ञानिक और बौद्धिक विचार-

धारा से पृथक् हो गये हैं। किन्तु मेरा यह कहना है कि बुद्धि की अति और उसके अवश्यम्भावी विकारों का ही प्रतिषेध प्रसादजी ने किया है और यह उनकी मूल आध्यात्मिक विचारणा के अनुकूल ही है।

वैज्ञानिक सङ्घर्षात्मक प्रवृत्ति-दर्शन ही आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के मूल में है। प्रसादजी इस दर्शन के साथ सारी दूरी तक नहीं जाते किन्तु इस कारण कोई उन्हें अप्रगतिशील नहीं कह सकता। साहित्य में उन्होंने जागृति की मनोरम और प्रगतिमयी भावनाओं का ही विन्यास किया है, उषाकाल की प्रभाती ही गाई है, कल्पना का प्रयोग नवीन शक्ति और नव सौन्दर्य की सृष्टि में ही किया है। मैं कह चुका हूँ कि साहित्यिक प्रगति और दार्शनिक प्रगतिवाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं और यह आवश्यक नहीं कि साहित्य किसी विशेष दार्शनिक मतवाद से बँधकर ही प्रगतिशील कहलाये। इतना कहने के पश्चात् यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि प्रसादजी ने नवीन सङ्घर्ष से उत्पन्न भौतिक विकासवादी दर्शन को सम्पूर्ण स्वीकृति नहीं दी है। संक्षेप में प्रसादजी कि साहित्यिक और दार्शनिक स्थिति यही है।

अब प्रसादजी की शैली, वस्तु-सङ्घटन और कथानिर्माण के पक्ष पर दो शब्द कहकर मैं इस निबन्ध को समाप्त करूँगा। इस सम्बन्ध में अधिकांश समीक्षकों का कथन रहा है कि उनकी शैली जटिल और दुरूह है तथा उनका वस्तुविन्यास शिथिल और बोझीला है। उनके नाट्यसमीक्षक श्री कृष्णानन्द गुप्त ने इस विषय की विशेष शिकायत की है। कृष्णानन्द जी यदि इब्सन या डी० एल० राय की शैली के प्रभाव से मुक्त होकर प्रसाद जी की नाट्यशैली की स्वतन्त्र परीक्षा करते तो अधिक अच्छा होता। प्रसादजी की भाषा और अभिव्यक्ति में जटिलता उन्हें अधिक दिखी है जिन्हें यह नहीं दीखा कि प्रसादजी किन नवीन समस्याओं के सम्पर्क में थे और किस नवीन विचारणा तथा भावलोक का निर्माण कर रहे थे और इस कार्य में उनकी कठिनाइयाँ कितनी थीं। फिर क्रमविकास की दृष्टि से भी उन्होंने प्रसादजी की परीक्षा नहीं की। क्रमशः प्रसादजी भाषा के सारल्य और भावों के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढ़ते गये हैं, यह भी उन्हें देखना चाहिए। कथानक के कलात्मक निर्माण के सम्बन्ध में हम इतना ही कहेंगे कि प्रसादजी अपने समसामयिक हिन्दी रचनाकारों के समकक्ष हैं। यदि उनमें बहुत बड़ी 'ऐनजीनियरिंग' करामात हमें नहीं मिलती तो हम स्मरण रक्खेंगे कि वे किन नवीन प्रयासों में व्यस्त थे। और हमें यह भी नहीं भूलना होगा कि प्रसादजी नई कला-प्रणाली की अपेक्षा नई भावना और नई चिन्तना के निर्माणकार्य में अधिक संलग्न थे। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि नई भावधारा

आरम्भ में पाठकों के लिए विचित्र और बेपहचान होती है। वे शिकायत करने लगते हैं भाषा की और उसकी जटिलता की। क्रमशः वह शिकायत घटती जाती है और हम उस भावधारा को अपना लेते है। तब भाषा और शैली सम्बन्धी आरोप भी कम हो जाते हैं। यही बात प्रसादजी के समीक्षकों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हुई है।

किन्तु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रसादजी की त्रुटियों पर लीपापोती करें और उनके ऐसे गुणों की स्थापना करें जिनका अस्तित्व नहीं है। उनके गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर उपस्थित करना भी अनुचित होगा। वे जितने हैं और जो कुछ हैं हमें उतने से ही प्रयोजन है। उतने गुणों में भी वे महान् और युग प्रवर्तक सिद्ध है। 'कङ्काल' की कथा-रचना में बहुतों को शिकायत है कि प्रसादजी ने अपने कुछ विचारों को व्यक्त करने के लिए ही यह कथा रची है, इसलिए कथा की दृष्टि से वह सफल नहीं हो पाई। चरित्रों का निर्माण इसी कारण यथेष्ट सजीव नहीं हो पाया। सम्भव है ये त्रुटियाँ किसी हद तक 'कङ्काल' में हों (यद्यपि चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में मैं यह नहीं कह सकूँगा कि वे सजीव नहीं हैं) किन्तु ये त्रुटियाँ उन सभी साहित्यकारों में किसी-न-किसी मात्रा में पाई जाती हैं जिनका उद्देश्य मुख्यतः नई सांस्कृतिक विचारधारा का साहित्य में प्रवेश कराना होता है। ऐसे थोड़े कलाकार मिलेंगे जो कथा के कलात्मक निरूपण, चरित्र निर्माण और विशिष्ट चिन्ताधारा के के सन्निवेश में समान रूप से सफल हुए हों। प्रसादजी को जितनी सफलता इस कार्य में मिली है वह अपने में कम नहीं है। समय को देखते हुए, हिन्दी की विकास की उस अवस्था में, वह बहुत ही कही जा सकती है।

———

*

श्री० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

——:o:——

यदि सामयिक हिन्दी में कोई ऐसा विषय है जो अन्य सब विषयों की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और दुरूह समझा जा सके तो वह पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का विकास है। इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे परमाणुओं का सन्निवेश हुआ है जिनका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि में विशेष कठिन क्रिया है। हिन्दीभाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियों ने, कहानीवाले सात अन्धे भाइयों की भाँति, भाँति-भाँति से हाथी की हास्य-विस्मय-भरी रूपरेखाएँ बखान कीं, जिनसे 'निराला' जी की अपेक्षा समीक्षकों की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला। जहाँ तक हमारी जानकारी और अध्ययन है हम निरालाजी के विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रमुखता पाते हैं। यह उनके दार्शनिक अध्ययन का परिणाम है या उनके मानसिक सङ्गठन का नैसर्गिक स्वरूप, यह हम नहीं कह सकते। बाबू जयशंकर प्रसाद की कविता में भी यह बौद्धिक विशेषता पाई जाती है, परन्तु 'निराला' जी के साहित्य में तो यह स्पष्टतः एक बड़ी मात्रा में है। प्रसादजी की जिन जिज्ञासाओं का उल्लेख हम 'चित्राधार', 'प्रेम-पथिक' आदि की समीक्षा के प्रसङ्ग में कर चुके हैं उनमें केवल बुद्धि धर्म ही नहीं, कल्पना आदि भी उपस्थित हैं, पर 'निराला' जी की अनेक कविताओं में केवल बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ मिलता है। 'निराला' जी की कुछ रचनाओं में तो सम्पूर्ण वर्णन और वातावरण ऐसा है जो परिपाटीबद्ध काव्यालोचक की आस्वादसीमा के बाहर है। यह आलोचक की त्रुटि है, या निरालाजी की वे रचनाएँ साहित्य की परिभाषा में ही नहीं आतीं, यह निर्णय कौन करेगा?

यदि हमें निर्णय करना हो तो हम साहित्य-कला का विस्तार कदापि संकुचित करने को सहमत न होंगे। काव्य में बुद्धितत्त्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी कल्पना के लिए भी। जिस किसी कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो; जिसका प्रभाव हम पर पड़े उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायगी। यदि रस सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा में नई काव्यसामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है। 'निराला' जी का एक अत्यन्त बुद्धिविशिष्ट काव्यचित्र देखा जाय:—

प्रथम विजय थी वह—
भेद कर मायावरण
दुस्तर तिमिर घोर-जड़ावर्त—
अगणित तरङ्ग-भङ्ग—
वासनाएँ समल निर्मल
कर्दममय राशि-राशि
स्पृहाहत जङ्गमता—
नश्वर संसार—
सृष्टि-पालन-प्रलय भूमि—
दुर्दम अज्ञान-राज्य—
मायावृत 'मैं' का परिवार
पारावार केलि-कौतूहल
हास्य-प्रेम-क्रोध-भय—
परिवर्तित समय का
बहु रूप रसास्वाद—
घोर उन्माद ग्रस्त
इन्द्रियों का बारम्बार बहिरागमन
स्खलन पतन उत्थान-एक
अस्तित्व जीवन का—
महामोह;
प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहा,
पहुँचा मैं लक्ष्य पर

इस रचना में शुष्कता चाहे जितनी हो पर हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि एक विशेष उदात्त चित्र हमारे सामने आता है। इसमें दार्शनिक तथ्य की प्रधानता अवश्य है, पर काव्यालङ्कारों से सजाकर उसे उपस्थित किया गया है। इसका स्थायी भाव उत्साह है और यह वीर-रस की रचना है।

प्राचीन काव्यसमीक्षा के शब्दों में 'निराला' जी की उक्त कविता व्यजनाविशिष्ट नहीं है, वरन् अभिधाविशिष्ट है। इसमें रस व्यंग्य नहीं है बल्कि वाच्य है। प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है, पर इस आग्रह को हम हद के बाहर

लिये जा रहे हैं। नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह सम्भव नहीं कि वह परम्परा-प्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने में, नवीन युग का सन्देश सुनाने में, काव्य अपनी क्रम-प्राप्त मर्यादाओं को भी उखाड़ फेकता है। यह ध्वनि और अभिधा काव्यवस्तु के भेद नहीं हैं केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं। हमें प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए, न कि किसी एक को। अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है। जहाँ तक हम समझ सके हैं व्यंजना की प्रणाली में यदि कुछ विशेषता है तो यही कि उसमें काव्य को मूर्त्त आधार अधिक प्राप्त होता है। व्यंजना का अर्थ ही है सङ्केत, प्रतीक आदि। परन्तु अभिधा में स्पष्टता अधिक है। व्यंजना के आतिशय्य से काव्यचातुरी बढ़ती है, जो प्रत्येक अवसर पर अभीष्ट नहीं कही जा सकती और सब से बड़ी बात तो यह है कि ये अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ मात्र हैं जो काव्यवस्तु को देखते हुए छोटी चीज़ हैं। 'निराला' जी ने अपनी बुद्धिविशिष्ट रचनाओं को अभिधा-शैली में और स्वछन्द छन्द में लिखा है। काव्य के मूल्याङ्कन में हम अभिव्यक्ति की शैली को ही सब कुछ नहीं मान सकते। विशेषतः एक विद्रोही कवि जब नवीन प्रवाह को काव्य में प्रसारित करता है, वह अभिव्यक्ति की प्रणाली का गुलाम होकर नहीं रह सकता। निराला ही नहीं, 'प्रसाद' सरीखे साहित्य-शास्त्र के अध्येता भी रचनात्मक साहित्य में बराबर नियमभङ्ग करते रहे हैं। यह अनिवार्य है और साहित्यिक विकास के लिए उपयोगी भी है।

मुक्त छन्द में निरालाजी ने जहाँ एक ओर 'जूही की कली' जैसी कोमल कल्पना-विशिष्ट रचना दी है, वहीं 'जागो फिर एक बार' जैसे उदात्त वीर-रस का काव्य भी दिया है। इतना हम अवश्य कहेंगे कि उनके मुक्त काव्य में स्वच्छन्द कल्पना का अति स्वाभाविक प्रवाह है। काव्य का चिर दिन से चले आते हुए छन्द-बन्ध से छूटना हिन्दी में एक स्मरणीय घटना है। इस श्रेय के अधिकारी निरालाजी ही हैं।

ऐतिहासिक प्रसंग को भी हमें भूलना नहीं चाहिए। जिस समय निरालाजी के स्वच्छन्द छन्द का विकास हुआ उसके कुछ पहले पं० सुमित्रानन्दन पन्त की कोमल रचनाएँ हिन्दी-जनता का आकर्षण प्राप्त कर रही थीं। 'प्रसाद' जी का 'आँसू' तक प्रकाशित नहीं हुआ था। गुप्तजी माइकेल मधुसूदन का अनुवाद कर रहे थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपनी रसात्मक प्रणाली से तुलसी, जायसी आदि का काव्य-सौष्ठव परख रहे थे। हिन्दी में सत्काव्य की अनुभूति का समय आ रहा था। वह हिन्दी के

नवीन विकास की किशोरावस्था थी। यह आज से सात-आठ वर्ष पहले की बात है। इस अवस्था में यौवन की दृढ़ता अथवा शक्ति का परिचय थोड़ी ही मात्रा में था। पं० रामचन्द्र शुक्ल अधिक से अधिक द्विजेन्द्रलाल की सहायता लेकर रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में दो एक आक्षेप कर सकते थे। इस परिस्थिति में निरालाजी के स्वच्छन्द छन्दों से—जिसमें पूरी परम्परा का तिरोभाव कर दिया गया था—एक नया आत्म-विश्वास बढ़ा। स्वच्छन्द-छन्द के मूल में ही यह मनोवृत्ति थी। इस आत्मविश्वास को और भी दृढ़ करने में 'निराला' जी की वे कविताएँ समर्थ हुईं जिनमें बुद्धितत्त्व की प्रधानता थी, किन्तु जिनमें वाणी की ओजस्विता का अद्भुत प्रदर्शन था।

यह 'निराला' जी का प्रथम विकास था। इसके अनन्तर निरालाजी छन्दोबद्ध संगीतात्मक सृष्टि की ओर झुके। यह उनका दूसरा चरण है। 'परिमल' की छन्दोबद्ध अधिकांश रचनाएँ इसी सयम की हैं और 'पन्तजी और पल्लव' की समीक्षा भी इसी के आसपास प्रकाशित हुई। कविता में भावना की प्रमुखता हो चली पर 'निराला' जी की बौद्धिक प्रक्रिया भी उसके साथ-साथ रही। निरालाजी द्वारा पेटेंट किया हुआ 'काव्य-निर्वाह' शब्द इसी बुद्धितत्त्व का संकेत है। इसका निरालाजी ने सदैव आग्रह किया। 'पन्त' जी की रचनाओं में उन्हें इसी के अभाव की सब से अधिक शिकायत ही है। यह बुद्धितत्व आधुनिक भावनाविजड़ित कविता में निस्संगता लाने में और कोरी भावुकता या कल्पनाप्रवणता को संग्रथित कलासृष्टि का स्वरूप देने में समर्थ हुआ। एक दूसरे से असंपृक्त या टूटी हुई कल्पनाओं को एकतानता मिली बुद्धि और भावना के इस संयोगकाल का स्वरूप संक्षेप में उनकी इस 'अधिवास' कविता में देखिए—

> उसकी अश्रुभरी आँखों पर
> मेरे करुणांचल का स्पर्श
> करता मेरी प्रगति अनन्त
> किन्तु तो भी है नहीं विमर्ष
> छूटता है यद्यपि अधिवास
> किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

यही स्वरूप उनकी 'पन्तजी और पल्लव' समीक्षा में भी देखा जा सकता है जिसमें उन्होंने 'विश्ववाद' के बौद्धिक तत्त्व से शृंगारी कवियों के लघु चित्रों का प्रतिपादन किया है, पर भावना-भूमि में आकर नवीन भाषा और व्यापक भावों के लिए पन्तजी की प्रशंसा की है।

इस द्वितीय चरण में जहाँ कहीं निरालाजी बुद्धि और भावना का रमणीय योग करने में समर्थ हुए हैं, कविताएँ विशेष उज्ज्वल और निखरी हुई हैं। अनेक छोटी रचनाओं में ही नहीं 'यमुना', 'स्मृति', 'वासन्ती', 'वसन्त समीर, 'बादलराग' आदि लम्बी कृतियों में भी यह सुयोग सफलतापूर्वक सिद्ध हुआ है। इसमें बुद्धितत्त्व भावना के साथ सन्निविष्ट होकर, अधिकांश में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व छोड़कर, मिल गया है जिससे तल्लीन वातावरण बनकर काव्य-वैभव का विशेष विकास हो सका है।

द्वितीय चरण के उपरांत निरालाजी का तृतीय चरण गीत-रचना का है। गीतों में कुछ तो दार्शनिक हैं, पर अधिकांश प्रेम और शृंगार विषयक हैं। इनमें मधुर भावों की व्यञ्जना हुई है। विराट् बौद्धिक चित्रों के स्थान पर उज्ज्वल रम्य आकृतियाँ अधिक हैं। यह परिवर्तन 'निराला' जी द्वारा बुद्धितत्त्व के कलात्मक परिपाक की दिशा में एक सीढ़ी और आगे हैं। जहाँ 'परिमल' की अनेक कविताओं में बुद्धि-जन्य प्रक्रिया काव्य के साथ दूध-मिश्री के से मिश्रण में नहीं मिल सकी, वहाँ गीतों में ऐसा प्रायः सर्वत्र हुआ है। किन्तु साथ ही 'परिमल' की स्वछन्द काव्य प्रभूति की अपेक्षा इन गीतों में आलंकारिक बंधन अधिक हैं।

निरालाजी का वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काब्य में सचेत बुद्धितत्त्व का प्रवेश है। इससे काव्य-कला का बड़ा हित-साधन हुआ। कविता के कलापक्ष की उपेक्षा सीमा पार कर रही थी और कोरे भावनात्मक उद्गार काव्य के नाम पर खप रहे थे। निरालाजी ने इस विषय में नया दिग्दर्शन कराया। आधुनिक कवियों में इस विशेषता को लिये हुए निरालाजी क्षेत्र में एक ही हैं। इस दिशा में काम करते हुए उन्होंने पहले पहल मुक्त-छंद की सृष्टि की जो उक्त उद्देश्य के विशेष अनुकूल सिद्ध हुआ। मुक्त-छंद के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी पद-विन्यास को भी अधिक प्रौढ़ तथा अधिक प्रसस्त बनाने का सफल प्रयास किया। अत्यंत सार्थक शब्दसृष्टि द्वारा निरालाजी ने हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। संगीतज्ञ होने के कारण शब्द-संगीत परखने और व्यवहार में लाने में वे आधुनिक हिन्दी के दिशा-नायक हैं। अनुप्रास के वे आचार्य हैं।

निरालाजी के काव्य में करुणा की अथवा शृंगार की दुर्बल भावनामूलक अभिव्यक्ति हमें नहीं मिलती। वे एक सचेत कलाकार हैं इसलिए उनके काव्य में असंयम और अति कहीं नहीं है। उनमें एक अनोखी तटस्थता है जो उन्हें काव्य की भावधारा के ऊपर अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने की क्षमता प्रदान करती है।

निरालाजी के शृङ्गारिक वर्णनों में दार्शनिक तटस्थता है—

पल्लव पर्यङ्क पर सोती शेफालि के
मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

यह रूपक एक दार्शनिक कवि ही बाँध सकता था। इसी प्रकार पति-प्रिया कामिनी को रात्रि-जागरण के उपलक्ष में यह उपहार कौन दे सकता था—

"वासना की मुक्ति-मुक्ता त्याग में तागी"

'निराला' जी ने अपनी दार्शनिकता के द्वारा अनेकशः ऐसी पंक्तियों की सृष्टि की है और कर रहे हैं जो आधुनिक हिन्दी में अप्रतिम हैं। यह उद्धरण के लिए उपयुक्त स्थल नहीं है।

निरालाजी छायावादी कवि कहे जाते हैं। उनका छायावाद कहाँ है? मुक्त छन्दों में उनका दार्शनिक छायावाद 'विराट सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है। कितने ही स्थानों पर निरालाजी इसे 'अमर विराम' ('जागरण'), 'माता' ('पंचवटी प्रसंग'), 'श्यामा' ('एक बार बस और नाच तू श्यामा) आदि पदों में व्यक्त करते हैं। 'यमुना' में उसे वे कहीं 'श्याम' और कहीं 'अतीत' कहते हैं। इनके द्वारा कवि उसी 'शाश्वत ज्योति' की व्यंजना करता है। यह उनके छायावाद का एक पहलू है। दूसरा पहलू है 'जड़' जीव-जगत् में सर्वत्र उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना। यदि वह दार्शनिक छायावाद है तो इसे उसका प्रयोग समझना चाहिए। उसमें एक ज्योति है, इसमें अनेक खंड चित्र उसी एक ज्योति से ज्योतित दिखाये गये हैं। यही निरालाजी का 'निर्वाह' है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक दृश्यवस्तु का पर्यवसान एक ही 'अदृश्य', 'अनन्त', में होता है। छोटी-बड़ी मानवीय वासनाएँ भी 'बुद्धं शरणं गच्छ' के उपरान्त शुद्ध स्वरूप प्राप्त करती हैं 'वासना की मुक्ति-मुक्ता' के पद में वासना की भी परिष्कार द्वारा मुक्ति में परिणति की गई है। यही परिष्कार (निखार) निरालाजी के छायावाद की विशेषता है। बाबू जयशंकर प्रसाद मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त करते और व्यक्त करते हैं। वे मनुष्यता से (अर्थात् मानवीय वृत्तियों से) इतना आकर्षित हैं कि मनुष्य ही उनके चैतन्य की इकाई (unit) बन गया है, पर निरालाजी के लिए यह जीवजगत् मिथ्या है। उनकी इकाई वही 'शाश्वत ज्योति' है जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक, कलात्मक विचारों के मूल में है। यह Metaphysical दृष्टिकोण निरालाजी के छायावाद का आधार है। किन्तु इस दृष्टि-

कोण के होते भी निरालाजी की रचना में साम्प्रदायिकता नहीं है, वह शुद्ध काव्य परिच्छद में व्यक्त हुई है। निरालाजी का विकास तो इसी दिशा में हुआ है। यदि केवल एक वाक्य में निरालाजी के काव्य की व्याख्या करनी हो तो हम इस तरह कहेंगे कि निरालाजी हिन्दी काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार हैं।

कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न अथच अस्खलित व्यक्तित्व 'निराला' जी का है, उतना न 'प्रसाद' जी का है न पंतजी का। यह निरालाजी की समुन्नत काव्य-साधना का प्रमाण है। निरालाजी के 'कवि' में जड़त्व का अंकुश कहीं नहीं मिलता जब कि 'प्रसादजी' की भावनाएँ कहीं-कहीं साधारण तल तक पहुँच गई हैं और पंतजी का शृङ्गार यत्र-तत्र ऐन्द्रियता की दशा तक पहुँच गया है और उनकी कविता यदा-कदा 'अपनी तारीफ़' तक करने लगी है। निरालाजी की 'यमुना' की तुलना यदि पंतजी की 'उच्छ्वास', 'आँसू' अथवा 'ग्रन्थि' से की जाय—इन सब में विषय-साम्य है—तो निरालाजी का निर्लेप व्यक्तित्व देखकर मुग्ध होना पड़ता है। पंतजी के व्यक्तित्व में इतना परिष्कार नहीं है। यहाँ हम वर्णित विषय की नहीं, वर्णित विषय के भीतर से रचयिता के व्यक्तित्व की बात कह रहे हैं। अवश्य ही निरालाजी के दर्शन का यह चमत्कार विशेष रीति से उल्लेखनीय है। निरालाजी का शृङ्गारसर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृङ्गार-वर्णन करते हुए भी निरालाजी का व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं देखपड़ता। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। यह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी विशेषता है।

× × ×

ये पंक्तियाँ समाप्त करते-करते हमें निरालाजी का यह पत्र प्राप्त हुआ है जिसका उद्धरण अप्रासंगिक न होगा :—

'प्रिय वाजपेयी जी,

आज आपकी 'निराला' आलोचना पढ़ी। विचारों के लिए तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता। कारण, वे आपके हैं; पर इतिहास के लिए अवश्य कहूँगा कि सुमित्रा-नन्दन जी को प्यार करने के आठ महीने पहले मैं हिन्दी जनता की आँख की किरकिरी हो चुका था। उनको अच्छी तरह लोगों ने तभी जाना जब "मौन-निमन्त्रण" से शायद १६२४ की 'सरस्वती' के फ़रवरी वाले अङ्क से लगातार उनकी रचानाएँ निकलने लगीं। मैं आठ महीने और पहिले से 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर आ रहा था; जिसका आप ने उद्धरण दिया है—"छूटता है यद्यपि अधिवास" और

बाद की रचना कहकर भावना-सम्वलित बतलाया है, 'मतवाला' के निकलने से भी पहले 'माधुरी' के पहले साल निकल चुकी है और मेरे पास १६१६ की लिखी हुई पड़ी थी। शिवपूजनजी ने 'माधुरी' में भेज दी थी। समन्वय में इससे पहले और रचनाएँ निकल चुकी हैं। पन्त जी का "उच्छ्वास" सिर्फ छपा था। पर वह हिन्दी-जनता के पास, ६-७ पृष्ठों का ।।।) क़ीमत पर पहुँच चुका था, मैं नहीं कह सकता। गुरुजी का 'ब्लेंकवर्स' वीराङ्गना काव्य भी पन्तजी की सृष्टियों से पहले 'सरस्वती' में निकला। आपका शायद मतलब है पन्तजी ने भावना का प्रसार किया, और तभी से जब वे "मुसक्यानों से उछल उछल" लिखते थे।

आपका

"निराला"

इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि यह तो हमारे 'प्रसाद, निराला, पन्त' शीर्षक से ही प्रकट है कि हम हिन्दी के क्षेत्र में 'निराला' जी का प्रवेश पन्तजी से पहले मानते हैं। दो-एक रचनाओं के आगे-पीछे निकलने की बात दूसरी है। जहाँ हमने ऐतिहासिक प्रसंग का उल्लेख किया है वहाँ हमारा आशय उस वातावरण का चित्रण करना है जिसमें निरालाजी का मुक्तकाव्य प्रकट होकर हिन्दी में आत्म-विश्वास की उमङ्ग उत्पन्न कर सका। निरालाजी के बुद्धि और भावना तत्त्वों के विकास पर लिखते हुए हम सन् संवत् की चर्चा नहीं कर रहे थे, हम तो काव्यकला की दृष्टि से विकास देख रहे थे। ऊपर उनके 'गीतों' की चर्चा करते हुए हमने यह बात स्पष्ट भी कर दी है। यह तो हमने कहीं नहीं लिखा कि पन्तजी ने हिन्दी से भावना का प्रसार किया अथवा निरालाजी पर उसका प्रभाव पड़ा—वरन् हम तो दार्शनिक काव्य के भीतर से निखरे हुए निरालाजी के व्यक्तित्व को हिन्दी के लिए अप्रतिम मानते हैं और नवीस प्रगीतात्मक (Lyrical) काव्यशैली में की गई उनकी अनेक रचनाओं को बेजोड़ समझते हैं। उनकी रचनाएँ तीन श्रेणियों में आती हैं, १. बौद्धिक या दार्शनिकता प्रधान (जैसे 'जागरण') २. विशुद्ध प्रगीत (Lyrics) जैसे 'जूही की कली', 'विधवा', 'जागी फिर एक बार', 'सरोज स्मृति' आदि और ३. आलंकारिकता प्रधान और उदात्त जैसे--'गीतिका' के कुछ गीत, 'राम की शक्तिपूजा' आदि। इधर उनकी रचनाओं ने हास्य और विनोद की नूतन शैली धारण की है। 'कुकुरमुत्ता' उसका अभिनव उदाहरण है। निराला जी की बहुमुखी प्रतिभा का उनसे पता चलता है।

'गीतिका'

श्री० निरालाजी नवीन कविता-कामिनी के रत्नहार के एक अनुपम रत्न हैं, यह हिन्दी के काव्य-परीक्षकों की परीक्षा का निष्कर्ष, समय की गति के साथ, अधिकाधिक लोक-प्रचलित हो रहा है। आज से कुछ वर्ष पहले जब मैंने 'भारत' के लेखों में उनके उच्च पद का निर्देश किया था, तब बहुत से व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में अपनी शङ्काएँ प्रकट की थीं और कुछ ने उसे मेरा पक्षपात समझकर उस समय तरह दे दिया था; पर पीछे प्रकारान्तर से वे उन्हीं स्वरों का आलाप करते हुए सुन पड़े थे, जो हृदय में दबी अभिलाषा के असामयिक प्रकाशन से उद्भूत होते हैं। उनमें से किसी में अनुचित अस्पष्टता, किसी में लज्जाहीन आत्म-प्रशंसा और किसी में निराला जी के प्रति व्यर्थ की कुत्सा तथा मेरे प्रति आक्षेप भरे हुए थे; किन्तु प्रसन्नता की बात है कि कवि की प्रतिभा के प्रति मेरा आरम्भिक विश्वास कभी स्खलित नहीं हुआ, न कभी मुझे उसकी कृतियों के कारण हिन्दी के सम्मुख सङ्कुचित होना पड़ा। साथ ही मुझे उन महानुभावों का हार्दिक दुःख है जो साहित्य के क्षेत्र में ऐसी कुटिल नीतियों का प्रश्रय लेते और सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न वाणी-व्यापार का बहिष्कार करते हैं। क्या कारण है कि लोग ज्ञान और प्रकाश की इस भूमि में भी अपने हृदय का अन्धकार भरना चाहते हैं? काव्य-साहित्य की इन साफ़-सुथरी पगडण्डियों में, सौन्दर्य ही जिनकी रूपरेखा है, कुटिल कण्टकों के लिए स्थान ही कहाँ है? हमारी परिष्कृत दृष्टि यदि इन चिरसुरम्य निकेतों में भी मलिनता का प्रवेश-निषेध नहीं कर सकती, तो हमारे युग की साहित्यिक साधना अपूर्ण और हमारी जीवन-धारा त्रुटिपूर्ण ही समझी जायगी।

शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि से उद्भावित समीक्षा, वह चाहे जिसकी लिखी हो, मुझे प्रिय है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि वह सबकी लिखी नहीं हो सकती। वह परिष्कृत स्वस्थ और पुष्ट मस्तिष्क की ही उपज हो सकती है—उसकी जिसने जीवन-तत्त्व का अनुसन्धान किया है। वह दृष्टि शब्दों पर, वाक्यों पर, कल्पनाओं और उपमाओं पर रीझती है; परन्तु पृथक्-पृथक् नहीं। उक्त जीवन-तत्त्व की परख, उसकी ही समुज्ज्वल आह्लादिनी अभिव्यक्तियों पर मुग्ध होती है। काव्य के इन समस्त उपकरणों का यही प्रयोजन है कि वे उक्त जीवन-सौन्दर्य की कला हमारे हृदयों में खिला दें। यदि वे ऐसा करने में अक्षम हैं, तो उनकी सम्पूर्ण सुघरता और विन्यास व्यर्थ हैं। कहना तो यह चाहिए कि उनकी सुघरता और उनका विन्यास तभी है जब वे उक्त जीवन

सौन्दर्य से उपेत हैं। यही काव्य-कला और जीवन-सौन्दर्य की अनन्यता है। इसका सम्यक् परिचय हमें होना चाहिए।

सौन्दर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है; अतएव काव्य-कला का उद्देश्य सौन्दर्य का ही उन्मेष करना है। मनुष्य अपने को चेतना-सम्पन्न प्राणी कहता है; पर वास्तव में वह कितने क्षण सचेत रहता है? कितने क्षण वह चतुर्दिक फैली हुई सौन्दर्य-राशि का अनुभव करता है! वह तो अधिकांश आँखें मूँद कर ही दिवस-यापन करने का अभ्यस्त होता है। कविता उसकी आँखें खोलने का प्रयास करती है। इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य हमें केवल अनुभूतिशील या भावनाशील ही बनाता है। यह तो उसकी प्राथमिक प्रक्रिया है। उसका उच्च लक्ष्य तो सचेतन जीवन-परमाणुओं को संघटित करना और उन्हें दृढ़ बनाना है। इसके लिए प्रत्येक कवि को अपने युग की प्रगतियों से परिचित होना और रचनात्मिका शक्तियों का संग्रह करना पड़ता है। जिसने देश और काल के तत्त्वों को जितना समझा है, उसने इन दोनों पर उतनी ही प्रभावशाली रीति से शासन किया है।

उच्च और प्रशस्त कल्पनाएँ, परिश्रम-लब्ध विद्या, और काव्य-योग्यता उच्च साहित्य-सृष्टि की हेतु बन सकती हैं; किन्तु देश और काल की निहित शक्तियों से परिचय न होने से एक अङ्क फिर भी शून्य ही रहेगा। हमारी दार्शनिक या बौद्धिक शिक्षा तथा साधना भी काव्य के लिए अत्यन्त उपयोगिनी हो सकती है; किन्तु इससे भी साहित्य के चरम उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इन सब की सहायता से मूर्त्तिमती होनेवाली जीवन-सौन्दर्य की प्रतिमा ही प्रत्येक कवि की अपनी देन है। इसी से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता और शताब्दियों तक स्थिर रहता है। इसके बिना कवि की वास्तविक सत्ता प्रकट नहीं होती।

निरालाजी की कल्पनाएँ उनके भावों की सहचरी हैं। वे सुशीला स्त्रियों की भाँति पति के पीछे-पीछे चलती हैं। इसलिए उनका काव्य पुरुष-काव्य है। उनके चित्रों में रंगीनी उतनी नहीं जितना प्रकाश है। अथवा यह कहें कि रंगों के प्रदर्शन के लिए चित्र नहीं हैं, चित्र के लिए रंग हैं। काव्य-सौन्दर्य की वे बारीकियाँ जो आजीवन काव्यानुशीलन से ही प्राप्त होती हैं उनकी विविधताएँ और अनोखी भंगिमाएँ निरालाजी की रचना में सन्निहित करने का प्रयास नहीं है। वे मुद्राएँ जो सम्प्रदाय-विशेष के कवियों में दिखाई देकर उनकी विशिष्टता का निर्माण करती हैं, अभ्यास द्वारा जिन्हें पुष्ट करना ही उन कवियों का लक्ष्य बन जाता है, निरालाजी का

लक्ष्य नहीं है; परन्तु उनका एक व्यक्तित्व जिसमें व्यापक जीवन-धारा के सौन्दर्य का सन्निवेश है, जिसमें ओज के साथ (जो इस युग की मौलिक सृष्टि का परिचायक है) एक सुकोमल सौहार्द (जो सहानुभूति का परिचायक है) का समाहार है, उनके काव्य में सुस्पष्ट हैं। इन उभय उपकरणों के साथ जो एक साथ अत्यन्त विरल हैं कवि की दार्शनिक अभिरुचि कविता की श्रीसम्पन्नता में पूर्ण योग देती है। गेय पदों की शाब्दिक सुघरता, संक्षेप में विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति, सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश निरालाजी के काव्य को दर्शन द्वारा उपलब्ध हुए हैं। और मैं यह कह चुका हूँ कि सौन्दर्य की प्रतिमाएँ निरालाजी ने व्यक्तिगत जीवनानुभव से संघटित की हैं।

निरालाजी में पूर्ण मानवोचित सहृदयता और तन्मयता के साथ उच्च कोटि का दार्शनिक अनुबन्ध है; अतएव उनके गीत भी मानव-जीवन के प्रवाह से निखरे हुए, फिर प्रकाश से चमकते हुए हैं। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं और उड़ानों का अभाव है; किन्तु यही उनकी विशेषता है। उन्हें हमारे एकाध नवयुग-प्रवर्तक की भाँति समय-समय पर पट-परिवर्तन कर कई बार जीवन में मरण देखने की नौबत नहीं आई। वे आरम्भ से ही एकरस हैं और संभवतः अन्त तक रहेंगे। यही उनकी नैसर्गिकता है, यही मानवोचित विशिष्टता है। सम्भव है, कविता में कल्पना के इन्द्रजाल देखने की अधिक कामना रखनेवालों को इन गीतों से अधिक सन्तोष न हो, किन्तु उनमें जो गुण हैं, कला की जो भंगिमाएँ, प्रकाश-रेखाओं की जैसी सूक्ष्म अथच मनोरम गतियाँ हैं वे इन्हीं में हैं और हिन्दी में ये विशेषताएँ कम उपलब्ध होती हैं। इन गीतों में असाधारण जीवन-परिस्थितियों और भावनाओं का अधिक प्रत्यक्षीकरण नहीं है, इसका आशय यही है कि इनमें जीवन के किसी एक अंश का अतिरेक नहीं है। इनमें व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और संयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है। दोनों के संयोग से बना हुआ यह गीत-काव्य विशेष स्वस्थ सृष्टि है।

परन्तु इस विश्लेषण का यह अर्थ नहीं है कि निरालाजी रहस्यवादी कवि नहीं है। रहस्यवाद तो इस युग की प्रमुख चिन्ताधारा है। परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति से उनके गीत सज्जित हैं। रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्ति की जो बहुविध चेष्टाएँ आधुनिक हिन्दी में की गई हैं, उनमें निरालाजी की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों ने तो रहस्यपूर्ण कल्पनाएँ ही की हैं; किन्तु निरालाजी के काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद है। उनके अधिकांश पदों में मानवीय जीवन के ही चित्र हैं सही; किन्तु वे सब-के-सब रहस्यानुभूति से अनुरञ्जित हैं। जैसे सूरदास जी के पद अधिकांश श्रीकृष्ण की लोक-लीला से सम्बद्ध होते हुए भी अध्यात्म की ध्वनि से आपूरित हैं, वैसे ही

निरालाजी के भी पद हैं। इस रहस्य-प्रवाह के कारण कवि के रचित साधारण जीवन के गीत भी असाधारण आकर्षण रखते हैं; किन्तु उनके अनेक पद स्पष्टतः रहस्यात्मक भी हैं। 'अस्ताचल रवि जल छल-छल छवि' जैसे पदों में रहस्यपूर्ण वातावरण की सृष्टि की गई है। 'हुआ प्रात प्रियतम तुम जाओगे चले' जैसे पदों में परकीया की उक्ति के द्वारा प्रेम-रहस्य प्रकट किया गया है। 'देकर अन्तिम कर रवि गये अपर पार' जैसे सन्ध्या-वर्णन के पद में भी प्रकृति की सौम्य मुद्राएँ और भाव-भंगिमा अङ्कित कर रहस्य-सृष्टि की गई है। इनसे भी ऊपर उठकर उन्होंने शुद्ध परोक्ष (Impersonal) के भी ज्योति-चित्र उपस्थित किये हैं; जैसे 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान' आदि पदों में। ऐसे गीतों में कतिपय प्रार्थना-परक और कतिपय वस्तु-निर्देश-परक हैं। कहीं शुद्ध अमूर्त्त प्रकाश मात्र और कहीं मूर्त्त कामिनी या मा आदि रूप हैं। निरालाजी की विशेषता इसी अमूर्त्त प्रकाश की अभिव्यक्ति-कला का अनुलेखन है। यदि उनका कोई विशेष सम्प्रदाय या अनुयायी वर्ग माना जाय, तो वह यही है और वास्तव में निरालाजी के अनुयायी इसी का अभ्यास भी कर रहे हैं। मूर्त्त रूप में प्रकट होनेवाले प्रकाश-चित्र भी निरालाजी की तूलिका की विशेषता लिये हुए हैं। वह विशेषता यही है कि रूपों-रंगों में प्रकट होकर भी वे अमूर्त्त का ही अभिव्यञ्जन करते हैं। इन पदों में प्रेम-भक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त हुई है। 'प्रिय, यामिनी जागी' जैसे पदों में इस युग के कवि के द्वारा भक्तों की श्रीराधा की ही अवतारणा हुई है। इस स्थिति से एक सीढ़ी नीचे उतरने पर या इस पर से ही, निरालाजी के मानवीय चित्रण आरम्भ होते हैं जिनके सम्बन्ध में मैं ऊपर कह चुका हूँ। इनमें अनहोनी परिस्थितियाँ नहीं हैं, संयमित जीवन-सौन्दर्य का आलेखन है; यद्यपि इनमें कोई रहस्य प्रकट नहीं, तथापि रहस्यवादी कवि का स्वर सर्वत्र व्याप्त है। इसी से इन पदों में असाधारण आकर्षण आया है। कला की दृष्टि से भी इन गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्तर से ही हुई है। इससे सिद्ध है कि निरालाजी के इन गीतों में भी रहस्यवाद की साहित्य-साधना का ही विकास हुआ है।

'गीतिका' के गीतों को हम पाश्चात्य प्रगीत काव्यशैली की अपेक्षा भारतीय पद-शैली के अधिक निकट पाते हैं। इनमें रचना की अनिवार्यता, निरपेक्षता और प्रवेग की अपेक्षा चयन, सज्जा और कल्पना का प्राचुर्य है। मधुर भावना की तन्मयता के साथ-साथ आलंकारिकता का पुट भी कम नहीं है। सहज वृत्तिनिवेश की अपेक्षा दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक वस्तु का पृथक् अस्तित्व दिखाई देता है।

निरालाजी की आख्यायिकाएँ और उपन्यास

'सखी' निरालाजी की छोटी कहानियों का दूसरा संग्रह है। इसके पूर्व 'अप्सरा' और 'अलका' ये दो उपन्यास और 'लिली', उनकी आख्यायिका-पुस्तक, प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त निरालाजी की नई रचना 'प्रभावती' (उपन्यास) जो प्रेस में है, मैंने देखी है। ये पाँचों नाम स्त्रीवाची हैं। पुस्तकों में प्रमुखता भी स्त्री-चित्रण की ही है। वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर निरालाजी ने विकास-मूलक मनोरम अंशों को अपनाया और इन पुस्तकों में स्थान दिया है। स्त्री-स्वातन्त्र्य का अर्थ जहाँ तक शिक्षा, संस्कृति तथा सामाजिक व्यवहार की स्वच्छन्दता है, निरालाजी उसके अनन्य प्रेमी हैं। परन्तु जब वह स्वातन्त्र्य फिरकापरस्ती का रूप धारण करता है; पुरुष से भिन्न आर्थिक स्थिति और घर के भीतर दो दीवालें बनवाने का आग्रह करता है; जब स्त्री, पुरुष की स्पर्द्धा में, साथ-साथ लीक पर चलना अस्वीकार कर देती है; जब कट्टर धर्मध्वजियों की भाँति एक पूर्व और एक पश्चिम की ओर मुखकर ईश्वरोपासना करने में ही चरम सिद्धि मानते हैं और इसमें कुछ भी विक्षेप पड़ने पर एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन जाते हैं; निरालाजी उन स्थितियों के रचनाकार नहीं हैं। उन स्थितियों में प्राणों की विह्वल सत्ता रहती है, यद्यपि वास्तविकता वहाँ भी है, परन्तु निरालाजी जैसे भावनावान् कवि के लिए नहीं; वह तो विक्टर ह्यूगो जैसे क्रान्ति-उपासक या बर्नार्ड-शा जैसे प्रकांड बुद्धिवादी के लिए ही वर्ण्य विषय बन सकती हैं। वे ही उसका समाधान कर सकते हैं, दूसरे नहीं। भारतवर्ष में व्यास इस कोटि के कवि हो गये हैं जिन्हें हम वास्तविक क्रान्त-दर्शन कह सकते हैं। यूरोप के सभी क्रान्ति-प्रेमी कवि मिलकर व्यास के चरणों के नीचे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं किन्तु व्यास ने यह समस्त यथार्थ, अध्यात्म में पर्यवसित कर दिया है। अस्तु, यह तो और बात हुई। निरालाजी के उपन्यास और कहानियाँ मृदुल रचनाएँ हैं जिनमें नारी का प्रेमपूर्ण, शिक्षित और संस्कृत व्यक्तित्व दिखाने की चेष्टा मुख्य रूप से की गई है। अन्य विषय आनुषंगिक हैं, नारी-सुलभ प्रेम ही प्रधान है। प्रेम की आध्यात्मिकता का यह अर्थ नहीं कि उसका कोई व्यक्त मानसिक रूप ही न हो, किन्तु जिस प्रकार 'कादम्बरी' में बाण ने शुद्ध प्रेम का ही एकमात्र व्यञ्जन किया है उसी प्रकार निरालाजी ने भी।

कवि ने अपनी विद्या, बुद्धि और अपनी संस्कृति से ही नायिकाएँ संघटित की हैं, उन्हें दृश्य जगत् के कोई उपकरण प्राप्त नहीं। घटनाएँ हैं, परन्तु वे पात्रों का शासन नहीं करतीं—पात्रों को प्रकाश में लाती हैं। वे नायक-नायिकाएँ जिन परिस्थितियों में

हैं और उनके अनुकूल जो कार्य करती हैं, उसकी भी प्रमुखता नहीं; प्रमुखता केवल भाव की है, शिक्षा की है, संस्कृति की है। ये रचनाएँ काव्यप्रधान हैं; 'रोमैण्टिक' हैं। स्काट, बाइरन आदि ने ऐसे उपन्यास पद्यबद्ध लिखे हैं। कादम्बरी यद्यपि गद्य में है तथापि उसे उपन्यास कहना उपयुक्त न होगा। वह सम्पूर्ण कविता है। उपर्युक्त 'रोमैण्टिक' रचनाओ की अपेक्षा भी उसमें कवि-कल्पना अत्यधिक है और घटनाओं का नाम भी नहीं है। निरालाजी के उपन्यास मेरे विचार से इसी कोटि की सृष्टियाँ हैं और उन्हें इसी दृष्टि से देखना चाहिए। खेद की बात है कि 'हिन्दोस्तानी' जैसी पत्रिका में भी, जो तीन महीने में एक अङ्क निकालती है और विद्वानों के सम्पर्क में रहती है, बिना कृति की विशेषता समझे हो, निरालाजी को रचनाओं पर आक्रमण किये गये हैं। मझे बताया गया है कि आलोचक महोदय संस्कृत तथा अँगरेजी दोनों के अच्छे विद्वान् हैं, तो भी उन्होंने यह विचारने का कष्ट नहीं किया कि 'अप्सरा' है क्या वस्तु! हम जिस रचना में जिस वस्तु के अभाव की शिकायत करते है, वह वस्तु उसके लिए अनिवार्य है, यह भी सिद्ध करना चाहिए; अन्यथा आक्षेप का मूल्य ही क्या रहेगा? फिर वे आलोचक महोदय संस्कृतज्ञ होने के कारण बाण की 'कादम्बरी' से अवश्य परिचित होंगे। तो क्या 'कादम्बरी' पर भी वे उसी प्रकार आक्षेप कर सकते हैं? इन रचनाओं की काल्पनिकता—दैनिक अनुभवों से इनकी भिन्नता—ही विशेषता है। साहित्य में इसी लिए इनका विशेष स्थान है। आप सम्पूर्ण साहित्य में उस विशेष स्थान के महत्त्व के सम्बन्ध में शङ्का कर सकते हैं किन्तु केवल अपनी रुचि के आधार पर नहीं; उसके विशेष स्थान के यथार्थ स्वरूप को समझने, उसका तात्त्विक अध्ययन करने के पश्चात् शका कर सकते हैं। निरालाजी के उपन्यासों के सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि उनमें यह घटना या यह चरित्र अनुचित, अस्वाभाविक या असम्भव है; मुख्य प्रश्न यह है कि प्रेम या संस्कृति की कैसी कल्पना उन्होंने की है और उसका निर्वाह करने में वे कहाँ तक समर्थ हुए हैं। यद्यपि वे सृष्टियाँ हमारे दैनिक जीवन से बहुत कुछ भिन्न हैं, तथापि शरत्-पूर्णिमा की भाँति अपनी मनोरमता में हमें अटका रखने की क्षमता उनमें है या नहीं? यह चाँदनी जो हम देखते हैं, नित्य हमारे उपयोग में नहीं आती, किन्तु इसका आनन्द तो हमें ज्ञात है। इसी प्रकार 'रोमान्स,' जो मानव-जीवन को विशुद्ध उज्ज्वल चन्द्रिका है, उसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। कुछ समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्काट, बाइरन या कादंबरी का युग गया। न तो अब मध्यकालीन वह समाज है, न प्रेम सम्बन्धी वे धारणाएँ हैं और न आधुनिक पाठकों में इतनी

क्षमता है कि धैर्यपूर्वक उन अलंकृत रचनाओं का निरीक्षण कर सकें। किन्तु यह समझना कि किसी विशेष समय या समाज में कादम्बरी या महाश्वेता दैनिक जीवन की प्रतिनिधि थीं, भावनामात्र है। वास्तविकता यह है कि सभी समयों और समाजों में, कभी कुछ कम, कभी अधिक, रचनाकार अपनी संस्कृति के अनुरूप ऐसी रचनाएँ करते हैं और साहित्य में उनका सम्मान भी होता है। बदलते हुए समय के चक्र में पड़कर वे ही रचनाएँ लुप्त हो सकती हैं जिनमें आत्मा की सत्ता नहीं, रहस्यमय जीवन-विकास के परमाणु नहीं। हम साहित्यिकों का एकमात्र अवलम्ब यही है कि यद्यपि हम एक परिमित समय के घेरे में आबद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु हमारी वाणी ऐसे किसी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करती जो उसे काल पाकर विनष्ट कर सके। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक लेखक और कवि अपनी अमरता का दम भरता फिरे, अथवा प्रत्येक छपी हुई पंक्ति शाश्वत जीवन की सृष्टि समझ ली जाय। दम भरना और अमरता दो भिन्न वस्तुएँ हैं। एक हमारी नश्वर मनुष्यता की क्षीण ध्वनि है, दूसरी वह चिर-नवीन चिर-जीवनमय शुभ्र वस्तु है जो कहने-सुनने या विश्वास दिलाने से सिद्ध नहीं होती। वह तो आप ही सिद्ध होती है। प्रत्येक रचना उसी एकमात्र प्राणात्मक सत्ता से संलग्न होकर, एकाकार होकर स्थायित्व प्राप्त करती है। मनुष्यों के बुद्धिविभ्रम से किसी समय कुछ उत्कृष्ट वस्तुएँ यथार्थ दृष्टि से नहीं देखी जातीं, किन्तु इस कारण उन वस्तुओं की हीनता नहीं सिद्ध होती। अनुकूल समय पाकर वे पुनः प्रकाश में आती हैं और बदले में मनुष्यों के हृदय प्रकाश से भर देती हैं। इसलिए साहित्यिक रचना की समीक्षा का आदर्श यह नहीं होना चाहिए कि वह वस्तु किस व्यक्ति-विशेष या लक्ष्य-विशेष से लिखी गई है, न यही कि हमें वे अच्छी लगती हैं या नहीं। एक मात्र आदर्श उक्त रचना में निहित प्राणों के स्वरूप का निर्देश करना—उसी की समीक्षा करना होना चाहिए। अतः प्रत्येक रचना का व्यक्तित्व, उसकी निजता, उसकी प्रमुख आकृति, उसका तारतम्य समझ लेने के पश्चात् ही उसकी आलोचना की जानी चाहिए। जब बच्चे भी इसका ज्ञान रखते हैं कि यह आग है और यह पानी है और दोनों की यथार्थता जानते हैं तब साहित्य के समीक्षक इस आरम्भिक वस्तुविज्ञान से वञ्चित हों, यह आश्चर्यजनक है। अभी अधिक दिन नहीं हुए, इँगलैंड में स्टिवेन्सन प्रसिद्ध 'रोमान्सवादी' रचयिता हो गया है। उसकी भावना-प्रधान कृतियों का वहाँ यथेष्ट सम्मान है। निरालाजी के उपन्यासों और कहानियों का अध्ययन और विवेचन करते समय भावना की उसी कोमल भूमि में उतरना होगा जिस पर स्थिर होकर वे प्रणीत हुई हैं। अन्यथा-समीक्षा अपने अर्थ से ही वञ्चित रहेगी।

श्री० सुमित्रानन्दन पंत

—०*::*०—

नवीन हिन्दी कविता में सब से श्रेष्ठ सृष्टि-प्रतिभा लेकर पं० सुमित्रानन्दन पंत का विकास हुआ है। हिन्दी के क्षेत्र में पन्तजी की कल्पना की शक्ति अजेय, उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम है। कल्पना ही पंतजी की कविता की विशेषता, उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं की आधार, उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। 'उपमा कालिदासस्य' में कल्पना की ही कीर्ति-प्रशस्ति हुई है, यह अर्थ समझकर, पंतजी के काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कल्पना-अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं; यह कहा जाय, तो प्राचीन समीक्षा की शब्दावली का निर्वाह भी हो जायगा और पंतजी की विकास-दिशा भी इङ्गित हो जायगी। कल्पना केवल शैली में ही नहीं, काव्यविषय में भी। यह दूसरी कल्पना पंतजी की प्रारंभिक रचनाओं में कोरी भावना (Fancy) का आतिशय्य कर देनेवाली अतः काव्यालोचना में विशेष प्रशंसा-ज्ञापिका नहीं; परन्तु यहाँ पंतजी का विकास दिखाने में उसका उल्लेख करना ही पड़ेगा। कल्पना ही पंतजी की कविता का मेरुदंड, उनकी काव्यसृष्टि का मापदंड है। कोरी कल्पना की बाल्य-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर अत्यन्त तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में पंतजी का विकास क्रम देखा जा सकता है।

प्रेम और सौन्दर्य की सूक्ष्म मानसिक विवृति तक में पन्तजी की कल्पना समर्थ हुई है और यत्र-तत्र यही कल्पना आध्यात्मिक उड़ान भी लेती चली है। इसे ही प्रचलित शब्दावली में छायावाद कहा जाता है। प्रेम के संयोगपक्ष को भी और वियोग-पक्ष को भी समान सौकर्य से प्रकट करने में उनकी कल्पना कुंठित नहीं होती, कहीं हलकी मोदमय, कहीं मधुर रसमय भावाभिव्यक्ति करने में वह योग देती और कहीं गूढ़ रहस्यमयी सृष्टि भी करती है। कल्पना के प्रकर्ष में जड़ व्यक्तित्व छूट जाता है, और कवि स्वच्छन्द होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने में प्रवृत्त होता है। एक ओर जहाँ यह लाभ है, वहाँ दूसरी ओर यह हानि भी साथ ही लगी है कि कल्पना का अतिरेक जीवन का संपर्क छोड़कर ऐकान्तिक हो जाय। किन्तु पन्तजी की कल्पना वैसी प्रायः कम ही

है। वह अनेक बार दिव्य ज्योति दिखाती, यदा-कदा विद्युत्-चकाचौंध उत्पन्न करती पर गड्ढे में प्रायः कभी नहीं गिराती।

कल्पना थी इस 'ओलिम्पिक' प्रतियोगिता में पन्तजी ने अपने लिए प्रेम और सौन्दर्य के 'हीट्स' चुन लिये हैं और शृङ्गारवर्णन का उनका 'रेस' विशेष चमत्कार-पूर्ण हुआ है। पन्तजी की यही रुचि-दिशा है। उनकी रुचि कोमल अथच मार्जित है। उसे हम नागरिक रुचि भी कह सकते हैं और इस विशेषण से उनके वर्णित विषय पर ही नहीं उनके शब्द-संगीत, छन्द-चयन और भाषा-शैलो पर भी प्रकाश पड़ जाता है। उनकी कल्पना के साथ उनकी यह रुचि मिलकर उनकी कविता को रमणीय अथच आकर्षक वेश-भूषा से सज्जित करती—यह साज-सज्जा आधुनिक हिन्दी में और कहीं नहीं देख पड़ती। पन्तजी की इस रुचि से हिन्दी खड़ी बोली को ईप्सित फल प्राप्त हुए हैं—सरस, सार्थक शब्दसृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा। शब्द-साधना में पन्तजी ने संस्कृत की सहायता ली है यद्यपि शब्द-प्रतिमाएँ अँगरेज़ी कला-कौशल से खड़ी की गई हैं। भाषा, छन्द और शब्दालंकरण का महत्त्व समीक्षकगण यह कहकर अपहरण कर लेते हैं कि उनसे भावतन्मयता को क्षति पहुँचती है, और इस प्रकार बहिरंग को सजाकर अन्तरंग रुग्ण ही बना रहने दिया जाता है, पर ऐसे आरोपों पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। काव्य में बहिरंग और अन्तरंग का ऐसा कहीं भेद नहीं है। सार्थक, सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द—ये सब भावों के अभिन्न अंग हैं। बाह्य और अन्तरंग यहाँ कुछ नहीं। भावों को स्वरूप देने वाले शब्द ही काव्य में सब कुछ हैं, अन्यथा भावों की सत्ता ही कहाँ रहती! 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते हुए संस्कृत आचार्य ने इसी तत्त्व को प्रकट किया था जिसे हम आज बहिरंग और अन्तरंग के भ्रम में भुलाना चाहते हैं। पन्तजी ने अपने समय की खड़ी बोली को संस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ़ किया, हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोग आविष्कृत किये और भाषा में एक नई ही छटा छा दी। उन्होंने खड़ी बोली को भावाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। यहाँ इस उल्लेख का आशय यही है कि समीक्षक-गण भाषा और भावों का चाहे जो सम्बन्ध स्थापित करें, परन्तु पन्तजी ने अपनी खड़ी बोली को स्वस्थ स्वरूप देकर उसे भाव-प्रसूति के अधिक उपयुक्त बनाया और उनके इस प्रयास में भाषा और भाव अलग-अलग नहीं—बाह्य और अन्तरङ्ग नहीं—वरन् काव्य का सर्वाङ्गीण विकास करते देख पड़ते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि खड़ी बोली को उस समय अपने अवयव-सङ्गठन की परम आवश्यकता थी, अन्यथा स्वयम् हिन्दी कविता उसी पुरानी

दुर्बल दशा में पड़ी रहती। भाव और भाषा का यह अभिन्न सम्बन्ध समझने में पंतजी को प्रारम्भ से ही द्विविधा नहीं थी, यह भी समय को देखते हुए, उनकी प्रतिभा का ही प्रमाण है।

इस प्रसङ्ग-प्राप्त स्थल में हम एक आवश्यक उल्लेख कर देना चाहते हैं, उपरान्त पन्तजी की कृतियों की थोड़ी-बहुत चर्चा करना चाहते हैं। यह उल्लेख स्पष्ट शब्दों में करने में भी कोई हानि नहीं है। पन्तजी पर यह आक्षेप सब से अधिक किया गया है—यह भी उनकी ओर लोकदृष्टि के आकर्षण की ही सूचना है—कि वे न केवल बँगला के शब्द-प्रयोगों को हिन्दी में अपनाते हैं, वे तो अँगरेज़ी के कवियों और बँगला के रवीन्द्रनाथ आदि से भावापहरण भी करते हैं। इस प्रकार के आक्षेपों के सम्बन्ध में हम केवल दो बातें कह सकते हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी में लाकर भिन्न भाषा के प्रयोगों को हिन्दी का बना दिया गया है (इस 'हिन्दी का' का अर्थ हिन्दी के जानकार ख़ूब समझ सकते हैं, जिससे हिन्दी की अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ने के लाभ के अतिरिक्त कोई हानि नहीं हुई—तो उसे अपहरण न कहकर अलङ्करण कहना चाहिए। 'मणि, मानिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। नृप-किरीट-तरुनी-तनु पाई; लहहिं अधिक सोभा अधिकाई।' दूसरी बात यह कि हमें उन अपहरणों के भीतर से कवि का विकास देखना चाहिए। हमको यह जान लेना चाहिए कि कवि केवल अनुवादक के रूप में बना रहता है अथवा वह कुछ आगे भी बढ़ता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'उपजहिं अनत-अनत छवि लहहीं' की अपनी सूक्ति को अपने काव्य में पूरी मात्रा में चरितार्थ कर दिखाया है। हम देखते हैं कि पन्तजी के अपहरणों में भी उनकी प्रतिभा और रुचि का सम्यक् प्रदर्शन है। तथापि यदि कहा जाय कि पन्तजी ने रवीन्द्रनाथ से बहुत कुछ प्राप्त किया है तो क्या रवि बाबू ने दूसरे कवियों से और भी अधिक प्राप्त नहीं किया? केवल दो-एक उदाहरण देख लेना चाहिए—

"Spirit of Beauty that dost consecrate
With thy own hues all thou dost shine upon
Of human thought or form—where art thou gone?"

—शेली

Spirit of Beauty, how could you, whose radiance over-brims the sky,
Stand hidden behind a candle's tiny flame?

How could a few vain words from a book rise like a mist and veil
Her whose voice has hushed the voice of earth into ineffable calm ?"

—रवीन्द्रनाथ

... ...

"Suspended in the solitary dome
Of some mysterious and deserted fane
I wait thy breath, Great Parent, that my strain
May modulate with murmurs of the air,
And motions of the forest and the sea,
And voice of living beings and woven hymns
Of night and day, and the deep heart of man."

—शैली

'Let they love play upon my voice and rest on my silence;
Let it pass through my heart into all my movements.
Let me carry thy love in my life as a harp does its music and
Give it back to thee at last with my life."

—रवीन्द्रनाथ

सजनि श्याम की वंशी ही से
कर दे मेरे सरस वचन
जैसा जैसा मुझको छेड़े
बोलूँ अधिक मधुर मोहन;
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र मुग्ध नतफन
रोम-रोम के छिद्रों से मा
फूटे तेरा राग गहन।

—पन्त

'उच्छ्वास', 'आँसू', 'ग्रंथि' और 'परिवर्तन' ये पन्तजी की वियोगवर्णन की लम्बी कविताएँ हैं। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' दोनों एक में मिलाकर एक ही कविता बना दी जा सकती हैं। एक की भावना एक में ही संकलित न होकर दूसरी में भी प्रसार पा रही है। संकलन की दृष्टि से यह बाधा लग गई है। परन्तु इस बाधा से भी अधिक 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की अस्पष्टता खटकती है। यह अस्पष्टता रहस्यवाद की किसी ऊँची आध्यात्मिक उड़ान के कारण नहीं है—यह हम स्पष्टतः कह सकते हैं। पन्तजी की कल्पना जहाँ कहीं आध्यात्मिक भावना में परिणत होती है, वे छायात्मक-रहस्यात्मक स्थल कहीं दुरूह नहीं हुए हैं, परन्तु 'उच्छ्वास' और 'आँसू' मानवीय वियोग का वर्णन करते हुए जान पड़ते, किन्तु क्लिष्टता के कारण संदेह उत्पन्न करते हैं। 'उच्छ्वास' में जहाँ पंतजी प्राकृतिक शोभा-वर्णन करके 'इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की, वाह्यप्रकृति बनी चकाचक चित्र थी' कहते हैं वहाँ अनुमान दृढ़ हो जाता है कि हृदय के ही किसी प्रसङ्ग का वर्णन है, जिस प्रसंग में 'वाह्य प्रकृति' को 'चित्र' मात्र बनकर संतोष करना पड़ा है। पन्तजी की रहस्यात्मक कविताओं में प्रकृति को कहीं 'वाह्य-प्रकृति' कहलाने का कुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए यह दूसरा अनुमान भी दृढ़ होता है। 'उच्छ्वास' में पंतजी की कोई गहन अनुभूति नहीं है। फिर उसमें क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में 'उच्छ्वास की बालिका के प्रति' जो 'स्मृति' पंतजी ने लिखी है वह भी विशेष सहायता नहीं पहुँचाती। बालिका के प्रति वियोग की बात तो 'उच्छ्वास' और 'आँसू' दोनों से ज्ञात होती है और यह भी ज्ञात होता है कि 'संदेह' के कारण बालिका का परिणय-सम्बन्ध उसके उस मित्र (?) से न हो पाया जो 'मन्द-हास-सा उसके मृदु-अधरों पर मँडराया' और 'उसकी सुखद सुरभि से प्रतिदिन समीप खिंच आया' था। इस परिणय-सम्बन्ध के चरितार्थ न होने, बीच में ही टूट जाने के कारण 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की सृष्टि हुई देख पड़ती है। पंतजी इसे 'कल्पनाओं की कल कल्पलता' कहकर अपनाते हैं, इसलिए 'बालिका' का शारीरिक अस्तित्व कल्पना में विलीन होता जान पड़ता है पर साथ ही 'अदेह सन्देह' के कारण 'जुड़े स्वभाव छुड़ाने' आदि की घटनाएँ फिर बीच में विक्षेप डालती हैं। यह अस्पष्टता कविता के लिए काम्य नहीं हुई। निष्कर्ष तो केवल दो ही निकल सकते हैं। कवि 'बालिकावत्' अपने बाल्यजीवन के वियोग में दुःख प्रकाश कर रहा, अथवा वह अपनी किसी बाल सहचरी का विरह-वर्णन कर रहा है। किन्तु दोनों निष्कर्षों में द्विविधा लगी हुई है। पहले निष्कर्ष के अनुसार अपनी ही 'बालिका-मूर्ति' के प्रति कवि का वियोग आश्चर्य-

जनक प्रतीत होगा और दूसरा अर्थ लेने पर कवि की इस वियोग-घटना में किसी आध्यात्मिक वाद की अपेक्षा निराश रोदन की ही प्रमुखता सिद्ध होगी। इससे कहीं अधिक सरस, पंतजी की 'बालापन' कविता 'उच्छ्वास', 'आँसू' आदि से दो वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी...

'अहो कल्पनामय फिर रच दो वह मेरा निर्भय अज्ञान
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से धुली मृदु मुस्कान
मेरा चिन्तारहित अनलसित वारिबिम्ब-सा विमल हृदय
इन्द्रचाप-सा वह बचपन के मृदुल अनुभवों का समुदय
इत्यादि।

इस 'बालापन' कविता के सामने 'उच्छ्वास' का 'बालिका-विरह' आदि हमें प्रभावित नहीं करते। यदि दूसरे निष्कर्ष के अनुसार देखें तो 'उच्छ्वास' की 'बालिका यौवनागम के द्वार पर खड़ी अपने प्रिय के परिणय-पाश में बँधने से वंचित, अवश्य ही करुण है, और उसके निराश प्रेमी के 'आँसू' भी अवसरजन्य ही हैं, परन्तु यह सब वर्णन—सम्भवतः पंतजी के उस समय के संकोच के कारण—स्पष्टता नहीं प्राप्त कर सका। यदि प्राप्त भी कर पाता तो कविता किसी उच्च धरातल पर न पहुँच पाती क्योंकि 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में पंतजी की कल्पना कहीं भी ऊँची उड़ान नहीं भरती, व्यक्तिगत आकांक्षा और रुदन तक सीमित रहती है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' के पढ़ने पर एक तीसरी धारणा यह भी उत्पन्न होती है कि इनमें कवि 'प्रेम' का मुक्त निर्बन्ध रूप दिखा रहा है। यह धारणा इन पंक्तियों से और भी दृढ़ होती है—

देखता हूँ जब उपवन पियालों में फूलों के
प्रिये! भर-भर अपना यौवन, पिलाता है मधुकर को
नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर
अकेली आकुलता-सी प्राण! कहीं तब करती मृदु आघात!
सिहर उठता कृश गात ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

प्रकृति के इस निर्बल मिलन को ही 'सार' समझकर; कवि 'उच्छ्वास' की 'बालिका' के प्रसंग में उसका अभाव देखकर कहता है—

है सभी तो ओर दुर्बलता यही समझता कोई नहीं क्या सार है!
निरपराधों के लिए भी तो अहा! हो गया संसार कारागार है!!

अवश्य ही 'उच्छ्वास' की 'बालिका' ने कवि के हृदय में प्रेम के रहस्य के संबंध में जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है और वह जिज्ञासा 'निरपराधों के लिए भी तो अहा, हो गया संसार कारागार है' कहकर ही समाप्त नहीं हो जाती। उसका समाधान 'मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध विहार' में ही नहीं होता। वह और आगे बढ़ती है।

'ग्रन्थि' पन्तजी की विशेष मार्मिक विरह-कविता है। यह 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की भाँति द्विविधा से नहीं, अत्यन्त स्पष्ट रीति से मानवीय विरह का शोक संताप प्रकट करती और विशेष करुण वातावरण उपस्थित करती है। 'उच्छ्वास' की उपर्युक्त प्रेम सम्बन्धी जिज्ञासा ही मानो 'ग्रन्थि' बन गई है पर 'ग्रंथि' का उसमें निवारण नहीं है। कवि यहाँ वियोगव्यथा में इतना तल्लीन हो गया है कि उसमें एक विलक्षण जड़ता आ गई है जो पन्तजी की अन्य रचनाओं में बहुत कम दिखलाई देती है। 'ग्रंथि' के वियोग-वर्णन में 'विषाद' और तज्जन्य मानसिक दौर्बल्य का भी आभास छूट नहीं पाया।

'परिवर्तन' में पहुँचकर पन्तजी की कल्पना सचेत होकर अपनी शक्ति का परिचय देती है। 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'ग्रंथि' आदि के वैयक्तिक अनुभवों के उपरान्त 'परिवर्तन' में कवि की निर्लेप कल्पना प्रस्फुटित हो उठी है और यहाँ वह जीवन के संबंध में निराशामूलक किन्तु तटस्थ विचार प्रकट करती है। यदि यह कथन ठीक है कि कविता-शरीर की रीढ़ दर्शन (philosophy) है तो 'परिवर्तन' में कविता को यह रीढ़—दृढ़ रीढ़—मिल गई है। 'परिवर्तन' को हम दार्शनिक काव्य कह सकते हैं और पंतजी की सुन्दरतम रचनाओं में से मानते हैं। यहाँ पहुँचकर 'उच्छ्वास' का 'निरपराधों के लिए भी तो अहा, हो गया संसार कारागार है', की भाँति का उपालंभ दूर हो जाता है और वस्तु-स्थिति को समझकर कवि उससे समझौता करता है। 'परिवर्तन' में कवि का निराशावाद ही प्रमुख रीति से झलकता है। फिर भी 'स्थिति' को देखने की और वास्तविकता को सहन करने की शक्ति का उसमें आह्वान है। निराशामूलक होती हुई भी इस रचना में एक औदात्त्य और दर्शन की तटस्थता है। अवश्यंभावी 'परिवर्तन के चिरचक्र में पड़ा हुआ क्षुद्र मनुष्य अपने सुख-दुःख पर क्या आस्था करे?' —'परिवर्तन' में मानवीय सुख-दुःख का यही निराकरण, जीवन का यही आश्वासन हमें प्राप्त होता है। 'साधना ही जीवन का सार' 'परिवर्तन' की विधायक पंक्ति कही जा सकती है।

'पल्लव' में वियोग-पक्ष प्रमुख होने के कारण करुणनिराशा की एक अश्रुपूर्ण झलक ही मूर्तिमती होती है। उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त 'छाया', 'स्वप्न', 'नक्षत्र', 'आलापन' आदि का स्वर-तार करुणध्वनि निक्षेप करता, विविध वर्णनों और जिज्ञासाओं

में एक निराशा ही फैली हुई मिलती है। 'गुञ्जन' में, इसके विपरीत, कवि अधिक आस्तिक बनने की संभावना प्रकट करता है। १९३१-३२ की प्रायः सभी रचनायें संयोग-पक्ष की हैं, जिनमें पंतजी की कल्पना अपना चमत्कार दिखा रही है। 'भावी पत्नी के प्रति', 'मधुवन' आदि लम्बी रचनाओं मे भी अधिक छोटे-छोटे गीतों में वह प्रदर्शित हुई है, जैसे "लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल लोगी मोल ?", "मैं पलकन पग चूमूँ पिया के" आदि। हिन्दी के शृङ्गारी कवि विरह-वर्णन के कारण अधिक लांछित नहीं किये गये, पर जब वे संयोगवर्णन करने में सन्नद्ध हुए तब उनमें से अधिकांश ने कल्पना को ताख पर रखकर अत्यन्त स्थूल, फोटोग्राफ़ खींचना आरंभ किया। विरह-वर्णन करने में उन कवियों ने जहाँ कल्पना के आकाश-पाताल एक कर ऊहा की विपथगति दिखा दी, वहाँ संयोग-शृङ्गार के प्रसंग में संभोग की ही कथा कहने लगे। एक तरफ़ कल्पना का इन्द्रजाल, दूसरी तरफ़ कल्पना छूमंतर। यह विशृङ्खलता शृङ्गारी कवियों के विकास में घातक सिद्ध हुई। पंतजी भी इस युग के शृङ्गारी कवि हैं, इनके विकास मे भी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। पंतजी, वियोग-वर्णन में कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते है, पर संयोगवर्णन में वे प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। मध्यकाल के शृङ्गारी कवियों के विकास से पंतजी के विकास में यही मुख्य अन्तर है। उनका संयोग-पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक संयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। पन्तजी की इन आस्तिक रचनाओं की मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत् तक पहुँच गई है। वियोग की कल्पना-अनुभूति जिस प्रकार 'परिवर्तन' में, उसी प्रकार संयोग की कल्पना-अनुभूति अनेक लघुदीर्घ रचनाओं मे व्यापक सौन्दर्य की सृष्टि करती है—

आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील,
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल
सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण।

... ...

आज वन में पिक में गान, विटप में कलि, कलि में सुविकास
कुसुम में रज, रज में मधु प्राण! सलिल में लहर, लहर में लास

... ...

मुकुल-मधुपों का मृदु मधुमास, स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार
मनोभावों का मधुर-विलास विश्व-सुषमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास व्योम-बाला का शरदाकाश
तुम्हारा आता जब प्रिय-ध्यान, प्रिये प्राणों की प्राण !

इस प्रकार की अनुभूतियाँ पन्तजी के विकास में विशेष रूप से सहायक हुई हैं। यदि 'परिवर्तन' पन्तजी की वियोग-अनुभूति का निष्कर्ष है तो उनकी संयोगभावना भी 'अप्सरी', 'अनंग', आदि रचनाओं में परिणति प्राप्त करती है। 'अप्सरी' और 'अनंग' दोनों ही कृतियाँ सौन्दर्य की चेतना—Spirit of Beauty—का प्रकाश करती हैं। जिस प्रकार वियोग के 'इन्तहाए नशा' में होश आने के बाद 'परिवर्तन' लिखा गया उसी प्रकार संयोग का शुद्ध स्वरूप-दर्शन करने के उपरान्त शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति देखने—उसका रहस्य जानने की उत्कंठा भी स्वभावतः हुई। यदि 'मधुवन', 'भावी पत्नी के प्रति' आदि में सौन्दर्य का व्यावहारिक पक्ष है, तो 'अप्सरी', 'अनंग', 'प्रथम रश्मि' आदि में उसी का कल्पना-प्रधान पक्ष है। अवश्य ही पंतजी को इस संयोग-वर्णन में पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हुई है। 'पल्लव' की अपेक्षा 'गुंजन' में कल्पना का सहज सुन्दर उद्रेक उतना नहीं जितनी उपदेशक प्रवृत्ति और पांडित्य का प्रदर्शन है। 'एकतारा' में भी उन्होंने गहन आत्मदर्शन की 'अभिव्यक्ति' की चेष्टा की है। इस रचना में तथा 'अप्सरी' में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है—

तुहिन-बिन्दु में इन्दु-रश्मि-सी सोई तुम चुपचाप;
मुकुल-शयन में स्वप्न देखतीं निज निरुपम छवि आप।

—'अप्सरी'

चिर अविचल पर तारक अमन्द
जानता नहीं वह छन्द-बंध
वह रे अनन्त का मुक्त-मीन
अपने असंग सुख में विलीन—
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन

—'एकतारा'

इस प्रसार की गूढ़ उज्ज्वल सृष्टि करने में पन्तजी के समकक्ष हिन्दी में एकमात्र

'निराला' जी ही हैं। परन्तु बलशाली कल्पना-शक्ति के कारण पन्तजी निरालाजी की अपेक्षा उपमा का अधिक आकर्षण विकीर्ण कर सके हैं।

पन्तजी के संयोग-शृङ्गार की एक शाखा जहाँ 'अप्सरी', 'एकतारा' आदि के रूप में फूट निकली है, वहाँ दूसरी शाखा उनके प्रकृति-प्रेम की रचनाओं के रूप में देख पड़ती है। प्रकृति का चैतन्य चित्र तो आधुनिक हिंदी के कतिपय कवियों को अनुभूति में आया है पर उन्होंने उसे केवल मानुषीय अनुभूतियों का आनुषंगिक बना रखा है। विराट् प्रकृति भी विराट् मनुष्यता के सामने छोटी बना दी गई है। यह प्रकृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सजीव भावना नहीं कही जा सकती। उसे उसके ही क्षेत्र में—उसके अपने सम्राज्य में—सम्राज्ञी की भाँति देखने की उदारता आधुनिक हिन्दी के कवियों ने नहीं दिखाई। पन्तजी इस दिशा में अग्रसर होनेवाले पहले व्यक्ति हैं। उनकी 'वीचि-विलास', 'मौन निमंत्रण', 'बादल' आदि कविताओं में वैसी सहानुभूति झलकती है। परन्तु प्रकृति को प्रकृति की ओर से देखने की कल्पना पन्तजी में भी निर्लेप रूप से विकसित नहीं हुई है। प्रकृति के प्रति पन्तजी का आकर्षण, प्रचलित हिन्दी में सब से अधिक, तथापि वस्तून्मुखी नहीं है। 'मौन निमंत्रण' में प्रकृति की प्रभावशालिनी प्रेरणा से जो भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, उसे भी पन्तजी के छायावाद का एक हल्का रूप कह सकते हैं। इसे प्राकृतिक चित्रांकण का काव्य नहीं कहा जा सकता।

इधर कुछ दिनों से हिन्दी के समीक्षकों ने 'जीवन-जीवन' की आवाज़ ऊँची कर रखी है इनमें से कुछ तो यह भी नहीं समझते कि जीवन किसे कहते हैं और कविता में वह किस रूप में आ सकता है। कविता 'जीवन' की व्याख्या है—अँगरेजी का यह वाक्य सुनकर वे लोग इसे मुहावरे के तौर पर व्यवहार में लाते और कहते हैं कि आधुनिक कविता में 'जीवन' नहीं मिलता। सम्भव है इन्हीं समीक्षकों की तृप्ति के लिए पन्तजी ने 'गुंजन' के कुछ पद्यों में 'जीवन' शब्द का प्रयोग प्रचुर परिमाण में कर दिया है (पन्तजी इन विषयों मे काफ़ी व्यवहार-कुशल देख पड़ते हैं)। इसका परिणाम भी यथोचित मात्रा में निकल गया है—'विशाल भारत' में पन्तजी के एक समीक्षक की उक्तियों से ऐसा ही समझ में आता है। बहुत संभव है पन्तजी के 'जीवन' शब्द के कारण ही ये लेखक महाशय यह लिखने को उत्साहित हुए हों कि अब पन्तजी की कविता में जीवन आने लगा है। परन्तु पन्तजी की कविता की वास्तविक जीवन-व्याख्या लेखक की बुद्धि-परिधि के बाहर की बात देख पड़ती है। ऐसे समीक्षकों से पन्तजी को ही नहीं, हिन्दी को भी सावधान रहने की आवश्य-

कता पड़ेगी। जीवन की आस्तिकता, प्रवेग और सहज सौन्दर्य से समन्वित काव्य हमें 'पल्लव' में जितना स्वच्छ और निर्मल दिखाई देता है, अन्य रचनाओं में उसकी अपेक्षा कम ही।

'एकतारा' और 'नौकाविहार', पन्तजी की इन नवीन रचनाओं में, वर्णन का एक नया रूप देख पड़ता है; जिसमें कल्पना का आकर्षण नहीं स्वयम् वर्णन का ही आकर्षण है शायद इसे अधिक प्राकृतिक कविता कहा जाय। कल्पना की अराजकता यहाँ विक्षेप ही डाल सकेगी इसलिए उसके परिहार की चेष्टा की जानी चाहिए। विशेषकर 'नौका-विहार' में पन्तजी प्रकृति के रूप-चित्रण की ओर आकृष्ट हुए हैं किन्तु 'नौकाविहार' के वर्णन के उपरान्त कल्पना का यह दार्शनिक निष्कर्ष इतना बोझीला हो गया है कि कविता उसका भार नहीं सँभाल सकती—

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम

इत्यादि।

बिना इस निष्कर्ष के कविता अधिक सफल होती। इस नवीन दिशा में कल्पना को अधिक संयमित करके अभीष्ट-सिद्धि की जा सकती है।

हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि 'पल्लव' के सहज काव्योन्मेष की अपेक्षा 'गुंजन' में शुष्क उपदेशात्मकता और आयाससाध्य अलंकृति बढ़ चली है। इधर पंतजी के 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' नाम के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। क्रमशः पंतजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गई है और काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है। छन्दों में अधिक खराद और कारीगरी दिखाई देती है। कल्पनाओं में अधिक परिश्रम का आभास मिलता है। काव्य की अपेक्षा पंतजी ने इन्हें गद्य-गीत की उपाधि दी है। काव्य की अंतरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है। वह सिद्धान्तचर्चा के वायुवेग से आक्रान्त दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की खोट छिपाये नहीं छिपती।

———

*

श्री० महादेवी वर्मा

—:०:०:—

'यामा' श्री महादेवी वर्मा का सम्पूर्ण काव्यसंग्रह है। इसके चार यामों में उनकी चारों स्फुट रचना-पुस्तकें संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त महादेवी जी की कोई अन्य रचना शायद प्रकाश में नहीं आई है। अवश्य यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य-रचनाओं से ही है। ये सब की सब मुक्तक पद्य और गीत रूप में हैं, जिनकी संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' में महादेवी जी की लिखी भूमिकाएँ और उनके बनाये कितने ही चित्र हैं, जिनसे उनके काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना कोई भूमिका बाँधे ही 'यामा' का अध्ययन (यहाँ अध्ययन से मेरा मतलब उसकी विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरम्भ कर सकते, किन्तु ऐसा करने में एक कठिनाई दीखती है। 'यामा' केवल एक संग्रहपुस्तक ही नहीं है, उसमें महादेवी जी का पूरा काव्य-व्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग रख कर नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमें संक्षेप में देखने होंगे जिनके द्वारा महादेवी जी सामयिक काव्यजगत् से बँधी हुई हैं। उनके लिए एक छोटी-सी, उपयुक्त, 'सेटिंग' हमें तैयार करनी होगी।

हिन्दी में महादेवी जी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्य-काल में हुआ था, किंतु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थगर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतंत्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अंतर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अँगरेज़ी के कवियों को पाते हैं जिन्होंने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी-सौंदर्य को लम्बी कथाओं के सूत्र में ताना है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमांत पर वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वत्रिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौंदर्य के प्रति निस्पन्द, बेपहचान, निगूढ़-सी मालूम देती है; सब कुछ तो सुन्दर ही है, ऐसी

भावमयता में मग्न-सी हो गई है। वह भी प्रकृत छायावादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अँगरेजी में प्राकृतिक सूक्ष्म सौंदर्य-भावना का एकमात्र अधिष्ठाता 'शेली' ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किंतु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है, छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठकों की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी, किंतु इसकी दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादों से इतना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए है कि कोई कारण नहीं कि यह आखिरकार एक अलग वाद के रूप में स्वीकार न कर लिया जाय। संप्रति हिंदी के अधिकांश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं कर रहे। नवीन काव्ययुग के निर्माता स्वर्गीय प्रसादजी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के संबंध में वे लिखते हैं—"विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्यलहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"

अब, विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वत्रिक भी हो सकती है और एक-एक सुन्दर वस्तुगत भी हो सकती है। शम्भु अथवा आत्मा का शरीर सारा सृष्टिप्रसार ही है, इस दृष्टि से व्यक्त वस्तु-मात्र में सौंदर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नहीं, यहाँ व्यष्टि-भेद नहीं है। पुनः प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयत्न व्यष्टि सौंदर्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रसादजी ने व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया। किन्तु मैं इस अन्तर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योंकि इसने दो विशेष पृथक् पृथक् काव्यशैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौंदर्यबोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्यचेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्यबोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी यह प्रत्येक क्षण

रूढ़िबद्ध होने की सम्भावना रखती है। इसमें इन्द्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नहीं है। यह क़दम-क़दम पर धर्म के कठघरे में बन्द होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य में यह रहस्यवाद, बड़े-बड़े दुर्दिन देख चुका है। अपने अतिप्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इसकी अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुरूह है, किंतु कुछ सच्चे रहस्यवादियों ने कुछ अनोखे रास्ते निकाले भी तो उन पर चलनेवाले बहुत से झूठे रहस्यवादी नक़लनवीस निकल आये। उन्होंने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी प्रकृति को समाहित करनेवाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषयवासना का नंगा नाच बन कर रह गई। उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद संपूर्ण कर्तव्यों से हाथ समेटने का बहाना सिद्ध हुआ। योग और तंत्र-शास्त्रों की प्रकृति को आत्मा में लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व का साधन थी अनहोनी सिद्धियों और तामसिक उपचारों का दूसरा नाम बन गई। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सबलता का प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन-बसेरा' गा कर भीख माँगने वालों का ब्रह्मास्त्र बन गया। एक ओर तो यह नक़ली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढ़िबद्ध होकर रहस्यकाव्य विनय के पदों, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानों आदि में परिणत हो गया। अवश्य ही ईरान और फ़ारस के कुछ सूफ़ी कवियों और भारत के कुछ निर्गुनियों ने रहस्य काव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रक्खी किन्तु उनकी संख्या अँगुलियों पर गिने जाने के योग्य है। यह इतनी भी है, यह कम गौरव की बात नहीं क्योंकि हम कह चुके हैं कि रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उसकी काव्य-प्रक्रिया भी उतनी ही दुरूह और दुःसाध्य है।

रहस्यकाव्य की मुख्य परम्पराओं में हम नीचे लिखे भेदों की परिगणना कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति की ओर से आत्मसत्ता की ओर आगे बढ़ें तो इस गणना का क्रम इस प्रकार होगा—विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप, यह पहली सीढ़ी है। इसी के अंतर्गत सुख और दुख का सामंजस्य, जिसे प्रसादजी ने समरसता कहा है, आ जाता है। यहीं प्रसादजी की 'अपरोक्ष अनुभूति' भी है। महादेवी जी ने इसे छायावाद की सीमा में मानकर एक दूसरे ढङ्ग से कहा है—'छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओसबिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।' वास्तव में यह रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम है जिसमें भावना-बल से, 'एकोऽहं बहुस्याम्' को 'एकोऽहं' की ओर

प्रतिवर्तित करते हैं। सांसारिक सुख-दुःख, राग-विराग आदि जितने भी द्वंद्व हैं सब को एक ही चेतन से संबद्ध करने की यह प्रणाली रहस्यवाद के प्रथम सोपान पर मिलती है। इस सोपान पर हम महादेवी जी को नहीं पाते। यद्यपि अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विकास के सिलसिले में उन्होंने लिखा है कि 'पहले बाहर खिलनेवाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानों वह मेरे हृदय में ही खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी; फिर यह सुख-दुःख-मिश्रित अनुभूति ही चिंतन का विषय बनने लगी और अंत में अब मेरे मन में न जाने कैसे उस भीतर-बाहर में एक सामंजस्य ढूँढ लिया है, जिसने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है,' किन्तु महादेवी जी के काव्य में प्राकृतिक सुख-दुःख का अथवा उसके सामंजस्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रकृति के किसी भी दृश्य या मानव मनोभाव का आकलन उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर है। दृश्य प्रकृति में हिमालय पर ही उनकी एक रचना 'यामा' में देखने को मिली किन्तु वहाँ भी अन्तर्मुखी भावना ही उभर पाई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवी जी ने चेतना का प्रेरक न रखकर उन सब को एक-एक चेतन व्यक्तित्व-सा दे दिया है। उनकी पहली ही रचना में 'निशा की धो देता राकेश; चाँदनी में जब अलकें खोल; कली से कहता था मधुमास, बता दो मधुमदिरा का मोल', यद्यपि व्यक्त सौन्दर्य की भी झलक लिये हुए है किन्तु वहाँ वह गौण है और महादेवी जी की रचनाओं में उत्तरोत्तर गौण होता गया है। आगे चलकर सारी प्रकृति और उसके समस्त उपकरण एक निखिल वेदना की अनेक-रूप अभिव्यक्ति के लिए भाँति-भाँति की दौड़ लगाते हैं, जिसे हम इसी निबंध में देखेंगे। प्रकृति की परिपूर्ण छवि की आत्मरूप प्रतिष्ठा हमें वर्ड्सवर्थ में ही मिलती है। कुछ लोग हिन्दी में गुरुभक्तसिंह को वर्ड्सवर्थ का स्थानापन्न मानते हैं, किन्तु प्रकृति की आध्यात्मिकता की अनुभूति गुरुभक्तसिंह में हमें विशेष नहीं मिलती। एक-एक डाली, एक-एक लता, एक-एक पत्ती अथवा उद्भिज्ज को चेतन क्रियाशील उल्लेख कर देने से ही उनकी आध्यात्मिकता प्रकाश में नहीं आती। यह चेतन व्यक्तित्व देने (या 'पर्सानिफ़ाई' करने) की प्रकृति ही हासोन्मुख होकर 'चिड़ियों का विवाह' नामक ग्रामीण गीत में परिणत हो गई है जिसमें सब चिड़ियों को विवाह-सम्बन्धी एक-एक काम सिपुर्द किया गया है। समरसता (सुख-दुःख का आध्यात्मीकरण) और अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभूति का हिन्दी में सब से सुन्दर उदाहरण प्रसादजी का 'आँसू' काव्य है।

रहस्यवाद के इस सोपान से ऊपर उठने पर हम प्राकृत या अपरोक्ष अनुभूति को छोड़कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। महादेवी जी के काव्य की यही भूमि है। परोक्ष अनुभूति के भी कितने ही भेदोपभेद हैं जिन्हें दार्शनिक दृष्टि से तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—सगुण साकार, सगुण निराकार और निर्गुण निराकार। एक दिव्य व्यक्तित्व पर, वह प्रेममय हो, करुणामय हो अथवा शक्तिमय या आनन्दमय, आस्था रखनेवाले सगुण साकार के अनुयायी होते हैं। महादेवी जी की अधिकांश रचना का यही दार्शनिक आधार दीखता है। वे लिखती भी हैं—'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।' मधुरतम व्यक्तित्व की यह नियोजना महादेवी जी के काव्य में मौजूद है किन्तु उसके निकट आत्मनिवेदन करनेवाले बहुत से भक्त कवि हो गये हैं जिनका धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किन्तु जिन्हें रहस्यकाव्य का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवी जी ने अपने इस वक्तव्य में आवश्यक सतर्कता से काम नहीं लिया। यही नहीं, उन्होंने रूढ़िबद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्य काव्य का स्पष्ट अन्तर सदैव अपने सामने नहीं रक्खा है जिससे उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर प्रकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं।

सगुण साकार दार्शनिकता का सब से बड़ा खतरा यही है कि वह निःसीम सौंदर्यसत्ता का रहस्य खोकर सीमारेखाओं में आ जाता और वास्तविक परोक्ष अनुभूति-संपन्न काव्य का विषय न रहकर, धर्म और उपासना का आधार बन जाता है। सगुण दार्शनिकों और कवियों ने इस कठिनाई को ख़ूब अच्छी तरह समझा था। इसी लिए उन्होंने बचत के कई उपाय निकाले थे। प्रथम, उन्होंने उस मधुरतम व्यक्तित्व को अलौकिक सत्ता-सम्पन्न अंकित करने की चेष्टा की। इसके लिए दार्शनिकों को दिव्य सत्ता सम्बन्धी एक नई दार्शनिक प्रक्रिया ही चलानी पड़ी जिसमें उस दिव्य व्यक्तित्व के सभी उपकरणों, उसके नाम, रूप, लीला और धाम को तथा उससे संपृक्त वस्तुव्यापार को बार-बार अप्राकृत घोषित करना पड़ा। किन्तु काव्य अथवा कलाओं का काम केवल घोषणा से नहीं चलता। उन्हें ऐसी प्रतीक-योजना का सहारा लेना पड़ा जिससे वस्तुतः अलौकिक का आभास मिल सके। कवियों को उस मधुरतम चरित्र के निर्माण

में दिव्य सौंदर्यसृष्टि की अशेष कला समाप्त कर देने पर भी सीमा के अन्दर संतोष नहीं हुआ। उन्हें पद-पद पर उस व्यक्तित्व की महिमा का अलग से निर्देश करते रहना पड़ा, जिस पद्धति को हम 'श्रीमद्भागवत' और 'रामचरितमानस' में भी देखते हैं। फिर भी ससीमता और असीमता, साकारता और रहस्य में जो मौलिक अन्तर है उसकी पूर्ति नहीं हुई। फलतः सीता-राम और राधा-कृष्ण की पूर्ण परोक्ष अनुभूति काव्य के अन्दर नहीं हो सकी। तब रामायत कवियों ने रहस्य का पल्ला छोड़कर चरित्र की व्यक्त महत्ता के आग्रह द्वारा महाकाव्य की सृष्टि कर डाली और कृष्णायत कवियों ने प्रेम और सौंदर्य की अशेष तरंगिणी बहाकर राधाकृष्ण की जो चरितावली निर्माण की वह रोमांचक भावों से भर गई। किंतु रहस्यवाद के निकट होते हुए भी वह रहस्यकाव्य नहीं कहा जा सकता। अवश्य इस चरित्र के दो प्रधान प्रसंगों—रास और भ्रमरगीत में हम रहस्य काव्य के सारे लक्षण पाते हैं। रहस्य के क्षेत्र में वैष्णव कवियों की वास्तविक सफलता इन्हीं दो प्रसंगों को लेकर है।

जब उस मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन का क्रम आरंभ हुआ तब तो काव्य स्पष्टतः धार्मिक घेरे में आ गया। यहाँ मेरा मतलब उन विनयगीतों से है जिनका कृष्णकाव्य में भी प्राचुर्य है और जिनसे तुलसीदास जी की 'विनयपत्रिका' भरी हुई है। इस प्रकार के काव्य में प्रकृत रहस्यात्मक अनुभूतियों की टोह लगाना व्यर्थ श्रम है। मूर्त प्रतीकों में अलौकिक अमूर्त तत्त्व का साक्षात्कार करानेवाली समुन्नत रहस्य-कला उसमें हम नहीं पाते। यदि हममें पर्याप्त काव्य-भावना का विकास होता तो उन्हें उन्नत रहस्यकाव्य कहना हमने कभी का छोड़ दिया होता। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उनका आदर सदैव रहेगा, किंतु प्रकृत काव्य की दृष्टि से नहीं।

मेरा यह आशय नहीं है कि महादेवी जी ने 'मधुरतम व्यक्तित्व' की सृष्टि करके रहस्य की इतिश्री कर दी है और न मैं यही कह रहा हूँ कि उस के प्रति उनका आत्मनिवेदन भी धार्मिक कवियों के ही ढंग का है। प्रचुर कल्पनागुण के कारण महादेवीजी ने रहस्यात्मकता कभी खोई नहीं किंतु उनकी रचनाओं में भक्तों और निर्गुणियों की रूढ़ि भी कम नहीं मिलती। इसे हम आगे चलकर देखेंगे। इसका मुख्य कारण मधुरतम व्यक्तित्व की नियोजना और आत्मनिवेदन की परंपरागत प्रेरणा ही है। किंतु महादेवी जी के पास फिर से लौटने के पहले हम रहस्यवाद की शेष दोनों श्रेणियों को भी थोड़े में देख लें।

सगुण निराकार शैली सूफ़ियों की है। सच पूछिए तो परोक्ष रहस्यकाव्य का सच्चा स्वरूप हमें इन्हीं में मिलता है। प्राकृतिक प्रेम-प्रतीकों के भीतर परोक्ष प्रेम-सत्ता का

इतना प्रगाढ़ धाराबद्ध प्रवेश और पुनः-पुनः उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आलेख हम अन्यत्र कहाँ पाते हैं? अवश्य, जहाँ यह प्रेम कथानक का रूप धारण करता है, वहाँ वही कठिनाई सूफ़ियों के सामने भी आती है जो वैष्णव साकारोपासकों के सामने आई है। यहाँ सूफ़ियों ने कथा को सैद्धांतिक दृष्टि से रूपक मात्र घोषित किया है किंतु इससे समस्या सुलभ नहीं पाई। फलतः सूफ़ी आख्यानक काव्यों में रूपक की चिंता न कर, सारी वर्णना के भीतर अति मोहक प्राकृतिक सौंदर्य-तल्लीनता, प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्मविसर्जन और फिर भी उसकी दुष्प्राप्ति का संकट दिखाकर अव्यक्त प्रेम-रहस्य का इंगित किया गया है। इन कथानकों को रहस्यकाव्य कहने में फिर भी संकोच रह ही जाता है। यह स्पष्ट ही इसलिए कि कथा के सूत्र साद्यंत रहस्य की रक्षा नहीं कर सकते और यदि उन्हें रूपक मान लें तो सहज काव्य-सौंदर्य की हानि हो जाती है। इसी लिए कथानकोंवाले जायसी आदि कवियों को रूपक के स्वरूप की चिंता न कर सारे काव्य को, चाहे वह मायारूपिणी नागमती अथवा विद्यारूपिणी पद्मावती का प्रसंग हो, आत्मविसर्जनकारी अलौकिक प्रेम-पीर से आप्लुत कर देना पड़ा है। फिर भी कथा का चक्र स्थान-स्थान पर बाधक बन ही गया है।

कुछ समीक्षक इसी निराकार प्रेम-व्यंजना के भीतर, व्रज में विहरण करनेवाली, गिरिधर-मूर्ति की उपासिका, चिरंतन प्रेम और चिर-विरहमयी मीरा के काव्य को भी शुमार करते हैं किंतु ऐसा करने का हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता। जिन्होंने सूरदासजी के 'गोपीविलाप' और 'भ्रमरगीत' का अध्ययन किया है उन्हें मीरा को किसी निराकार कृष्ण की उपासिका बना देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। अवश्य मीरा एक नारी थीं और गिरिधर के प्रति उनका प्रियतम भाव था किंतु ऐसा ही भाव गोपियों का भी था जो निराकार की उपासिका नहीं थीं। स्वप्न में प्रियतम के दर्शन आदि के उल्लेख गोपियों के विरह-वर्णन में भी मिलते हैं और मीरा में भी। महादेवी जी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परंपरा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है। एक अखंड, अव्यय चेतन तत्त्व जिसमें त्रिकाल में भी कोई भेद किसी प्रकार सम्भव नहीं, जिस चिर स्थिर आत्मतत्त्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका-सी प्रतीति होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मित-तरंगों के लिए कोई अवकाश नहीं, रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है। इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और कहीं नहीं मिलते। आगे चलकर इसकी महामहिमा का क्षय होने लगा, इसमें विरह के कमजोर अंग जुड़ने लगे और क्रमशः यह वैराग्यमूलक करुण साधनाओं का अधिष्ठान

बना दिया गया। काव्य में जब तक इसका केवल सांकेतिक स्वरूप रहा तब तक यह अधिक विकृत नहीं हुआ था (उदाहरणार्थ आरम्भिक बौद्ध-साहित्य में) किंतु जब इसमें सांप्रदायिक शब्दावली प्रवेश करने लगी और इडा-पिंगला आदि की चर्चा बढ़ गई तब काव्यदृष्टि से इसका ह्रास होने लगा। कबीर की चमत्कार-पूर्ण प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के फलस्वरूप एक बार फिर यह अक्षर तत्त्व प्रकाश में आया किन्तु इस बार यह उतना ओजस्वी और महिमामय नहीं था। कारण, इस बार प्रतिस्पर्द्धिनी माया भी दलबल सहित उपस्थित थी। कबीर से आगे बढ़ने पर माया रानी की छाया भी काव्य में ज़ोर पकड़ने लगी और क्रमशः अक्षर की सत्ता असंख्यक्षरों की अन्तिम सीमा पर जा पहुँची। जहाँ आरम्भ में भेदों की अस्वीकृति इष्ट थी वहाँ अन्त में भेदों का प्राबल्य ही प्रमुख बन गया। ऐसी अवस्था में निश्चल अध्यात्मसत्ता अपने पूर्व गौरव में कैसे स्थिर रहती ?

ऊपर मैं प्रसंगवश कह चुका हूँ कि महादेवी जी के काव्य में छायावाद-युग की विशेषताएँ नहीं मिलतीं। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति 'पल्लव' वाले पंतजी का (इस प्रयोग के लिए क्षमा चाहता हूँ) सा विमोहक आकर्षण उनमें नहीं, इसके बदले वे प्रकृति के एक-एक रूप या उसकी एक-एक वृत्ति को साकार व्यक्तित्व देकर उनके व्यापारों की कल्पना करती हैं जिनमें उनकी समृद्ध कल्पना-शीलता प्रकट हुई है। अवश्य यह कल्पना-बाहुल्य ही छायावाद-युग की एक विशेषता उनके काव्य में दीखती है। किंतु वे कल्पनाएँ सब जगह सीधी और चोट करनेवाली नहीं हैं, उनका प्रत्यक्ष रूप सहज आँखों के सामने नहीं आता। कहीं-कहीं तो उन प्रतीकों का वह कल्पित व्यापार हमारे सौंदर्य-संस्कारों के प्रतिकूल पड़ जाता है और कहीं-कहीं वह इतना क्लिष्ट होता है कि हम ईप्सित सौंदर्य की झाँकी नहीं पा सकते। इन दोनों का एक-एक उदाहरण मैं देना चाहता हूँ—

रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली॥

यह प्रभात का दृश्य है। रजनी का झिलमिल तारों की जाली ओढ़कर जाना, बड़ी ही सरल और मार्मिक कल्पना है। किंतु उजियाली का रोना हम साधारणतः कहीं नहीं देखते ? वह प्रायः हँसती ही आती है। यहाँ हमें अपनी अभ्यस्त अनुभूतियों को दबाकर यह कल्पना करनी पड़ती है कि प्रभातकाल की नमी, अथवा ओस—आँसू के रूप में उजियाली रो रही है।

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण मैंने यह चुना है—

निश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वंदनवार॥
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार!
आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार॥

आकाश में रात्रि के समय अचानक बादल छा गये हैं और पानी बरसने लगा है। इसी अवस्था की कल्पना यह जान पड़ती है। अथवा यह रात्र्यंत की कल्पना है। रात्रि के मुक्तावलियों के अभिराम वंदनवार (तारिकापंक्ति), छिन्न होकर लुट गये हैं। निश्वासों का नीड़ उसका शयनागार बन गया है (इसका इतना ही अर्थ मेरी समझ में आ पाता है कि रात्रि दुःखपूर्ण निश्वास ले रही है)। तारे बुझ रहे हैं, बूँदें गिरने लगी हैं, वही मानों बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार और उसके आँसू हैं जिनके द्वारा यह लिखा जा रहा है, 'संसार कितना अस्थिर है!' कितनी कल्पना हमें ऊपर से करनी पड़ती है, कृपया विचार कीजिए! और अब भी मुझे निश्चय नहीं कि मेरा अर्थ ठीक ही है।

जिस क्षण को महादेवी जी की कल्पना ने पकड़ा है—तारों से हँसते हुए आकाश में सहसा मलिन बादलों का छा जाना, अथवा निशान्त में तारों का डूबना, वह काव्योपयुक्त और अति सुन्दर है, किन्तु क्या यही बात उनके इस चित्रण के सम्बन्ध में कही जा सकती है?

इसके दो कारण मुझे दीखते हैं। एक तो यह कि महादेवी जी की कविताएँ इतनी अन्तर्मुख हैं कि वे प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पंदनों, उनकी ध्वनियों और संकेतों से सुपरिचित नहीं; और दूसरा यह कि वे काव्य के एक-एक बन्द को एक-एक चित्र के रूप में सजाना चाहती हैं, जिसमें वस्तुओं और व्यापारों की योजना संश्लिष्ट हुआ करती है। और चूँकि वे मानसिक वृत्तियों और वातावरणों को भी उन्हीं वस्तु व्यापारों के द्वारा ध्वनित करना चाहती हैं, इसलिए यह कार्य उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है। उनके इन दीर्घ चित्रणों की तुलना अन्य प्रमुख छायावादियों से कीजिए तो अन्तर आप दीखेगा—

देख वसुधा का यौवन-भार, गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के-से मृदु उद्गार, कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास।
न जाने सौरभ के मिस कौन संदेशा मुझे भेजता मौन!

—सुमित्रानंदन पंत ('मौननिमंत्रण')

अथवा—

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल, पल्लवों में भर मृदुल हिलोर।
चूम कलियों के मुद्रित दल, पत्र-छिद्रों में गा निशि-भोर॥
विश्व के अन्तस्तल में चाह, जगा देती हो तड़ित-प्रवाह॥

—निराला ('स्मृति')

अवश्य ये चित्र अधिक हल्के और अनलंकृत हैं, इनमें सूक्ष्मतर रूपयोजना और भावव्यंजना की वह महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है, यह हम स्वीकार करेंगे, किन्तु तब हम महादेवी जी से कहेंगे कि वे अपनी उच्चतर कला-आकांक्षा के उपयुक्त सामग्री का भी संचय करें। यह कहना भी उचित न होगा कि जिस सूक्ष्मतर भावभूमि के चित्र महादेवी जी देती हैं उसमें अस्पष्टता अनिवार्य है। अस्पष्टता काव्य का कोई गुण नहीं है, यह चित्रण की दुर्बलता ही है। अस्पष्ट, छाया-भावों का चित्रण भी सुस्पष्ट, मोती के पानी जैसा भीतर से दमकता और नैसर्गिक होना चाहिए। काव्य की विशेषता तो इसी में है।

महादेवी जी ने भी जहाँ अलंकृत चित्रांकण छोड़कर सीधा रास्ता पकड़ा है, वहाँ बड़ी सजीव कविता का स्रोत बह चला है—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव-वीणा का टूटा तार।
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृङ्गार॥
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन।

और जहाँ वे कल्पना के अर्द्धस्फुट या दुरूह उपमानों को छोड़कर इसी सरलता के साथ रूपांकण भी करने लगी हैं (यद्यपि ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं) वहाँ उनके चित्र ख़ूब साफ़ आये हैं; जैसे—

जाग जाग सुकेशिनी री,

अनिल ने आ मृदुल हौले शिथिल वेणी-बंध खोले;
पर न तेरे पलक डोले। बिखरती अलकें झरे जाते
सुमन वर-वेषिनी री।

छाँह में अस्तित्व खोये, अश्रु से सब रंग धोये।
मंदप्रभ दीपक सँजोये, पंथ किस का देखती तू,
अलस स्वप्न निवेशिनी री!

पाठक देखेंगे कि यह सौन्दर्य-चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परम्परा में हम नहीं ले सकते। इनमें एक विलक्षण उदासीनता सात्त्विकता, शान्ति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चेतनता, चाञ्चल्य और चटक इनमें नहीं। महादेवीजी के काव्य की यह एक सार्वत्रिक विशेषता है।

किन्तु महादेवीजी की अधिकांश रचनाओं में ऊपर के-से भाव-सङ्केतक रूप-चित्र नहीं मिलते, भावों का चित्रण ही प्रधानतः मिलता है। मेरी अपनी दृष्टि से रूपचित्रण की सहायता बिना रहस्यवाद की काव्य-कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। जो स्वयं अदृश्य वस्तु है उसे अस्फुट उपमानों से व्यक्त करना, पाठकों को काव्य-रस से अंशतः वञ्चित ही रखना है। जैसे 'बेसुध पीड़ा' के सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ—

इसमें अतीत सुलझता अपने आँसू की लड़ियाँ
इसमें असीम गिनता है वे मधुमासों की घड़ियाँ

किन्तु इनकी गणना कहाँ तक की जाय, यह महादेवी जी की प्रधान काव्य-शैली ही है। तो भी इसके अन्दर कुछ उच्च कोटि की रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। जहाँ व्यक्त रूप किसी न किसी प्रकार आ गये हैं वहाँ रचना प्रायः सुन्दर हुई है—

किसी नक्षत्र-लोक से टूट,
विश्व के शतदल पर अज्ञात।
ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद,
तरल मोती-सा ले मृदु गात—

नाम से जीवन से अनजान,
कहो क्या परिचय दे नादान!

अथवा—

स्मित तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उसका कहाँ निर्माण!
अचल पलकों में जड़ी-सी तारिकाएँ दीन,
ढूँढतीं अपना पता विस्मित निमेषविहीन।

... ...

कौन तुम मेरे हृदय में?

कौन मेरी कसक में नित मधुरता भरता अलक्षित?
कौन प्यासे लोचनों में घुमड़ घिर झरता अपरिचित?

अनुसरण निश्वास मेरे कर रहे किसका निरन्तर ?
चूमने पदचिह्न किसके लौटते यह श्वास फिर-फिर ?

यह पिछला पद प्रसादजी के 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज ?' का स्मरण दिलाता है, यद्यपि महादेवी जी और प्रसादजी की रहस्यभावना में यह सुस्पष्ट अन्तर है कि महादेवी जी का झुकाव सदैव करुणा और भक्ति की ओर रहता है जब कि प्रसादजी प्रायः तादात्म्य (वही तू है) का सङ्केत करते हैं।

'मत अरुण घूँघट खोल री' और 'शृङ्गार कर ले री सजनि' रहस्यात्मक रूप-विन्यास के सुन्दर उदाहरण हैं।

'सांध्यगीत' में दार्शनिक एकाग्रता उच्चतर हो उठी है, किन्तु काव्य-उपादान उतनी ही मात्रा में समृद्ध नहीं हो पाया। इसी लिए सम्भवतः इन गीतों की रहस्यभावना ही प्रधान स्थान पा गई है, उपयुक्त रूपयोजना उन्हें नहीं मिल सकी। भावना का वैसा ही विकास होते हुए भी 'सांध्यगीत' में और महाकवि रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' में दो मुख्य अन्तर हैं। उनकी अजेय काव्यशक्ति कभी उनकी भावना का साथ नहीं छोड़ती। भावना की दौड़ में पिछड़ जाने पर ही काव्य को—

पंकज कली, पंकज कली
क्या तिमिर कह जाता करुण,
क्या मधुर दे जाती किरण !

जैसी अन्योक्ति पद्धति पकड़नी पड़ती है। यद्यपि यह अन्योक्ति ऊँचे दर्जे की है, किन्तु अन्योक्ति कितने ही ऊँचे दर्जे की हो, उसकी काव्य से भिन्न बौद्धिकता बिना खटके नहीं रह सकती। दूसरी बात यह है कि रवि बाबू की रचनाओं में कल्पना की जो एक-तानता, जो प्रसार, जो अटूट शृङ्खला मिलती है वह इन गीतों में उतनी नहीं। तो भी छोटे-छोटे टुकड़ों में अपने ढङ्ग की सफ़ाई और काफ़ी काम महादेवी जी के बहुत से गीतों में मिलता है।

प्रसाद के 'आँसू', निराला की 'स्मृति' जैसी उदात्त और एकतान कल्पना तथा 'पल्लव' का-सा सौंदर्योन्मेष महादेवी जी में नहीं है, किन्तु वेदना का विन्यास, उसकी वस्तुमत्ता ('आब्जेक्टिविटी') का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्रण, जितना महादेवी जी ने दिया है, उतना वे तीनों कवि नहीं दे सके हैं।

'सांध्यगीत' की पहली ही कविता में सांध्य-गगन और जीवन का बिंब-प्रतिबिंब

स्वरूप महादेवी जी के काव्य में चित्रांकण-कला का एक सफल उदाहरण है, भले ही प्रकृत भावोच्छ्वास का प्रवेश उसमें न हो।

मैंने ऊपर कहा है कि छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य-प्रतीकों को न लेकर महादेव जी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। इससे उनकी रचनाओं में वेदना की विवृत्ति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है किन्तु वे स्थल कहीं-कहीं अधिक दुरूह भी हो गये हैं। उदाहरण के लिए यह रचना लीजिए—

उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के आलिंगन में,
निश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती-सी, उजियाली की पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती-सी मलयानिल की अलकों में,
सूने मानस-मन्दिर में, सपनों की मुग्ध हँसी में,
आशा के आवाहन में, बीते की चित्रपटी में,
रजनी के अभिसारों में, नक्षत्रों के पहरों में,
ऊषा के उपहासों में, मुस्काती-सी लहरों में,
जो बिखर पड़े निर्जन में निर्भर सपनों की मोती,
मैं ढूँढ़ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योती।

लाक्षणिकता उसी हद तक काव्य में काम दे सकती है जिस हद तक वह उसके धारा-वाही सौन्दर्य में रोड़े न अटकाये। महादेवी जी के काव्य की जो भूमि है उसी भूमि की रचनाएँ कतिपय छायावादी कवियों की भी मिलती हैं, किन्तु उसकी व्यंजना व्यक्त सौंदर्य-प्रतीकों के और सीधी लाक्षणिकता के आधार पर होने के कारण स्पष्टतर हुई है। उदाहरणार्थ हम निरालाजी की ख्यातिप्राप्त रचना 'तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं चञ्चल गति सुरसरिता' को लें तो दोनों का अंतर साफ दिखाई देगा। हमारे कहने का मतलब यह नहीं कि महादेवी जी के ऐसे प्रयोग सर्वत्र दुरूह हो गये हैं, कहीं-कहीं वे अतिशय मार्मिक हैं। जैसे—

उन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल के झोकों में अपना उपहार लपेटे।
मैं सूने तट पर आई बिखरे उद्गार समेटे।

काले रजनी अञ्चल में लिपटी लहरें सोती थीं।
मधुमानस की बरसाती वारिदमाला रोती थी।

ये पंक्तियाँ हमें प्रसादजी के 'आँसू' की सुन्दर कड़ियों की याद दिलाती हैं। अवश्य प्रसादजी में सौंदर्य-संवेदन के दोनों स्वरूप 'आनंद' और 'वेदना' का एक सा-प्रसार मिलता है किन्तु महादेवीजी में उसके पिछले अंश की ही प्रधानता है।

अपनी इस एकपक्षिता के दो कारण महादेवी जी ने बताये हैं जो इस प्रकार हैं—'जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।' इसके अतिरिक्त 'बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।' इस दुःख के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती हुई वे लिखती हैं—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।'

इस स्पष्टीकरण में महादेवी जी ने सुख और दुःख के स्वरूप को अस्पष्ट ही रख छोड़ा है। उन्होंने दुःख के आध्यात्मिक स्वरूप और सुख के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर विचार किया है। किन्तु इसके विपरीत सुख का एक आध्यात्मिक और दुःख का भौतिक स्वरूप भी है जिसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। दुःख की तामसिक, राजसिक और सात्त्विक तीनों अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार सुख की भी। यह सब कुछ उस संवेदन पर अवलम्बित है जिससे सुख और दुःख का निःसरण होता है। महात्मा बुद्ध ने दुःखवाद को आध्यात्मिक अर्थ में लिया है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों ने 'आनंद' का आध्यात्मीकरण कर लिया है। इसलिए भौतिक आधार पर सुख और दुःख का जो व्यतिरेक (या 'कंट्रास्ट') महादेवी जी ने ऊपर दिखाया है, उसे मैं उनकी व्यक्तिगत सात्त्विकता का परिणाम मान सकता हूँ। उसे दार्शनिक सत्य या काव्य की कसौटी मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।

यह स्त्रियोचित सात्त्विकता भी महादेवी जी के काव्य की सार्वत्रिक विशेषता है। इससे उनके काव्य को एक सुन्दर कान्ति मिली है; यद्यपि कहीं-कहीं अति सरलता, सौन्दर्य स्पर्श से वंचित भी रह गई है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, महादेवी जी की वेदना

पहले व्यक्तिगत भावुकता अथवा रूढ़ि भक्तिभावना के रूप में रही है जो क्रमशः निखरती गई है। अब मैं इनके एक-एक उदाहरण दूँगा—

भावुकता का स्वरूप निम्नांकित 'फैंसी' में प्रकट हुआ है—

चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
कलियों के उच्छ्वास शून्य में तानें एक वितान,
तुहिन-कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान—
जहाँ सपने हों पहरेदार, अनोखा एक नया संसार।

रूढ़िगत भक्तिभावना मुझे वहाँ दीखती है जहाँ महादेवी जी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सत्ता को स्थूल उपास्य का रूप दे दिया है अथवा जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य का, जिसमें कवि-हृदय बिना मुग्ध हुए नहीं रहता, स्थान-स्थान पर प्रतिषेध किया है।

निराली कलकल में अभिराम, मिलाकर मोहक मादक गान।
छलकती लहरों में उद्दाम, छिपा अपना अस्फुट आह्वान।
न कर हे निर्झर भङ्ग समाधि, साधना है मेरा एकान्त।

किन्तु नीचे के पद्य में रूढ़िरहित आध्यात्मिक निरूपण है:—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन,
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन।
फूलों की मीठी चितवन, नभ की यह दीपावलियाँ,
पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियाँ।
विधु की चाँदी की थाली मादक मकरंद भरी-सी,
जिसमें उजियारी रातें लुटतीं घुलती मिसरी-सी।
भिक्षुक से फिर जाओगे जब लेकर यह अपना धन,
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का मँहगापन।

'न थे जब परिवर्तन दिन-रात, नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात' से आरम्भ होनेवाला पूरा गीत भी रूढ़ पद्धति पर बना है। किन्तु आगे चल कर जहाँ वेदना तप कर निखर उठी है, वहाँ रूढ़ि का लेश भी नहीं दीखता और काव्य ऊँचे धरातल पर आ पहुचा है। यहाँ वेदना ख़ूब सशक्त संवेदन की छटा लेकर आती है—

देव, अब वरदान कैसा?
वेध दो मेरा हृदय माला बनूँ, प्रतिकूल क्या है।
मैं तुम्हें पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है!

छीन सब मीठे दाग्गों को, इन अथक अन्वेषगों को।
आज लघुता ले मुझे दोगे निठुर प्रतिदान कैसा ?
जन्म से यह साथ हैं मैंने इन्हीं का प्यार जाना।
स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना !
इन्द्र-धनु से नित सजी-सी, विद्यु हीरक से जड़ी सी।
मैं भरी बदली रहूँ चिर मुक्ति का सम्मान कैसा ?

इस अवस्था की अनुभूतियों का वैविध्य और काव्य की मनोहारिता महादेवी जी में ऊँची श्रेणी की है। कोई भी छायावादी इतने अटल भाव से इस भूमि में स्थिर नहीं रह सका। इस भूमि की प्रदीप्त अनुभूतियों का ऐसा सङ्कलन नवीन युग का कोई हिन्दीकवि नहीं कर सका है। तो भी, हम कहेंगे कि महादेवी जी का काव्य व्यक्तिगत दुःख को सब जगह आध्यात्मिक उँचाई तक नहीं ले जा सका है।

महादेवी जी जिस नये क्षेत्र में जिस नवीन ढङ्ग से काम कर रही हैं, इससे उनकी कठिनाइयों का अनुमान हम कर सकते हैं। एक तो परोक्ष स्तर की निगूढ़ अनुभूतियों का संग्रह फिर उनका परिष्करण और उन्हें उपयुक्त व्यंजना देना, तीनों ही आयास-साध्य हैं। फिर महादेवी जी अपनी व्यंजना-शैली में भी एक नवीनता रखती हैं। ऐसी अवस्था में हमें आश्चर्य नहीं होता कि भाषा, तुकों और छन्दों के विन्यास की ओर वे पर्याप्त सतर्क नहीं हो सकीं। महादेवी जी की भाषा में हमें समृद्ध छायावादी चमत्कृति नहीं मिलती। तुकों के सम्बन्ध में भी काफी शिथिलता दीखती है छन्दों और गीतों में भी एकरूपता अधिक है। भावों को काव्याभिव्यंजना देने के सिलसिले में कहीं-कहीं सुन्दर कल्पनाओं के साथ ढीले प्रयोग एक पंक्ति के बाद दूसरी ही पंक्ति में मिल जाते हैं—

जिन नयनों की विपुल नीलिमा में मिलता नभ का आभास।
जिस मानस में डूब गये कितनी करुणा कितने तूफान।
जिन अधरों की मन्द हँसी थी नव अरुणोदय का उपमान।
किया दैव ने जिन प्राणों का केवल सुषमा से निर्माण।
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में।

जो तुम आ जाते एक बार
कितनी करुणा कितने सँदेस पथ में बिछ जाते बन पराग।

इन उद्धरणों की पहली पंक्तियाँ जितनी सुन्दर और काव्योपयुक्त हुई हैं, उतने ही प्रत्येक दूसरी पंक्ति के चिह्नित प्रयोग चिंत्य हो गये हैं। कई पंक्तियाँ शुष्क गद्य-सी प्रतीत होती हैं—

मैं मदिरा तू उसका ख़ुमार।
मैं छाया तू उसका अधार।

चल चितवन के दूत सुना उनके पल में रहस्य की बात।
मेरे निर्निमेष पलकों में मचा गये क्या-क्या उत्पात।
गये तब से कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण।
नहीं पर मैंने पाया सीख, तुम्हारा-सा मनमोहन गान॥

नीचे लिखी पंक्ति ध्वनि-शैथिल्य का एक उदाहरण है—

शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर झर।

'तुम बिन,' 'उन बिन,' जैसे प्रयोग अधिक नहीं अखरते और 'पथ बिन अन्त' भी चल जाता है। 'मैं न जानी,' 'मैं प्रिय पहचानी नहीं' जैसे व्याकरण असम्मत प्रयोग भी अप्रिय नहीं लगते। तो भी कहना पडता है कि महादेवी जी की रहस्यानुभूति जितनी समृद्ध है, उनकी काव्य-प्रतिभा उतनी ही उत्कृष्ट नहीं और भाषा-शक्ति भी सीमित है। किन्तु अभी महादेवी जी निरन्तर विकास के मार्ग पर बढ़ रही हैं, वे किस दिशा में कितना बढ़ेंगी यह अब तक अज्ञात है। इसलिए उनकी किसी भी विशेषता पर अन्तिम मुहर अभी नहीं लगाई जा सकती।

अब यहाँ मुझे उन मतदाताओं के समाधान में कुछ अन्तिम शब्द कहने होंगे जो महादेवी जी की अनुभूतियों पर काल्पनिकता का आरोप करते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि किस जगत् की बातें वे कर रही हैं और उनसे हमारा क्या सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं में से वे कुछ लोग भी हैं जो आधुनिक कोलाहल में व्यस्त होने के कारण या तो महादेवी जी के काव्यजगत् में पहुँच ही नहीं पाते, अथवा दो-चार चीज़ों की बानगी लेकर, शेष सब एकरूप ही हैं, कहने की जल्दबाज़ी करते हैं। इन सब को मेरा उत्तर यह है कि महादेवी जी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है जिस अर्थ में कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है; जिस अर्थ में 'गीतांजलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियों का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं, अथवा इनको भी एकरूप क्यों नहीं

ठहरा सकते ! यहाँ मैं उन महानुभावों का शुमार नहीं कर रहा जिनकी राय में रहस्यवाद किसी प्राचीन बर्बर युग की स्मृति है, मनुष्य की अविकसित बाल्यभावना की सृष्टि है और जो वैज्ञानिक विकास-सिद्धांत से बहुत दूर की चीज़ हो गई है। ऐसे लोग तो काव्याध्ययन के अधिकारी भी हैं, मैं नहीं मानता।

ऊपर मैंने प्रसंगवश 'मीरा' का नाम ले लिया है। साथ ही कुछ अन्य कवियों के नाम भी आये हैं जिनसे महादेवी जी की तुलना करने का मेरा मन्तव्य नहीं रहा, केवल काव्य की आधारभूमि मिलती-जुलती दिखानी थी। फिर भी अक्सर लोगों का आग्रह रहा है कि मीरा और महादेवी के काव्य की तुलना के सम्बन्ध में कुछ कहूँ। मेरा कहना यह है कि मीरा और महादेवी के काव्य का आधार बहुत अंशों में एक-सा है किंतु ये दोनों दो युगों की सृष्टियाँ हैं। अपने-अपने युगों के अनुरूप ही इन दोनों का काव्य-व्यक्तित्व है। मीरा का काव्य नैसर्गिक भावोद्रेक का नमूना है। वह अलौकिक प्रेम और विरह से भीगे हुए हृदय का उद्‌गार है। इसमें काव्यकला की बारीकियाँ हमें नहीं मिलतीं, मूर्तिमान विरह की तड़प और मिलन के स्पंदन सुन पड़ते हैं। प्रकृति और कल्पना की सहायता से भावों का चित्रण वे नहीं करने बैठीं। मध्ययुग के सभी समुन्नत कवियों की यह अप्रतिम नैसर्गिकता उनकी अपनी चीज़ है। उस तरह की चीज़ आज इस बौद्धिक विकास के युग में ढूँढ़ना दोनों युगों का अपमान करना है। महादेवी जी में भी अनुभूति की सचाई है और गहराई है किन्तु वे काव्यकला में सजकर आई हैं। मीरा अपने प्रियतम की खोज में राजमहल छोड़कर निकल आई थीं और उन्हें गृह-वन पुकारती फिरती थीं। उनका काव्य पुकार-साकार है। महादेवी जी की ध्वनि अधिक धीमी और अधिक सभ्य होनी समुचित ही है।

विशुद्ध काव्यदृष्टि से महादेवी मीरा की ऊँचाई पर कम ही पहुँचती हैं। काव्य-कला से सज्जित होने पर भी उनकी कविता में तीव्र नैसर्गिक उन्मेष नहीं, साथ ही उनमें एकाङ्गिता भी है। उक्त भावनाशिशु के लिए मुक्त आकाश में पक्षी की भाँति उड़कर चराचर जगत् की जो सौंदर्य-सामग्री, जो सहज आस्वाद्य फल, कविगण प्रस्तुत किया करते हैं, महादेवी जी में उसकी कमी है। भावना-शिशु का प्यार उन्हें अपना नीड़ छोड़ने नहीं देता। फलतः उनके काव्य में प्राकृतिक उपमानों का वैविध्य नहीं है। उनकी कविता कुछ अंशों में कोरी भावना-निष्ठा से, जो व्यक्तिगत है, विजड़ित है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं 'प्रसादजी' की दो पंक्तियाँ लेता हूँ। ये उनके 'चंद्रगुप्त' नाटक में आई हैं, विषय है देश-प्रेम का—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
... ...

लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।

कवि अपने मूल विषय को लेकर कितनी दूर चला गया है, व्यक्तिगत भाव के भार से कितना छूटा हुआ ! पक्षियों का अनुकूल पवन के सहारे, छोटे-छोटे इंद्रधनुषों के-से पंख पसारे, अपनी ईप्सित दिशा में नीडों की ओर उड़ना, और मेरा देश। (सुख, सौंदर्य और अपनेपन की व्यंजना) अनजान क्षितिज को कूल-किनारा मिलना—सहारा मिलना, और मेरा देश (आश्रय, दाक्षिण्य और औदार्य का भाव) ! और साथ ही क्षितिज को किनारा मिलने और पक्षियों के नीड़ की ओर उड़ने की मूर्तिमत्ता कितनी सहज, भव्य और हृदयग्राहिणी है। यह भावना तो है ही, किन्तु समुन्नत काव्य के वेष में। महादेवी जी की शक्ति भावना के विश्लेषण में है, प्राकृतिक रूपों और उपमानों द्वारा उसे व्यंजित करने में नहीं। बाह्यनिरपेक्षता और अंतरंगता जो महादेवी जी में एक सीमा तक बढ़ी हुई है, उनकी काव्यशक्ति को परिपूर्ण विकास नहीं दे रही है।

सभी उच्च कोटि के रहस्यवादी कवियों और स्वयं मीरा में भी भावना का प्राचुर्य उपयुक्त प्राकृतिक उपमाओं और कल्पनाओं के सहारे, काव्यात्मक परिच्छद में व्यक्त हुआ है। बल्कि हृदय के सूक्ष्म भावों की व्यंजना के लिए अन्य कवियों की अपेक्षा रहस्यवादी कवि को प्रकृति की—उसकी एक-एक भावभंगी, रूप रंग, गति अनुगति की—
और भी महीन परख रखनी पड़ती है; अन्यथा उसका काम नहीं चल सकता।

मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राही बनाता है और दूसरी ओर काव्य के विषय को विस्तीर्ण कर देता है। महादेवी के काव्य में वैराग्यभावना का प्राधान्य है। महात्मा बुद्ध की भाँति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में दुःख की मुद्रा नहीं मिलती) किन्तु बौद्ध-संन्यासियों और संन्यासिनियों सरीखी एक चिन्ता-मुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, शांति के प्रति एक अशांति महादेवी जी की कविता में सब जगह देखी जा सकती है। किन्तु इस कारण उनकी कविता में एकरूपता 'मोनोटनी' नहीं आई है; जैसा कुछ लोग आरोप करते हैं। उनमें प्रचुर वैभिन्य है।

आशा है मैंने दोनों का अन्तर यथासंभव थोड़े में स्पष्ट कर दिया है।

अब मैं अन्त में यह कहूँगा कि आधुनिक कवियों में महादेवी जी का क्या स्थान है, इसका निर्णय करना अभी हमारे लिए असामयिक होगा। इस युग के अग्रगण्य कवियों में संभवतः उनका स्थान सुरक्षित रहेगा (केवल इसलिए नहीं कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है, बल्कि उनके काव्यगुणों के कारण) किन्तु उनमें उन्हें कौन-सा विशेष पद प्राप्त होगा यह तो समय ही बता सकता है। मैं कह चुका हूँ कि उनका विकास अभी बन्द नहीं हुआ है।

श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

—:o:o:—

श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जिनकी यह नई रचना* पाठकों के हाथ में है, हिन्दी के प्रमुख ख्यातिप्राप्त कथाकार हैं। उनका परिचय कराने की आवश्यकता मुझे नहीं। वाजपेयीजी की कृतियों का गहरा प्रेमी मैं कभी नहीं रहा। मैं यह मानता हूँ कि व्यावहारिक समालोचना का मुख्य कार्य यही है कि वह प्रत्येक कृति का अपना सौंदर्य, जो कुछ उसमें है, उद्घाटित कर दे और इस दृष्टि से आलोचक अपने द्वारा उठाये हुए काम के दायरे में बँधा हुआ भी है। पर मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक समीक्षक अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रख सकता है। और इस हैसियत से वह अपनी रुचि के अनुसार अपना निजी वक्तव्य और सन्देश भी सुना सकता है। उसका यह दोहरा कार्यकलाप अथवा व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। एक में वह मुख्यतः साहित्य और कलाओं की विभिन्न कृतियों का अनुशीलन और विश्लेषण करता तथा उनके गुण-दोषों को सामने रखता है और दूसरे में वह अपनी रुचि या प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र होकर जो चाहता पढ़ता और जो चाहता लिखता है। किसी कृति की समीक्षा करते हुए तो उसे अपनी स्वतंत्र रुचि का विज्ञापन करने का अधिकार नहीं होता, पर अन्य समयों में वह ऐसा कर सकता है। कभी-कभी समीक्षक के इस दोहरे आचरण से भ्रान्ति भी फैलने की सम्भावना रहती है, किन्तु इस कारण वह अपनी स्वतंत्र अभिरुचि का समर्पण नहीं कर सकता। हाँ, किसी विशेष कला रचना की विवेचना करते समय उसे अपनी यह अभिरुचि काम में नहीं लानी चाहिए।

अस्तु मेरी व्यक्तिगत अभिरुचि ऐसी नहीं है कि मैं हठात् वाजपेयीजी की रचनाओं का पक्षपाती हो सकूँ। सच तो यह है कि वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं, असाधारण परिस्थितियों, ऐकान्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक निष्क्रियता और उद्देश्यहीनता का निरूपक है, चाहे वह साहित्यिक दृष्टि से कितना ही प्रशस्त और ललित क्यों न हो, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं। कला जब अपना लक्ष्य सूक्ष्म मानसिक प्रेरणा का चित्रण अथवा अनोखी स्थितियों और मनोदशाओं का प्रदर्शन बना लेती है, तब वह लोक-प्रिय न रहकर वैज्ञानिक और दुरूह बन जाती है। और जब कलाकार अपने युग की अथवा किसी अन्य

* 'ख़ाली बोतल'—कहानी-संग्रह

युग की किंकर्त्तव्यज्ञान-रहित, करुण और निष्प्राण सामाजिक चेष्टाओं और आदर्शों का खाका खींचने लगता है तब वह कला की दृष्टि से कितना ही समृद्ध क्यों न हो, मेरे विचार से सामूहिक अभ्युदय का क्षेत्र छोड़कर बड़ी हद तक इतिहास की सामग्री जुटाने लगता है। वह कितनी ही मार्मिक रीति से उस सामाजिक या सामूहिक अवसाद के विविध पहलुओं का चित्रण क्यों न करे अथवा दिवंगत आदर्शों और अभिलाषाओं के लिए (जो ऊपर से बड़ी सात्त्विक प्रतीत होती हैं किन्तु जिनका नवीन जीवन में लौटना न उपयोगी है, न सम्भव) अपनी कितनी ही कला-सामग्री क्यों न व्यय करे, मुझे विशेष रुचिकर नहीं। वे कलाकार जो निष्प्राण करुण को चित्रित करते हैं दो श्रेणियों में आ सकते हैं। एक वे जो निष्प्राण जीवन को चित्रित कर उसके प्रति विरक्ति का भाव भरते हैं और दूसरे वे जो उस बीते या बीतते जीवन के लिए आँसू बहाते और पाठकों को द्रवित करते हैं। इनमें से प्रथम तो बुद्धि-व्यवसायी और प्रगतिशील कलाकार होते है और दूसरे होते हैं केवल भावना या कामना को चित्रित करनेवाले। इनमें से कुछ तो बहुत ही समुन्नत कोटि के साहित्यकार हुए हैं जिनमें मैं गाल्सवर्दी, वेल्स, चेख़ब, सडरमैन, जोला और फ्लावर्ट आदि की गणना करूँगा। इनकी कलात्मक विशेषताएँ जग-जाहिर हैं और केवल कला की दृष्टि से इनकी अनेक रचनाएँ बिल्कुल बेजोड़ हैं। मानस के सूक्ष्म प्रेरक सूत्रों की इनकी पहचान और उनका उद्घाटन पाठक को स्तंभित कर देता है। वे कला को विज्ञान की अकाम्यता निःस्पृहता और वास्तविकता प्रदान करने में समर्थ हुए है, किन्तु मेरी व्यक्तिगत रुचि उनकी ओर अधिक नहीं है। उनकी अपेक्षा कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से चाहे हीन ही हों, पर टाल्सटाय और गोर्की, इब्सन और शा मुझे अधिक रुचते हैं। उनकी रचनाओं में निदारुण करुण नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविक ओजस्विता और प्रवाह हमें मिलते हैं। इनकी कला मनोविज्ञान के विश्लेषण में मुख्य रूप से प्रवृत्त नहीं है, मानव-जीवन के साहसी और सक्रिय स्वरूपों की अभिव्यक्ति करने में लगी है। वह परिपूर्ण कला जो अगति या शून्य का चित्रण करती है हमें उतनी नहीं भाती, जितनी वह अपूर्ण कला जो जीवन का जागृत कलरव हमारे कानों को सुनाती है। यह मेरी कमज़ोरी हो सकती है पर स्थिति कुछ ऐसी ही है।

इस व्यक्तिगत स्थिति का इज़हार करने के साथ ही मुझे कहना होगा कि वाजपेयी जी की रचनाओं की भूमि ऐकान्तिक है। कला के विकास के लिए यह भूमि बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। एक अवस्था विशेष, एक घटना विशेष, किसी मनुष्य विशेष अथवा उसकी मानसिक प्रवृत्ति विशेष को उसके आस-पास की चौहद्दी से अलग निकालकर और

फिर उस टुकड़े को असाधारण योग्यता के साथ सजाकर दर्शक या पाठक के सामने प्रस्तुत कर देना वाजपेयीजी की सिद्धहस्त कला का नमूना है, जो उनकी इन कहानियों में पाई जाती है। उनकी कहानियों की तुलना मुक्तक काव्य से की गई है जिसमें सोने के तौल जैसी सफ़ाई और राई-रत्ती तुली हुई डाँड़ी होती है। आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द नहीं होता। 'ख़ाली बोतल' संग्रह में इस कला का सब से सुन्दर उदाहरण पहली कहानी है जिसका शीर्षक पुस्तक का शीर्षक भी है। इसमें ख़ाली बोतल के प्रतीक एक व्यक्ति-विशेष का चित्रण किया गया है। उसके जीवन-सम्बन्धी एक विशेष प्रसंग की झाँकियाँ कहानी में दी गई हैं; किन्तु उतने ही से उसका सारा जीवन चित्र आँखों के सामने नाच जाता है। जैसा कि ज़रूरी था, यह ख़ाली बोतल कहानी के अन्त में फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गई है, जिसकी स्पष्ट ध्वनि यह है कि उस व्यक्ति का क्रिया-कलाप समाप्त हो गया है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन, चुस्ती और कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से यह कहानी निश्चय ही बहुत ऊँचा स्थान रखती है।

यह कहानी समाप्त होते हुए उच्चवर्गीय संस्कारों और मनोभावों का निरूपण करती है। कहानी का उद्देश्य इन मनोभावों की व्यर्थता को चित्रित करना है और इस दृष्टि से कहानी का बहुत ही उपयुक्त अन्त हुआ है। उच्च वर्गों की वर्तमान अगतिपूर्ण मनोभावना इसमें स्पष्ट हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि लेखक का उद्देश्य इन मनोभावों का उपहास करना भी हो। वह तो उनका चित्रण करके ही अपने कर्तव्य की पूर्ति कर लेता है।

क्या इन कहानियों को हम 'मानवता के चीत्कार की कहानियाँ' कह सकते हैं (यह उपशीर्षक पुस्तक के प्रारम्भ में पाया जाता है)? मेरी अपनी धारणा यह है कि इनमें व्यक्तिगत दुःखों का चित्रण होते हुए भी मानवता का चीत्कार इन्हें नहीं कहा जा सकता। अवश्य इन कहानियों में कुछ ऐसे आदर्शों का भी निरूपण है जिनमें त्याग और कष्ट-सहन की भावना उभर कर सामने आई है। उदाहरण के लिए 'अँधेरी रात' कहानी में वेश्या के जीवन की एक साधना प्रदर्शित की गई है और 'मैना' तथा 'हार-जीत' और 'ट्रेन पर' कहनियों में कुछ आदर्शों के लिए किये गये त्याग की झलक दिखाई गई है; किन्तु इस आदर्शवादी त्याग के लिए 'मानवता का चीत्कार' शब्द व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। इससे त्याग की महिमा घट जाती है। न इन्हें हम जागरण की कहानी कह सकते हैं। वास्तव में ये एक विशृङ्खल सामाजिक व्यवस्था के युग में रहने वाले व्यक्तियों के अनुताप और किंकर्तव्यता की कहानियाँ हैं और कला की

दृष्टि से बहुत ही सुडौल कृतियाँ हैं। इनकी विशेषता वर्तमान स्थिति के वैषम्य के प्रदर्शन में है। यह आवश्यक नहीं कि कलाकार सदैव 'चीत्कार अथवा जागरण' की कहानियों का ही निर्माण करे। न यही आवश्यक है कि वह इस वैषम्य के भीतर से उद्धार का कोई मार्ग भी खोल निकाले। वैषम्य और दुरवस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण वह कर सका है, यही उसकी कला की सफलता और कृतकार्यता है।

ह्रासोन्मुख जीवन के निरूपक कलाकार अपनी रचनाओं में अधिकतर वस्तु-वादी कलाशैली को अपनाते हैं और सूक्ष्म मानसिक विवृत्ति द्वारा ही उस जीवन की करुणापूर्ण अगति का चित्र उपस्थित करते हैं। उनका लक्ष्य होता है उक्त अगति का नंगा चित्र प्रस्तुत करना ताकि पाठक उस विषम स्थिति का साक्षात्कार कर लें और तब उनके मन में प्रतिक्रिया जन्म ले। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अगति के सभी चित्रकार वस्तुवादी ही हों। वे आदर्शप्रवण भी हो सकते हैं; जैसा कि वाजपेयी जी अपनी कतिपय कहानियों में हैं। उदाहरण के लिए 'अँधेरी रात' कहानी में नायिका कजली, जो वेश्या का व्यवसाय करती है, अपनी शारीरिक पवित्रता की रक्षा कितने असाधारण कष्ट झेलकर करती है यह उसी के शब्दों में प्रकट करना ठीक होगा—

'सिर से पैर तक वस्त्रहीन होकर तब कजली बोली—जो अपराध तुमने मुझ पर लगाये हैं, उनकी सफ़ाई मेरे बदन भर में पड़ी हुई इन काली, नीली, मिटी और बनी रेखाओं से पूछो, घावों के निशानों और जली हुई खाल की सफ़ेदी से पूछो। रो मैं सकती नहीं, नहीं तो आँसुओं से भी बहुत कुछ बतला सकती थी। था कभी आँसुओं का सोता, लेकिन अब वह सूख चुका है। इतने पर भी अगर विश्वास न हो तो पुलिस के पुराने काग़ज़ों में दर्ज आत्मघात के मेरे प्रयत्नों से पूछ देखो।'

यह आदर्शवाद भी घोर विवशता का परिचायक है। यह उद्धार का कोई मार्ग नहीं है। अंधकार को प्रगाढ़ करने में ही यह सहायक हुआ है।

ऐसी कलापूर्ण और निराशामयी स्थितियों के चित्रकार कभी-कभी स्वयं अपने चित्रों से विचलित हो जाते और अपनी तटस्थता अथवा अनासक्ति का त्याग कर स्वयं निराशामूलक भाग्यवादी दर्शन के अनुयायी हो जाते हैं। वे अपनी उस प्रारम्भिक स्थिति को भूल जाते हैं जब वे चित्रकार मात्र थे और कला की दृष्टि से अपना व्यवसाय कर रहे थे। अपनी कोमल प्रवृत्ति और भावुकता के वश होकर वे उन चित्रों में जीवन का आदर्श देखने लगते हैं। किन्तु वे चित्र तो हैं अगति के आदर्श, उन्हें प्रगति का आदर्श कैसे बनाया जा सकता है! यहीं से कलाकार ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रण

छोड़कर ह्रासोन्मुख कला की सृष्टि करने लगता है। वह समय के प्रवाह में बह चलता है और अपना असली उद्देश्य छोड़ बैठता है। तब तो वह विवेक का त्याग कर लिप्सा और ख़ुमारी का शिकार हो जाता और अगति में ही प्रगति की कल्पना करने लगता है। किन्तु सभी बड़े कलाकार इस खाईं से ख़ूब सावधान और सतर्क रहा करते हैं। वाजपेयीजी कई बार उस सीमा से इस सीमा में प्रवेश कर जाते रहे हैं; किन्तु यह अतिक्रमण क्रमशः कम होता जा रहा है और इन नई कहानियों में बहुत कुछ विरल है।

ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रकार अपना क्या संदेश सुनाये? वह लम्बे-चौड़े आदर्शों का हवाला नहीं दे सकता, हिंसा-अहिंसा पर प्रवचन नहीं कर सकता। सभा-सोसाइटियों में मसीहा और दार्शनिक बनने का दम वह नहीं भरा करता। यह स्पष्ट ही है इसलिए कि किसी गौरवपूर्ण आदर्शवाद या प्रगतिशीलता से उसका सम्बन्ध नहीं। वह संप्रति जिस नकारात्मक उद्योग में लगा हुआ है उसमें किसी प्रत्यक्ष ऊँचे उद्देश्य की दुहाई नहीं दे सकता। उसकी स्थिति उस डाक्टर की-सी है जो आपरेशन का ही काम करता है। यह कोई आकर्षक या लोकरंजक काम नहीं कि भीड़ उसके पास जमा हो। आपरेशन वह करता है, लोगों में प्रेम की अपेक्षा भय की भावना बढ़ाता है और फिर भी किसी के सामने खुलकर वह नहीं कह सकता कि उसका मरीज़ चंगा ही हो जायगा। वह कुछ कहे या न कहे; किन्तु क्या इस बात में संदेह है कि वह लोक-हितैषणा के कार्य में ही लगा हुआ है।

हमारे कतिपय कहानी-लेखक अध्यात्मवादी और अहिंसाव्रती हैं; उनकी रचनाओं में अहिंसा का पूर्ण परिष्कार चाहे न आया हो, पर अपना संदेश वे सुना सकते हैं। कुछ अन्य कथाकार जो शोषित के सहायक और निपीड़ित के पक्षपाती हैं, अपना लोक-मोहक व्याख्यान जारी रख सकते हैं। उनमें से कुछ तो अपनी पूर्ववर्ती कलाकृतियों का केवल इसलिए उपहास करते हैं कि उनमें सहानुभूतिशील मध्यवर्ग के चित्रण मिलते हैं। कुछ अन्य हैं जो स्वातंत्र्य के सीमाविस्तार को ऐन्द्रिय-लिप्सा के सीमाविस्तार का समानार्थी समझते हैं और लारेन्स और रोमानाफ़ और न जाने अन्य कितनों की दुहाई देकर साहित्य को अनाकाङ्क्षित गन्दगी का अड्डा बना रहे हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि यूरोप में किन स्थितियों की प्रतिक्रिया लारेन्स आदि के द्वारा व्यक्त हुई है और भारत में उस स्थिति का अस्तित्व भी है या नहीं। अन्तिम श्रेणी उन कथाकारों की है जो शुष्क तर्क या सिद्धान्त स्थापन के लिये कहानियाँ गढ़ते हैं किन्तु उनमें कला की विश्वसनीयतता,

निर्माण की कुशलता नाम मात्र को ही आ पाती है। इन वाचाल वर्गों के बीच वाजपेयीजी चुपचाप काम कर रहे हैं। वे अपनी पुस्तक की प्रस्तावना भी स्वतः नहीं लिखते।

वाजपेयीजी की शैली व्यंग्यात्मक नहीं है, यद्यपि जीवन के व्यंग्य को वे काफी बेरहमी के साथ चित्रित करते हैं। उनका चित्रण-क्रम पूर्ण तटस्थता लिये हुए नहीं है और अक्सर यह शङ्का उत्पन्न करता है कि रचनाकार की व्यक्तिगत सहानुभूति भी अस्तव्यस्त जीवन की अस्तव्यस्त प्रवृत्तियों के प्रति है। इसी भ्रम के कारण कतिपय व्यक्तियों ने यह शिकायत की है कि वाजपेयीजी किसी समुन्नत भावना से प्रेरित होकर साहित्य-सृष्टि नहीं कर रहे, केवल ओछे ढङ्ग की बंगाली भावुकता के हिन्दी प्रतिनिधि हैं। वस्तुवादी कलाकार की स्थिति इस दृष्टि से बड़ी संकटपूर्ण होती है। वह ह्रासशील वर्गों की शिथिल और निरुद्देश्य प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करने को बाध्य है। ओछी भावुकता भी उनमें से एक प्रवृत्ति है। अब यदि कलाकार पर्य्याप्त सचेष्ट नहीं है तो बहुधा इस आरोप की संभावना रहेगी कि वह स्वयं उन विकृतियों से आक्रान्त है। फिर जब रचनाकार स्वयं इस प्रकार का वाक्छल अपने उपहार-पत्र में जाने दे कि 'आप मादकता से बहुत घबराते हैं पर मैं तो जीवन को भी एक नशा मानता हूँ तब भ्रान्ति का और भी बढ़ जाना स्वाभाविक है पर असल में यह दिखावटी नशा है, ख़ाली बोतल है। इसकी परीक्षा के लिए कई व्यावहारिक तरीक़े काम में लाये जा सकते हैं—

१—लेखक ने कहीं किसी पात्र को नशे में बुत बनाकर अश्लीलता की सीमा तो नहीं पार कराई ?

२—उसने नशे की स्थापना आदर्श रूप में की है या वस्तु के रूप में; उसका गुणगान किया है अथवा केवल चित्रण ?

३—उसने नशे को सुखान्त या दुःखान्त चित्रित किया है।

यहाँ नशे से मेरा मतलब समाज की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों से है। वाजपेयीजी ने कहीं ऐसी प्रवृत्तियों को आदर्श या सुखहेतुक मानकर चित्रित नहीं किया। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ दुःखान्त हैं जो ऐसे चित्रणों की स्वाभाविक परिणति होनी चाहिए। वाजपेयीजी इन सभी कसौटियों में खरे उतरते हैं। उनका लक्ष्य वस्तून्मुखी कला का निर्माण है। इस कार्य में वे क्रमशः अधिकाधिक सफल हो रहे हैं। समीक्षकों को उनके कार्य की कठिनाई समझनी चाहिए। आक्षेप करना बड़ा सरल धंधा है, पर कला की रचना करना कठिन कार्य है; विशेषतः वस्तून्मुखी कला की रचना करना—और

वह भी जब वस्तु रमणीक और उदात्त नहीं, बल्कि उसके विपरीत है—आग के साथ खेलना है। समीक्षकों को यह कला सावधानी के साथ परखनी चाहिए।

रोमांटिक कल्पनाओं की वाजपेयीजी की कथाओं में कमी नहीं है; पर चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य का उद्घाटन उनकी नवीन आख्यायिकाओं में प्रधानता पाता जा रहा है। दुःख और कष्टसहन उनके मुख्य आकर्षण हैं। उनकी कथाओं के निर्माण में इन्हीं दोनों का प्रधान स्थान है। असाधारणता की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दुःख और कष्ट-सहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज में से चुनते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जो दुःखान्त नाटक 'सर्वहारा' समाज द्वारा खेला जा रहा है; वाजपेयीजी ने अभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। अभी वे उच्च और मध्यम वर्ग की सामाजिक विश्रृङ्खला को ही दिखा रहे हैं। असल में यह भी नवीन सांस्कृतिक उत्थान का ही सहायक कला-आन्दोलन है, यदि यह विवेकपूर्वक चलाया जाय। विवेक से मेरा मतलब यह है कि लेखक अपना मूल उद्देश्य भूले नहीं कि उसे अपनी कलाकृति द्वारा पाठक की संवेदना सम्यक् रूप से जगाकर सम्यक् दिशा में लगानी है। दूसरे शब्दों में यह कि वह आत्म-विस्मृत न हो जाय।

वाजपेयीजी का विवेक पर्याप्त परिपुष्ट है और जहाँ तक निर्माण की सुघरता का प्रश्न है, हिन्दी कथा-साहित्य में निश्चय ही वे सब से आगे हैं।

श्री० जैनेन्द्रकुमार

—:*:—

श्री० जैनेन्द्रकुमार से मेरा परिचय नया नहीं है। वह तब का है जब उनकी सिर्फ दो-चार कहानियाँ हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। मैं भी उन दिनों नया-नया एम० ए० पास करके काशी विश्वविद्यालय में 'रिसर्च' कर रहा था। नई-नई भावनाओं और आदर्शों का मुझ पर आधिपत्य था। ज्योंही मैंने जैनेन्द्र में एक नवीनता देखी, उन्हें प्रशंसात्मक पत्र लिखा। पत्र लिखने की देर न थी कि जैनेन्द्रजी मेरे पास काशी आ पहुँचे। हम दोनों समवयस्क-से थे, देखते-ही-देखते हमारी मैत्री प्रगाढ़ हो चली।

विश्लेषण की प्रवृत्ति उस समय भी कुछ मुझ में थी। मुझे जैनेन्द्र में एक प्रकार की धार्मिक आदर्शवादिता दिखाई दी। व्यक्त घटना की अपेक्षा अव्यक्त भावना की गहराई में उतरना और उसे स्पर्श करना इसी की द्योतक थी। पात्र और विशेषकर कहानियों के नायक एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से परिचालित थे जिसमें शरीर और मन को मोड़नेवाली, उन्हें पराजित कर सकनेवाली, कोई सत्ता नहीं है। शरीर और मन, घटना और व्यावहारिक परिस्थिति, सभी अजेय आत्मा द्वारा अनुशासित हैं। यही आदर्शवाद मुझे उनकी आरम्भिक कहानियों में दिखाई दिया।

जगत् की व्यक्त द्विधात्मकता, उसके सुख-दुःख, मान-अपमान, सफलता-असफलता की तह में एक अडिग, अजेय आत्मशक्ति के प्रदर्शन को मैं कल्पना के राज्य में रहना या जीवन से भागना (escapism) नहीं मानता। शर्त यह है कि आत्मशक्ति का प्रदर्शन वास्तविक हो। दूसरों के अनुभव में भी वह आ सके। यदि किसी ने उस सत्ता की सुदृढ़ प्रतिष्ठा कर दी है तो मेरे लिए यह भी कोई विशेष बात नहीं है कि वह सत्ता प्रवृत्तिमुखी है या निवृत्तिमुखी। सांसारिक धर्मों या संघर्षों के बीच दिखाई देती है—अथवा उनसे खिंची हुई। मेरे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि उस आदर्श की स्वस्थ अनुभूति लेखक को हुई है और वह पाठक तक पहुँच सकी है, या नहीं!

इस आदर्शवाद के साथ जैनेन्द्रकुमार में सामयिक, सामाजिक नवनिर्माण की ओर भी पूरा झुकाव दिखाई दिया। इस विषय में जैनेन्द्रकुमार महात्मा गान्धी के अनुयायी हैं।

वे न तो भौतिक विज्ञानवाद और उनके नुस्खों को आँख मूँद कर चाट जानेवाले प्रगतिवादी हैं, और न 'हाय पैसा-हाय पैसा' की रट लगा कर आसमान उठा लेनेवाले पैसावादी। वे मनुष्य की सद्वृत्तियों और आध्यात्मिक संभावनाओं को जाग्रत करनेवाले लेखक हैं। यही कारण है कि जो केवल पश्चिम के सामाजिक प्रयोगों और उपचारों तक ही सीमित रहना चाहते हैं उन्हें जैनेन्द्रकुमार द्वारा नियोजित पुरानी संयमवादी प्रथा प्रतिक्रियात्मक जान पड़ती है। साथ ही उनकी समझ में नहीं आता कि जारज पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना पर कोई माता आत्मग्लानि क्यों करती है, वह उस पुत्र को अपनाकर निर्भीक भाव से उसे समाज के सामने प्रदर्शित करने से डरती क्यों है? यह अति निर्भीकतावाद जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं है, किन्तु इसके बदले एक पवित्रतावादी दृष्टिकोण और सिद्धान्तों के लिए कष्ट-सहन की असाधारण क्षमता उनके कितने ही पात्रों में देखी जाती है।

यद्यपि जैनेन्द्रकुमार आध्यात्मिक दर्शन के अनुयायी हैं, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि वे अपने विचारों में पुराण-पंथी या रूढ़िवादी है। भौतिक-विज्ञान को, अथवा यह कहें कि उसकी वर्तमान विधियों को, वे सर्व-श्रेष्ठ सत्य नहीं मानते, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे दुनिया की व्यावहारिक समस्याओं की ओर से उदासीन हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों के सम्बन्ध में मेरा आक्षेप प्रगतिवादियों जैसा नहीं है। वह बिल्कुल ही दूसरे ढङ्ग का है। मेरी यह शिकायत नहीं है कि जैनेन्द्रकुमार अध्यात्मवादी और पवित्रतावादी अव्यावहारिक दृष्टि रखते हैं; मेरी शिकायत तो यह है कि यह अध्यात्मवादी और पवित्रतावादी दृष्टि जैनेन्द्र में पर्याप्त परिपुष्ट नहीं हो पाई। उनके उपन्यासों को पढ़ने पर एक अनाकांक्षित शृङ्गारिकता की अन्तर्धारा हमें दिखाई देती है। कठिनाई यह है कि यह कृत्रिम भावात्मकता का लबादा ओढ़कर आती है और ऊपर से विशुद्ध-सी वस्तु जान पड़ती है। पर यह वास्तव में विशुद्ध है नहीं। उदाहरण के लिए 'परख' के पात्रों को लीजिए। सत्यधन कट्टो को पढ़ा रहे हैं। पढ़ाते-पढ़ाते उसकी पुस्तक पर एक वाक्य लिख देते हैं जिसमें उक्त विद्यार्थिनी के लिए प्रशंसा के शब्द हैं। ऊपर से यह एक निर्दोष-सी घटना या चेष्टा मालूम देती है, पर यह पूरा प्रसंग सत्यधन और कट्टो दोनों की मलिन अन्तर्चेष्टाओं का द्योतक है।

सुनीता और हरिप्रसन्न के पारस्परिक व्यवहारों में आदि से अन्त तक एक विचित्र झिझक, गोपनीयता या छिपावट की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक अस्वस्थ-सा सम्बन्ध दोनों का मालूम देता है जो 'भाभी' या ऐसे अन्य शब्दों की आड़ में भी छिपता नहीं।

इसी कारण सुनीता और हरिप्रसन्न के चरित्रों में एक अजीब रहस्यात्मकता आ गई है जो इसी दुराव अथवा छिपाव का परिणाम है। इसे कोई आध्यात्मिक, उच्च मनोभावना भूलकर कभी नहीं समझा जा सकता।

'सुनीता' के प्रकाशकीय वक्तव्य में मैंने पढ़ा था कि इसके पात्र दिव्य, स्वर्गीय अथवा अलौकिक आचरण वाले हैं। किन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुनीता के पात्रों की असाधारणता केवल एक आवरण के कारण है; वह आवरण है एक अस्पष्ट भावात्मकता और गोपनीयता का। मैं उसे सच्चा आदर्शवाद नहीं कह सकता।

मुझे स्मरण है, एक बार जब मैं राजपूताने से देहली होकर घर लौट रहा था, जैनेन्द्रजी से मेरी मुलाक़ात हुई थी। उन्होंने सुनीता पर मेरी सम्मति माँगी थी। मैंने उनसे कहा था कि यह तो मुझे एक 'माडर्निस्ट' या अधुनातन रचना मालूम देती है, यद्यपि इसे पोशाक पुरानी पहनाई गई है। मेरा मतलब यह था कि यद्यपि सुनीता, हरिप्रसन्न, श्रीकान्त आदि सभी मुख्य पात्र एक ऊँचे उद्देश्य को लेकर एक उच्च मानसिक भूमि पर व्यवहार करते दीखते हैं किन्तु सच्ची चारित्रिक उच्चता और उदात्त मनः-स्थिति उनमें है नहीं। जैनेन्द्रजी में उपन्यासों के सम्बन्ध में यह मेरी प्रथम और मुख्य शिकायत है।

मेरी दूसरी शिकायत यह है कि जैनेन्द्रजी अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके जीवन के सुख-दुःख को सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं। इससे होता यह है कि उनके पात्र एक बड़ी हद तक रहस्यवादी बने रहते हैं और उपन्यास उनके प्रति आकांक्षित सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर पाता। सच पूछिए तो उन पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती। यह अस्पष्टता यों तो उनके प्रायः सभी उपन्यासों में है पर 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में इतनी बढ़ी हुई है कि पाठक किसी निर्णय पर पहुँच ही नहीं पाता।

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल यामिनी को लीजिए—विवाह के पूर्व उसकी थोड़ी-सी झाँकी दी गई है, पर वह एकदम अनिर्णयात्मक है। यह समझ में नहीं आता कि मृणाल आख़िर चाहती क्या है? क्या वह विवाह न कर अपने भतीजे के साथ ही रहने को उत्सुक है? विवाह के समय केवल इतना आभास दिया जाता है—मृणाल इस बेजोड़ विवाह में प्रसन्न नहीं है। पर विवाह हो जाने पर वह राज़ी हो जाती है और 'सनातन धर्म' के अनुसार पतिदेव की परिचर्या करती रहती है। पतिदेव का

दुर्व्यवहार बहुत ही स्पष्ट है, पर मृणाल पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है यह स्पष्ट नहीं होता। अचानक वह एक तीसरे आदमी के साथ पाई जाती है। इस आदमी से उसे क्या सुख मिलने को है यह वह अच्छी तरह जानती है, फिर भी उसका साथ तब तक नहीं छोड़ती जब तक वह स्वयं उसे छोड़कर नहीं चला जाता। इसके पश्चात् मृणाल के दुःख बढ़ते ही जाते हैं और वह ठोकरें खाती हुई ऐसे गन्दे स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ मनुष्य रह नहीं सकता। फलतः वहीं उसका देहावसान हो जाता है।

इस सम्पूर्ण दुर्घटना के बीच मृणाल की उसके भतीजे से (जिसे वह बहुत प्यार करती है) कई बार भेंट होती है और वह कई बार उससे घर चलने का आग्रह भी करता है, पर यहाँ मृणाल एक ऐसे सिद्धान्त से बँधी दिखाई देती है कि वह अब अपने माँ-बाप, भाई-भतीजे के घर जा ही नहीं सकती।

अवश्य यह उपन्यास हममें मृणाल के दुःखों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है, (दुःख के प्रति स्वभावतः सहानुभूति होती ही है), पर हम यह नहीं जान पाते कि मृणाल वास्तव में चाहती क्या है और किस प्रकार उसका दुःख दूर हो सकेगा? फल यह होता है कि हमारी सहानुभूति कोई सुदृढ़ आधार नहीं पाती और वह अनिश्चित, अनिर्दिष्ट-सी बनी रहती है।

यदि मृणाल का व्यक्तित्व सुस्पष्ट होता, यदि हम उसके दुःखों और कष्टों के स्वरूप तथा उसके कारणों को ठीक-ठीक समझ पाते तो निश्चय ही यह उपन्यास अब की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली हो जाता।

'कल्याणी' के साथ भी यही कठिनाई है। उसका चरित्र आरम्भ से ही संदेहास्पद बना दिया गया है। विलायत से लौटने पर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रवाद फैलाये गये हैं। उपन्यास में आगे चलकर यह तो मालूम होता है कि वे प्रवाद निराधार या असत्य थे पर यह नहीं मालूम पड़ता कि कल्याणी के मन में पश्चात्ताप किस बात का है? वह अपने पति की भर्त्सना और उसकी डाट-डपट, मार-फटकार को हँसी-ख़ुशी क्यों स्वीकार करती है? क्या उसका गर्भगत पुत्र सचमुच पति से भिन्न किसी व्यक्ति का है? इस प्रश्न के उत्तर में उपन्यास शुरू से लेकर आख़िर तक मौन है। अथवा अधिक-से-अधिक एक अन्धकारपूर्ण रहस्य में यह प्रश्न पड़ा हुआ है।

कल्याणी के चरित्र को हम स्वस्थ चरित्र नहीं कह सकते। वह क्रान्तिकारियों को आश्रय देती है। हमारे जैनेन्द्रजी के लिए 'भारती तपोवन' बनवाने को आमादा हो जाती और कांग्रेसी प्रधान मन्त्री से उपयुक्त साहाय्य न मिलने पर भला-बुरा भी बहुत

कुछ कह उठती है, पर कुल मिलाकर वह एक अतिभावुकता से ग्रस्त महिला है जो दिन-रात पूजा-पाठ में ही व्यस्त नहीं रहती, किसी स्त्री-भूत से भी आक्रान्त है। साथ ही वह सहसा रानियों की-सी पोशाक पहनकर "रॉल्सरायस" कार में भी चढ़ दौड़ती है। ऐसी महिला के स्नायविक दौर्बल्य के प्रति हमें सहानुभूति अवश्य होती है, पर उसके सारे दुःखों को हम वास्तविक सकारण दुःख नहीं मान पाते। ऐसी अवस्था में हम लेखक को अपने उद्देश्य में यथेष्ट सफल कैसे मानें?

'सुनीता' जैनेन्द्रकुमार का सामाजिक उपन्यास है। उसमें चित्रण है एक ऐसे परिवार का जिसमें एक युवती पत्नी और उसके पतिदेव हैं। पतिदेव के मित्र एक नव-युवक का बाहर से आगमन होता है। इस नवयुवक में आकर्षण की सृष्टि होती है, उसे एक गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन से संबद्ध करके। अब यह क्रान्तिकारी पुरुष है और वह युवती स्त्री। परदा नहीं है। पतिदेव उपन्यास की समस्या को सामने लाने के लिए कुछ दिनों को घर से बाहर कहीं काम से चले जाते हैं। समस्या बिल्कुल प्रत्यक्ष है, परदा-रहित परिवार में पर-पुरुष-प्रवेश की समस्या। अवश्य यह हमारी आज की एक आवश्यक समस्या है, किन्तु इसका समाधान? इसका समाधान जैनेन्द्रजी करते हैं एक रात नग्न रूप में उस स्त्री को दिखाकर और क्रांतिकारी पुरुष के मन में तात्कालिक विरक्ति या मानसिक आघात उत्पन्न करके! किन्तु यह क्या कोई वास्तविक समाधान है? मैं इसे वास्तविक समाधान नहीं मानता, किन्तु मेरे मित्र श्री नरोत्तमप्रसाद इससे एक क़दम और आगे बढ़ते हैं उनका आक्रमण जैनेन्द्र की सम्पूर्ण मनोभूमि पर है। वे 'शुतुरमुर्ग़-पुराण' लिखकर यह दिखाते हैं कि दमित इच्छाओं का विस्फोट ऐसी ही कृत्रिम प्रणालियों से होता है, जिन्हें जैनेन्द्रजी रहस्यात्मक रूप देकर छिपाना चाहते हैं।

इसी सिलसिले में जैनेन्द्रजी के 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास को भी ले लें। यदि इसकी समीक्षा मनोविश्लेषण की दृष्टि से की जाय तो विश्लेषक अपना अधिक समय नायिका 'मृणाल' के चरित्र सम्बन्धी अस्वाभाविक झुकावों की ओर देगा। मृणाल की बेंतों से मार खाने की इच्छा, अपने भतीजे को गोद में भरना, उससे लिपटना और उसे लिपटाना—आदि की मीमांसा वह करेगा। यही रचना वस्तुवादी या बुद्धिवादी परीक्षक को दी जाय तो वह सूचित करेगा कि इस उपन्यास में अनिर्दिष्ट अहिंसा का प्रसार करने के लिए उपन्यासकार अपनी नायिका को अनाकांक्षित कष्टों के घोर झमेले में डालता है। वह कहेगा कि मृणाल जैसी तेजस्विता रखनेवाली स्त्री यदि विवाह न करना तय कर लेती तो उसका विवाह ही उस व्यक्ति से न होता

जिसे वह नहीं चाहती और तब विषम विवाह की समस्या को इस रूप में रखने का अवसर ही न आता। जो स्त्री अपनी अनिच्छा से विवाहित हुई है वह विवाह होने पर पति को सर्वस्व समर्पण कर उसकी अनुचरी बन जायगी, यह गांधीजी की उस टेकनीक के अनुकूल भले ही हो कि जेल के बाहर सत्याग्रह करें, पर भीतर सारे नियमों का पालन। किन्तु यह टेकनीक मात्र का अनुकरण है, सत्याग्रह का सार यहाँ नहीं और न तो यह विद्रोही मनोवृत्ति के विकास के उपयुक्त है। इसी प्रकार वह यह भी कहेगा कि उपन्यास की नायिका किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलती। बल्कि एक अहिंसावादी टेकनीक-विशेष की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति की परिस्थितियों में डाली जाती और आचरण करती है। किन्तु प्रभाववादी समीक्षक इन पहलुओं पर ही ध्यान न देकर यह भी अनुभव करेगा कि उपन्यास विषम-विवाह के प्रश्न पर, जो इस उपन्यास में आयोजित है, कैसी गहरी चोट कर सका है। उसे यह अवश्य अनुभव होगा कि मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या की प्रतीक बनाकर दिखाई गई है। प्रचारात्मक अधिकांश कृतियों की भाँति इसमें भी कुछ दोष हैं अतिरंजना के, और अस्पष्टता इस उपन्यास का दुर्गुण बन गया है, पर इसके प्रभावात्मक (Impressionistic) गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

इन त्रुटियों के रहते भी मेरी जैनेन्द्रकुमार में आस्था है। मुझे यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण हैं कि दिखावटी भावात्मकता और कारण-हीन अप्रासंगिक करुणा के स्थान पर विशुद्ध, सुस्वस्थ भावना और आदर्श की प्रतिष्ठा जैनेन्द्र अपने उपन्यास-साहित्य में कर सकेंगे। उन्होंने तथा-कथित प्रगतिवाद के नपे-तुले नुस्खों को छोड़कर जीवन की वास्तविक गहराई में पैठने का उपक्रम अपने उपन्यासों में आरम्भ से ही कर रक्खा है। यही उन्हें साधारण (syndicalized) बाजारू प्रगतिवादी साहित्यिक की श्रेणी से ऊपर उठाकर जीवन का मर्मस्पर्शी अन्वेषक बना सका है। कोई भी साहित्यकार किसी बनी-बनाई पगडण्डी पर चलकर अपने गंतव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकता। उसे स्वानुभूत दर्शन चाहिए। स्वार्जित शक्ति चाहिए। श्री जैनेन्द्रकुमार में न केवल स्वतन्त्र विचारणा है, स्वतन्त्र कलाभिव्यक्ति भी है। अवश्य उन्हें आवश्यकता है परिमार्जना की और सुस्वस्थ सुस्पष्ट अभिव्यक्ति की। जो व्यक्ति भावना की गहराई में इतनी दूर तक पैठ सकता है वह उसे परिमार्जित स्वरूप नहीं दे सकता, यह बात समझ में नहीं आती। मेरी अब भी यही धारणा है कि जैनेन्द्रकुमार प्रासंगिक त्रुटियों को दूर कर स्वच्छ सशक्त आदर्शवाद का प्रवाह उपन्यास-साहित्य में अक्षुण्ण रख सकेंगे। मेरी यह धारणा तब तक बनी रहेगी जब तक जैनेन्द्रकुमार अपनी रचनाओं द्वारा इसका एकदम ही निराकरण न कर देंगे।

श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'



रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' नवीन हिन्दी-काव्य का एक क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ, यदि 'स्रष्टा' शब्द से केवल सृजनकर्त्ता का आशय हो। किन्तु यदि उसका तात्पर्य क्रान्ति को अपनी नैसर्गिक सीमा तक पहुँचा देने का हो तो स्रष्टा पद अभी उसके लिए अनुपयुक्त होगा। 'अंचल' अभी मार्ग में है, बहुत कुछ उसकी भविष्य की गतिविधि पर अवलम्बित है।

क्रान्ति उसने की है, छायावाद की मानवीय किन्तु अधिकांश अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा। छायावाद की सूक्ष्म उज्ज्वल मर्म स्पर्शिता के बदले अपनी जीवनत रंगीनी द्वारा। इस क्रान्तिदूत का संदेश है तृष्णा, लालसा, प्यास; तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया या क्रान्तिकारी संदेश है?

उत्तर में केवल हाँ कहना पर्याप्त न होगा, गत कतिपय वर्षों की हिन्दी-काव्य की एक सामान्य रूपरेखा भी देखनी होगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त अथवा बीसवीं के आरम्भ मे हिन्दी की दो ही प्रधान काव्यधाराएँ प्रवाहित थीं—एक भक्तिप्रधान धारा और दूसरी शृङ्गारप्रधान धारा। दोनों का उद्गम एक ही अति उन्नत कृष्णकाव्य-रूपी शैलशिखर से हुआ था, किन्तु दोनों ही उस समय ह्रासोन्मुख हो रही थीं। भक्ति और शृङ्गार का, दिव्यता और लौकिकता का फूटकर पृथक्-पृथक् हो जाना दोनों के लिए सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ। किन्तु ह्रास का केवल यही कारण न था। दिव्यता और लौकिकता दोनों ही रूढ़िबद्ध भी हो गईं। एक मठों और मन्दिरों में तथा दूसरी दरबारों और मजलिसों में। जीवनमय सांस्कृतिक स्रोतों से दोनों का सम्पर्क छूट गया। फलतः दोनों का अधःपात स्वाभाविक था।

क्या ही आश्चर्य है कि अधःपतन के चिह्न दोनों के एक से ही हैं। दिव्य (भक्ति) काव्य अपनी अलौकिकता की वृद्धि करता उस सीमा तक पहुँचा जहाँ नाना दिव्य लोकों की सृष्टि, अनेकानेक दिव्य सहचरियों के भेद तथा दिव्य नायक का दिव्य

अष्टयाम आदि प्रचलित हुए और दूसरी ओर लौकिक काव्य भी नायक-नायिकाओं की अपार श्रेणी-शृंखला, ऋतुचर्या, दिनचर्या और सहेटस्थलों के बहुविध भेदों को लेकर उपस्थित हुआ। समाज में एक ओर साधुओं की अलौकिक सिद्धियां और चमत्कारों का प्राधान्य हो गया तथा दूसरी ओर उसी पैमाने पर नाच-रङ्ग और विलास-सामग्रियाँ फैल चली। नाम और रूपभेद के रहते हुए भी वास्तविकता में एक-दूसरे के अति निकट आ गई थीं। दोनों में ही दुर्बल भावुकता, राजसिकता और राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक विच्छेद के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

आवश्यकता थी दोनों को एक में मिलाकर अथवा अलग-अलग ही उनका संस्कार करने की। अलौकिकता को मनोवैज्ञानिक वास्तविकता देने, कर्म-क्षेत्र में आत्म-साधन करने की और लौकिकता को लोकसामान्य या सार्वजनीन बनाने की। इसी प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के निकट आकर क्रमशः एक हो सकते थे अथवा पृथक् रहकर भी सामूहिक संस्कृति के उन्नयन में योग दे सकते थे।

लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, वास्तविक और आदर्श क्या अलग-अलग स्तरों पर हैं या ये एक ही मूलवस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं? इस आनुषंगिक किन्तु आवश्यक प्रश्न का उत्तर दिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। प्रत्यक्ष और परोक्ष में केवल दृष्टिभेद है या वस्तुभेद? यह प्रश्न यहाँ काव्य और कलाओं के मूल्य-निरूपण के विचार से ही पूछा जा रहा है। धार्मिक दृष्टि से प्रायः ये स्तर पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। किन्तु नवीन मनोविज्ञान इनमें वस्तुगत भेद नहीं मानता। काव्य में ये प्रायः एक-दूसरे से मिले-जुले पाये जाते हैं यद्यपि विशुद्ध आध्यात्मिक काव्य भी कबीर आदि निर्गुण संतों का लिखा पाया जाता है। मूलतः लोकातीत भावनामय एक असीम तत्त्व का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, यही आध्यात्मिक काव्य का विषय कहा जा सकता है; यही आदर्शवाद की भी एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। किन्तु यह व्याख्या धर्म और अध्यात्म की उन्नतावस्था में ही ठीक उतरती है, तथा-कथित रूढ़िबद्ध अध्यात्म तो आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न-भिन्न समयों और समूहों की मानसिक आत्मपूजा-मात्र है। चाहे वह निर्गुणकाव्य हो, अथवा सूफी अथवा उन्नतिकालीन भक्ति-काव्य ही क्यों न हो, सभी आदर्शवाद की श्रेणी में आते हैं। त्यागोन्मुख भावप्रधान मानव-चरित्र भी इसी कोटि में सम्मिलित होंगे।

इस सम्पूर्ण आदर्श काव्य का एक सुप्रतिष्ठित दर्शन भी है जिसे व्यापक रूप से आध्यात्मिक दर्शन कहते हैं। असीम सत्ता की स्वीकृति और उस पर आस्था ही उसका

मुख्य सिद्धान्त है। इसी से प्रेरित होने के कारण आध्यात्मिक काव्य अपनी एक श्रेणी भी बना लेता है।

इससे भिन्न प्रत्यक्ष, लौकिक अथवा वास्तविकता-प्रधान काव्य बौद्धिक दृष्टि को प्रधान मानकर चलता है, परिवर्तनशील सत्ता को प्रमुखता देता तथा आत्मा की अमरता के स्थान पर रक्त-मास की समस्याओं का सन्निवेश करता है। शैली, दृष्टि और मान्यताओं में भेद होने के कारण यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त पृथक् हैं किन्तु मानव हृदय की समरसता सिद्धातों की चिन्ता न कर काव्यमात्र में समान रूप से रस पाने की अभिलाषिणी होती है।

दोनों दर्शनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। एक हमारे नैतिक और आध्यात्मिक आधारों को पुष्ट करता तथा दूसरा हमें सांसारिक सत्यों का साक्षात्कार कराता है। एक प्रत्यक्ष की ओर से बेपरवाह कर दिव्य शक्ति प्रदान करता है तथा दूसरा सांसारिक अभिज्ञता और अनुभूति-प्रवणता का पाठ पढ़ाता है। अपनी उन्नतावस्था में दोनों एक दूसरे के सहकारी सिद्ध होते हैं किन्तु जब इनमें कट्टरता बढ़ जाती है, सांप्रदायिकता आ जाती है, लीक बन जाती है, तब ये एक दूसरे के विरोधी शिविरों में रहने लगते हैं।

उदाहरण के लिए कट्टर प्रत्यक्षवादी दृश्यवस्तु को एक मात्र सत्य कहकर वस्तु-विज्ञान का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं और द्रष्टा आत्मा की उपेक्षा करते हैं। वस्तु-तन्त्र इतिहास के पृष्ठों में भौतिक परिवर्तनों की ही मुख्यतः व्याख्या करता तथा उन्हें ही इतिहास के विभिन्न युगों की स्थितियों का प्रवर्तक तथा प्रधान हेतु बतलाता है। उनकी दृष्टि में धार्मिकता, आध्यात्मिकता का आशीर्वाद उच्च वर्गों; सत्ताधारियों की स्वार्थपूर्ण सृष्टि है। नैतिकता की उनके यहाँ कोई स्थिर सत्ता नहीं, केवल राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताएँ ही नीति का निर्माण करती हैं। वस्तुवाद की प्रायः सभी प्रक्रियाएँ आदर्शवादी प्रक्रियाओं से भिन्न और उनके विपरीत हो जाती हैं। यह यौन समस्याओं का समाधान स्त्री-पुरुष के स्वेच्छा-सम्मिलन में मानता है और आदर्शवाद के त्याग, संयम आदि को अव्यवहार्य ठहराता है। प्रचलित समस्त व्यवस्थाओं और क़ानूनों को वह इसी विपरीत विचारधारा का परिणाम बता उनमें परिवर्तन या क्रान्ति चाहता है। मानों किसी काल-विशेष में किसी वर्ग-विशेष या मत-विशेष के कुछ चुने हुए व्यक्तियों ने एक बार जो कुछ कह दिया वही आज का क़ानून और व्यवस्था है। यह व्यवस्था राष्ट्रों और जातियों के समष्टि अनुभवों का परिणाम है, ऐतिहासिक और प्राकृतिक सामाजिक प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का संघटित रूप है, यह नहीं समझा जाता। नई

स्थिति के अनुसार नवीन संस्कृति का निर्माण कोई नई घटना नहीं है, किन्तु यह निर्माण पूर्व (इतिहास) की पृष्ठ-भूमि पर ही होता आया है और हो सकता है, ऐसा न मानकर कट्टर वस्तुवादी केवल अपने नवीन विज्ञान के बल पर जो आपात क्रान्ति कर डालना चाहते हैं वह उनकी एकाङ्गी संकीर्ण दृष्टि तथा अव्यावहारिकता का ही भ्रान्त परिणाम कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कट्टर आदर्शवादी जगत् और उसके समस्त वस्तु-व्यापार को नश्वर कह कर अपनी अलौकिक और ऐकान्तिक साधनाओं में लीन होते तथा प्रत्यक्ष मानवीय हितों की उपेक्षा करते हैं। समस्त लोक व्यापार को जड़ता या बन्धन मानने के कारण वे लौकिक बुद्धि और उसकी अशेष उपयोगिताओं का तिरस्कार कर डालते हैं। एक असीम अनन्त मे जगत् के दुःखों और कष्टों का उपचार व्यावहारिक दृष्टि मे कहाँ तक सम्भव है, दरिद्रता के पाप से किस प्रकार मुक्ति हो सकती है, त्याग और संयम के संदेशों का किन-किन हलकों में कैसा-कैसा दुरुपयोग होता है, इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं। सारा जगत् समान रूप से मिथ्या होने के कारण अमीरी और ग़रीबी, स्वदेशी और विदेशी सब उनके लिए एक से हैं—जो प्रत्यक्षतः एक अन्याय या कम-से-कम अनभिज्ञता है। प्रायः इसी कारण स्थितिपालकता ही उनका लौकिक कार्य-क्रम बन जाता और जब कभी वे गद्दियों और पीठों के स्रष्टा हो जाते हैं तब सत्ताधारियों का पक्ष लेते रहना तथा प्राचीन परम्पराओं का पृष्ठ-पोषण करते जाना उनकी नई धार्मिकता बन जाती है। धर्म, अध्यात्म या आदर्शवाद के इसी रूप को लेकर उन पर विपक्षियों के आक्रमण हुआ करते हैं।

किन्तु इन अतिवादों के ख़तरनाक कगारों के बीच आदर्श और वस्तुवाद, अध्यात्म और लोकव्यापार की काव्य-सलिलाएँ बहती हैं और मानवता को एक-सा जीवनरस प्रदान करती हैं। देश और काल की विभिन्न स्थितियों में एक या दूसरे का प्राधान्य देखा जाता है। काव्य और संस्कृति के नये-नये परिवर्तनों में इनमें से एक या दूसरे की कला प्रस्फुटित होती है। किन्तु उनमें ये अधिकांश एक दूसरे से मिले-जुले ही रहते हैं। यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जब प्रगतिशील संस्कृति से इनका सम्बन्ध छूट जाता है तब ये दोनों ही ह्रासोन्मुख हो जाते हैं।

यहाँ एक आवश्यक शङ्का का समाधान किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। पूछा जाता है कि कबीर आदि का निर्गुण काव्य तो संन्यासमूलक और अध्यात्मपरक है, किन्तु एक ओर उमर ख़ैयाम और जायसी का सूफ़ी काव्य तथा दूसरी ओर सूर और तुलसी का भक्ति-काव्य किस प्रकार आध्यात्मिक माना जाय। उसमें तो लौकिक

चरित्रों, घटनाओं और वातावरणों का उल्लेख है। क्या उन कवियों की प्रस्तावना से ही हम उन चरित्रों को अलौकिक मान लें? उत्तर में निवेदन है, नहीं। उन काव्यों के साम्प्रदायिक और सांकेतिक उल्लेखों को छोड़कर भी उनका अध्ययन करने पर उनकी आध्यात्मिकता और लोकोत्तरता स्पष्ट हो जाती है। उमर ख़ैयाम का अदृष्टवाद और उसकी निराशामूलक प्रेम-कल्पना सात्त्विक और आध्यात्मिक है, यह हम किसी भी क्षण उनकी रुबाइयों का अनुशीलन कर देख सकते हैं। जायसी ने यद्यपि लौकिक कथावस्तु उपादान रूप में स्वीकार की है किन्तु काव्य का प्रवाह अलौकिक प्रेम की रहस्यपूर्ण मार्मिक अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण है। गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित का त्याग और मर्यादा अलौकिक है तथा सूर का कृष्ण-काव्य अपनी भावनामयता और आनन्द की अपूर्व बौछारों तथा सौन्दर्य की तल्लीनताओं में एकदम अप्राकृत है। इसलिए प्रश्न यह नहीं होता कि किसी कवि के काव्य का उपादान क्या है; प्रश्न यह है कि किसी भी उपादान को लेकर उसने सृष्टि कैसी की है!

काव्य में 'उपादान' की नहीं किन्तु 'निर्माण' की प्रधानता ऊपर के दृष्टांतों से स्पष्ट हो जाती है। इसका सबसे सीधा प्रमाण यही है कि एक ही उपादान को लेकर विभिन्न कवियों ने नये-नये निर्माण किये हैं, जिनमें कुछ सफल कुछ असफल, कुछ वास्तविकताप्रधान, कुछ आदर्श-प्रधान, कुछ उन्नत और कुछ ह्रासोन्मुख हुए हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और तुलसी में क्रमशः वस्तुमूलक, व्यावहारिक और भावमूलक आध्यात्मिक प्रेरणाएँ प्रधान हैं। दोनों की कथावस्तु एक ही है किन्तु अभिव्यक्तियाँ भिन्न हैं। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उन्नत अभिव्यक्तियाँ हैं निष्कर्ष यह कि काव्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐसे दो बौद्धिक विभाग नहीं किये जा सकते यद्यपि ये दार्शनिक विभाग काव्य के इतिहास में अपना प्रचुर प्रभाव सदैव रखते आये हैं और भविष्य में भी रखेंगे। विशेष कर पश्चिम में जहाँ ये दो अलग-अलग कटघरे बने हुए हैं, जिसके कारण धार्मिक रहस्य-काव्य की अलग ही धारा बही है और आध्यात्मिक मसीहाओं (Prophets) का अलग ही दल तैयार हो गया है, प्राकृतिक रहस्य-काव्यों की आध्यात्मिकता स्वीकृत नहीं हो सकी है जिससे वहाँ के काव्य-विकास में और काव्य के मूल्यनिर्धारण में अनुल्लङ्घनीय बाधाएँ समय-समय पर आई हैं। लौकिक और अलौकिक ये दो पृथक् स्तर हैं तथा इनका सम्मिलन सम्भव नहीं है, यह भ्रान्त धारणा ही इसके मूल में है। 'रस्किन' और टेनीसन की धार्मिक अध्यात्मोन्मुख कृतियों का 'शेली', 'कीट्स' आदि की

प्रकृत आध्यात्मिक रचनाओं से श्रेष्ठ समझा जाना इसी ग़लतफ़हमी का परिणाम है।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि काव्य में परिवर्तन इन बौद्धिक वादों-प्रवादों के फलस्वरूप हुआ करता है। काव्य में परिवर्तन मुख्यत: राष्ट्र या जाति की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगतियों की प्रेरणा से ही होता है। यह बहिरङ्ग हेतु है तथा अन्तरङ्ग हेतु है काव्य में नवीनता की बद्धमूल आकांक्षा। कभी-कभी कवि की निजी असाधारण अनुभूतियाँ अथवा बौद्धिक धारणाएँ भी काव्य को नूतन स्वरूप देती हैं किन्तु ऐसा कम ही अवसरों पर होता है। मुख्यत: ऐतिहासिक कारणों से काव्य नए रूप-रङ्ग धारण करता है। यह भी कह सकते हैं कि इन्हीं ऐतिहासिक कारणों से उक्त वाद-प्रवाद भी एक-दूसरे को स्थानान्तरित करके राष्ट्रीय और जातीय रङ्गमञ्चों पर आया करते हैं। इस प्रकार काव्य और दर्शन दोनों ही इतिहास की वस्तुएँ सिद्ध होती हैं। परिवर्तन काव्य का नियम बन जाता है।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं के आरम्भ में जो दोनों (भक्ति और शृङ्गार की) ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं उनके गतिक्रम में परिवर्तन सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी काव्याकाश के तारक-मण्डल ने किया। इन नए उन्नायकों ने एक नई सुकोमल दीप्ति और वेदना की एक दिव्य छटा छा दी। रुखी रुढ़ियों में एक वैयक्तिक आत्मा की आर्द्रता उत्पन्न हो गई।

एक नवीन मानव-आदर्श का शिलान्यास हुआ जिसके दो अंग हुए देशभक्ति और मानवीय प्रेम। उस प्रेम में एक स्वर्गीय मृदुता थी, राधाकृष्ण के दिव्य प्रेम की परिछाहीं पड़ी हुई देशभक्ति स्वभावत: अपने आरम्भिक स्थूल रूप में आई, वेदना का जागृत और अन्तर्व्यापी साहचर्य उसमें न था। उक्त प्रेम की झलक हमें तत्कालीन नाटकों में विशेषत: मिलती है और देश-भक्ति छोटी-छोटी मुक्तक कृतियों में।

तथापि लोक और परलोक, शृंगार और भक्ति के दोनों कुलावे अलग ही अलग रहे। आध्यात्मिक या पारलौकिक आदर्श तो भक्ति थी और लौकिक व्यवहार उक्त शृङ्गार का पल्ला पकड़े हुए थे। यह द्विधात्मकता उस समय के काव्य में सुस्पष्ट थी।

लौकिकता या लोक जीवन अलौकिकता से वस्तुत: भिन्न नहीं है; यह मानव काव्य की प्रथम प्रेरणा उन प्रेम कथानकों में मिली। अलौकिक भक्ति में प्राकृतिक अध्यात्म का यह पहला पुट पड़ा।

इसी समय स्वर्गीय श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आगमन से एक उच्च-कोटि का नैतिक बुद्धिवाद हिन्दी में प्रसरित हुआ। प्रेम और शृङ्गार नाम की वस्तुएँ

साहित्य से लुप्त हो चलीं। इसके साथ ही भक्ति काव्य भी जो शृङ्गारिक पृष्ठिभूमि पर प्रतिष्ठित था, उपेक्षित होने लगा। इन दोनों के बदले देशभक्ति और नैतिक मानवता की प्रतिष्ठा होने लगी। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की 'भारत भारती' और श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय का 'प्रियप्रवास' इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं।

कृष्ण और राम के चरित्र अब भी काव्य-वस्तु के रूप में रहे। उनकी लोकोत्तरता का पूर्ण पर्यवसान नहीं हो सका। उपाध्याय जी के प्रशान्त संयम और गुप्तजी की करुणापूर्ण भावुकता में विशुद्ध मानवता परिस्फुट नहीं हो सकी। अभी उनमें अलौकिकता शेष थी।

यही कारण है कि उन तथा उस युग के अन्य कवियों ने मानव-चरित्र के स्तर पर केवल बड़े-बड़े वीरों, महापुरुषों अथवा लोक-नायकों को ही उतरने दिया। उनमें भी अधिकांश पौराणिक तथा कुछ मध्यकालीन राष्ट्र-नेताओं के चरित्र थे। अलौकिक लोकोत्तरता के स्थान पर मानवीय लोकोत्तरता का आगमन हो गया।

यद्यपि श्रीधर पाठक प्रभृति अन्य कतिपय कवियों ने द्विवेदी-युग की इस लौकिक लोकोत्तरता से ऊबकर प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना की, तथा सामान्य जीवन से सम्बन्धित 'ऊजड़-ग्राम' आदि कृतियों का अँगरेज़ी से उल्था किया, किन्तु धार्मिक या अलौकिक अध्यात्म के स्थान पर पूर्ण मानव और प्राकृत अध्यात्म का आगमन हुआ स्वर्गीय श्री प्रसाद जी के हिन्दी-क्षेत्र में प्रवेश करने पर।

निराला, प्रसाद और पन्त के अधिनायकत्व में हिन्दी-काव्य का अपूर्व कायाकल्प हो गया। कल्पनाशील कवियों की टोली अपनी मानवीय अशरीरी सौन्दर्यपूर्ण रचनाओं से नई ही छटा छाने लगी। यह टोली कुछ छोटी-मोटी न थी, न उनके काव्य की दिशाएँ सीमित थीं,। अनेक दिशाओं में नए युग की मन्त्र-ध्वनि गूँज रही थी निराला की प्रज्ञायुक्त कल्पना, प्रसाद की रहस्यमयी भावना और शक्तिमत्ता, पन्त की मनोहारी सौन्दर्य-सृष्टि, नवीन और मिलिन्द की विद्रोही भावुकता, सुभद्राकुमारी की अति सरल आत्माभिव्यक्ति, माखनलाल की चमत्कारिक निगूढ़ व्यंजना, सियारामशरणजी की सामाजिक और बौद्धिक लघुआख्यान-रचना, सभी नई-नई सृष्टियाँ थीं और इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ काव्य में काव्य वैविध्य का संचार करने लगीं।

किन्तु ये सभी कवि एक विशेष युग की एक विशेष काव्यधारा के प्रतिनिधि हैं। इनकी विविधता के भीतर एक समता का स्रोत भी है। कतिपय समीक्षक इनके साम्यसूत्र

को नहीं परख पाये हैं इसलिए वे यदा-कदा भ्रान्ति में पड़ जाया करते हैं। अपनी विशेष रुचि के अनुसार वे इनमें से एक या दूसरे की ओर आकर्षित हों, यह उतना अनुचित नहीं जितना उस रुचि-विशेष को मापदण्ड बनाकर बुद्धि-व्यापार को स्थगित कर देना। अभी एक साहित्यिक समीक्षा में निरालाजी की 'सरोज स्मृति' नाम की उत्कृष्ट रचना को एक अति साधारण रचना से भी हीन इस आधार पर ठहराया गया था कि वियोग में सुधि-बुधि खोकर मूर्च्छित होने का उल्लेख निरालाजी की उक्त रचना में नहीं है। संयमित अनुभूति-प्रवणता से उक्त समीक्षक परिचित ही नहीं जान पड़ते, यह कितनी हँसी और साथ ही दुःख की बात है।

जो सूत्र इस कविवर्ग को एकतार और एकतान किये हुए है वह है मानव-जीवन का प्रकृत अध्यात्म; जिसे छायावाद का व्यापक नाम दिया गया है। पूर्ववर्ती स्थूल लोकोत्तरता के स्थान पर यह सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति छायात्मक ही कही जा सकती है। इस काव्य की आध्यात्मिकता भी सुस्पष्ट है यद्यपि वह रूढ़ अध्यात्म नहीं है। अधिकांश छायावादियों की दार्शनिक भित्ति वेदान्त या उपनिषद् है। वे आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में दो मुख्य विशेषताएँ ऐसी हैं जो उन्हें आध्यात्मिक सिद्ध करती हैं। प्रथम तो उनमें दुःख या निरात्म अन्तिम सिद्धान्त के रूप में गृहीत नहीं। दूसरे उनमें स्थूल इन्द्रियता का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उनकी सौन्दर्य-भावना है मानवीय किन्तु अतिशय सूक्ष्म—आध्यात्मिक।

मेरे इस कथन के अपवाद भी सम्भव है मिलें, किन्तु उन अपवादों से नियम की पुष्टि ही होगी। दुःख के आलंकारिक वर्णन तो बहुत मिलेंगे। किन्तु दुःख में डूबा हुआ निरात्म दर्शन छायावाद में विरलता से प्राप्त होगा। दुःखों की वास्तविक और प्रांजल अभिव्यंजना मुझे 'कामायनी' काव्य के कुछ स्थलों में जैसी प्रखर उत्तप्त, और अन्धकाराच्छन्न मिली, अन्यत्र वैसी कहीं नहीं देख पड़ी। किन्तु दुःख-रूप दर्शन और तज्जन्य विद्रोह छायावाद काव्य मे नहीं देख पड़ता। यह विद्रोह उस अवस्था का द्योतक होता जब दुःख की सत्ता अखण्ड जीवन की अनुभूति को असम्भव कर देती, जब शैल-शिखर के नीचे आकर यात्री निरुपाय होकर रुक जाता। महादेवीजी वर्मा का दर्शन यद्यपि दुःख पर स्थिर है, किन्तु वह दुःख बौद्धिक और आध्यात्मिक भूमि में उतरने का उपक्रम मात्र बन गया है।

इन्द्रियता के सम्बन्ध छायावाद काव्य स्थूल भूमि पर नहीं उतरता। उसकी अभिव्यक्तियाँ उच्च मानसिक स्तर पर है और अधिकांश छायारूप। कहीं-कहीं जैसे पन्तजी

की 'उच्छ्वास की बालिका' और 'ग्रन्थि' के वर्णनों में जहाँ साकारता आये बिना नहीं रही, वहाँ भी वह सांकेतिक ही रक्खी गई है। कुछ आलोचक तो इसी सांकेतिकता को छायावाद का मुख्य विशेषण मानकर उस पर प्रच्छन्न इन्द्रियता का अनुचित आक्षेप करते हैं। किन्तु छायावाद काव्य का व्यापक अनुशीलन करने पर यह आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाता है।

यदि द्विवेदी-कालीन काव्य की तुलना रविवर्मा की कला से तथा छायावाद की तुलना परवर्ती 'इण्डियन आर्ट' से की जाय तो मेरे विचार से इनमें साम्य की एक बड़ी मात्रा मिलेगी। क्या उपादानों का चुनाव, क्या चित्रण-शैली, क्या दार्शनिक दृष्टि, क्या कलाकारों की रुचि और संस्कृति—सभी परस्पर मिलते-जुलते है। क्या ही अच्छा हो यदि इस साम्य के आधार पर सामयिक काव्य और चित्र-कला पर एक तुलनात्मक निबन्ध लिखा जाय जिससे इस विषय पर ईप्सित प्रकाश पड़े।

सम्प्रति एक विद्रोह छायावाद की सूक्ष्म आध्यात्मिकता, अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना और भावातिरेक के विरुद्ध उठ रहा है जिसके उन्नायकों में 'अंचल' एक प्रमुख है। इसका यथार्थ स्वरूप अभी स्पष्ट नहीं हो सका है, यद्यपि इसे वस्तुवाद, मार्क्स-वाद, हँसिया हँथौड़ावाद, रोटीवाद, प्रगतिशील साहित्य आदि बहुत से नाम दिये जाते हैं। अभी यह निर्माणावस्था में है। इसका कोई सुनिश्चित दर्शन हो ही, ऐसा आग्रह भी नहीं किया जा सकता। अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देने के लिए अथवा मार्गोपदेष्टा बनने के लिए कई प्रकृत छायावादी भी इस क्षेत्र में आ रहे हैं, जैसे छायावाद का आरम्भ होने पर कई प्राचीन पथिक नई भूमि में पदार्पण करने लगे थे। पता नहीं उन्हें इस क्षेत्र में कहाँ तक सफलता मिलेगी। जो लोग कविता को हृदय या आत्मा की वस्तु मानते हैं उन्हें इन प्रयासों की कृत्रिमता अवश्य खटकेगी।

प्रगतिशीलता मनुष्य का गुण हो सकता है, काव्य का गुण तो है उसमें व्यक्त 'अनुभूतियों की सच्चाई, मर्मस्पर्शिता और सौन्दर्य। प्रत्येक मनुष्य प्रगतिशील कहलाने की इच्छा कर सकता है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य ये काव्यगुण कहाँ से लावेगा? हम दूसरों को अपना दूसरा रूप दिखा सकते हैं किन्तु अपने आपको कैसे ठगा जा सकता है? इसलिए मेरा निवेदन है कि इस नई भूमि में वे ही आकर सफल हो सकेंगे जिनमें वह ज्वलन्त नैसर्गिक अनुभूति है। मुझे यह भी अभीष्ट प्रतीत होता है कि प्रगतिशीलता का मोह काव्य और कलाओं के क्षेत्र से दूर कर दिया जाय और इसका मुख्य उपाय है साहित्य में समदर्शी (Catholic) दृष्टि का प्रचार करना, काव्य के उत्कर्ष को वादों

के उत्कर्ष से सदैव ऊपर रखना और किसी भी वाद को सामयिकता या प्रगतिशीलता का एकमात्र प्रमाण न मान लेना। यदि इन उपायों से काम लिया जाय तो हिन्दी-काव्य का आगामी उत्थान प्रकृति और अबाध गति से हो सकेगा। जब गांधीजी की राजनीति आध्यात्मिकता पर प्रतिष्ठित होकर भी आधुनिक हो सकती है तब साहित्य में यह नियम अपवाद क्यों हो ?

यहाँ मुझे कहना है कि नवीनता के नाम पर जो-जो वाद आविर्भूत हुए और चल रहे हैं वे सब के सब वास्तविक काव्य-सृष्टि के हेतु नहीं हो रहे हैं, तथा कहीं-कहीं तो शुष्क वादमात्र सिद्ध होते है। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता कि कविगण अपनी प्रकृति और स्वाभाविक प्रतिभा का अनादर कर नए क्षेत्र में आगन्तुक (Forigner) से बन जाते हैं। जिस व्यक्ति को अत्यावश्यक काव्यानुभूति और कला की अभिज्ञता नहीं है वह किसी भी प्रगतिशील वाद का सहारा लेकर कुछ कर नहीं सकता। इन आरम्भिक अनुकथनों के बाद मैं यह कहूँगा कि 'अंचल' इन अपवादों से ऊपर है, वह किसी वाद की नियोजना नहीं कर रहा, केवल काव्य कर रहा है। इसलिए वह क्रमागत काव्य-धारा से सर्वथा टूट कर अलग नहीं हो गया है, उसका क्रम-विकास सुरक्षित है।

किन्तु वह क्रम-विकास छायावाद की मुख्य धारा से भिन्न अवश्य है, इसका सबसे सीधा प्रमाण मेरे निकट यह है कि आरम्भ से ही उसके हिन्दी में आने पर मेरे मन में उसके प्रति एक विराग, एक उलझन उत्पन्न हो गई थी। इस विराग और उलझन का एकमात्र कारण यह था कि छायावाद की मंजुमनोरम भावनाओं के रसपान के पश्चात् इस विद्रोही के 'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे। 'गदले गीत' से यहाँ मेरा मतलब साकार और स्पष्ट शृङ्गारिक निर्देशों से है। यही नहीं, जब मैंने 'अंचल' को अपने लिए पापी और विलासी विशेषण प्रयोग करते देखा ('जल-जल उठते कितने पागल पापी प्राण विलासी') तब आश्चर्य की सीमा नहीं रही। आश्चर्य इस कारण और अधिक हो गया था कि उन दिनों अंचल अकेला इस तरह की रचनाएँ कर रहा था। इसलिए आरम्भ में मैंने उसे क्रान्ति का स्रष्टा लिखा है।

सत्य की रक्षा के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अंचल के कुछ पहले ही एक बौद्धिक हलचल छायावाद के कतिपय सीमान्तों में उठ चुकी थी। उनमें से एक महादेवीजी वर्मा के काव्य की चित्रात्मकता के रूप में परिणत हो गई। उनके काव्य के इस बौद्धिक पहलू की ओर ध्यान न देकर जो लोग उन्हें मीराबाई की सहज परंपरा में

मानते हैं वे काव्य-कला के प्रति अन्याय करते हैं। अस्तु, दूसरी हलचल भगवतीचरणजी वर्मा की दुःखात्मक मादकता बनकर रह गई। बहुत पीछे वही 'कलकत्ते की ट्राम' और 'भैंसागाड़ी' के रूप में प्रकट हुई। अंचल इसके कई वर्ष पूर्व 'कनक रेणुका रानी' की समाधि पर अपने तृष्णा-गान गाने लगा था। हरवंशराय 'बच्चन' तब तक अज्ञात और 'अज्ञेय' अविज्ञात थे।

मैं कह चुका हूँ कि इन खुले', 'बोलते' या 'गदले' गीतों के लिए मैं तैयार न था। किन्तु इनमें एक अनोखा चटकीलापन तथा इनके निर्माण में एक विलक्षण वेदना का प्रत्यय मिल रहा था। कुछ ही प्रयास से मैं जान सका कि अंचल स्मृति का पुजारी और विरह का उपासक कवि है। सौन्दर्य के प्रबल आकर्षण, दैव के कठोर आघात और यौवन-सुलभ भावोद्रेग ने मिलकर उसे विद्रोही बना दिया है। यद्यपि विद्रोह की उत्पत्ति दैवदुर्विपाक से ही हुई है, किन्तु उसका असर काव्य में व्यापक रूप मे फैला हुआ है।

यहाँ पुनः एक प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित होता है। कहा जाता है कि यह अति-नवीन कविवर्ग भोगवादी है। भोगवाद के मूल में वस्तुवाद की दार्शनिक उपपत्ति को कारण बतलाते हैं। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। यूरोप में वस्तुवाद प्रधानतः सामाजिक दुःखात्मकता की नींव पर स्थापित है और उसके अधिकांश कवि भोगेच्छा से नहीं नैराश्य से अनुप्रेरित हैं। कुछ लोग उमर ख़ैयाम को, जो आधुनिक काव्य का एक मुख्य प्रेरक है, भोगवादी समझते हैं। इससे बढ़कर नासमझी और क्या होगी ! उमर ख़ैयाम चतुर्दिक नैराश्य के वातावरण में प्रेम की एक मीठी, अति मीठी कल्पना करता है। वह प्रेम भोगोन्मुख नहीं एकदम आध्यात्मिक है। कुछ लोग यह भी आक्षेप करते हैं कि उमर ख़ैयाम के निराशावाद या बुद्ध के क्षणिकवाद को फैलाने का अनौचित्य आधुनिक कवि कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि वाद किसी व्यक्ति विशेष के उत्पन्न किये या फैलाये नहीं फैलता। सामूहिक स्थिति ही किसी वाद की सृष्टि और प्रसार करती है। दूसरी बात यह है कि वाद कोई भी हो, हमें उस वस्तु का निरीक्षण करना चाहिए जो उस पात्र में रक्खी है। संसार को क्षणिक और दुःखपूर्ण प्रायः सभी आध्यात्मिक दर्शन—वे भारतीय हों या अभारतीय, मानते हैं। आधुनिक काव्य में इसका प्रवेश पाना कुछ भी अनुचित नहीं। देखना यह है कि कवि अपने दर्शन के आधार पर मनोरम सृष्टि कर रहा है या नहीं। संसार को क्षणिक मानकर वह स्वयं किस ओर जा रहा और हमें कहाँ ले जा रहा है। निराशा और दुःख की जो अनुभूतियाँ देकर वह हमें

द्रवित कर रहा है उनका निर्माण वास्तविक या केवल काल्पनिक आधार पर किया गया है। वे हमें सहनशील बनाती और आत्म-साधना की ओर ले जाती हैं या केवल क्षीण भावुकता और उत्तेजना उत्पन्न करती हैं। विद्रोह करती हैं तो आवश्यक शक्तिमत्ता के साथ या केवल शाब्दिक विद्रोह। संक्षेप में वह काव्य ह्रासोन्मुख है या विकासोन्मुख।

भोग विकासोन्मुख काव्य का लक्षण नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भोग स्वतः कोई अनुभूति नहीं है। वह इन्द्रियों की विवशता मात्र है। काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएँ हैं। दोनों का सामंजस्य असम्भव है। जब-जब ये दोनों एक दूसरे के निकट आये हैं; काव्य की अधोगति हुई है। दरबारी कवियों का दृष्टान्त सब की आँखों के सामने है।

मुझे स्मरण है, दस-बारह वर्ष पूर्व जब छायावाद की प्रारम्भिक प्रतिष्ठा हो रही थी, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने उस पर कायवृतियों के प्रच्छन्न पोषण और प्रकाशन का आरोप किया था। किन्तु छायावाद की प्रगति ने उसके उस आरोप को अयथा सिद्ध कर दिया है। आज मेरे मन में भी वैसी ही एक शङ्का हिन्दी-काव्य की आगामी प्रगति के सम्बन्ध में उठ रही है। यद्यपि समयानुसार काव्य के प्रतीकों और उसकी गतियों में परिवर्तन होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी ही नहीं, अतिशय उपादेय भी है किन्तु मुझे आशा करनी चाहिए कि नवीन परिस्थिति से उत्पन्न नये जीवन स्रोतों में डूब कर भी हमारे कविगण अपनी आत्मा और विवेक के रत्नों को डूबने नहीं देंगे।

यौवनसुलभ सौन्दर्य की लालसा, जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है। निस्संगता का अन्दाज हमें चित्रण की परिपुष्ट और सुनियमित (Graphic) रेखाओं, मुद्राओं, इंगितों और उन उद्दीपनों द्वारा लगेगा जो उसमें नियोजित हैं। जहाँ सौन्दर्य का विवरणात्मक सुशोभन वस्तुचित्र-मात्र है तथा चित्रण में उच्च कोटि का मानसिक अध्याहार भी है, वहाँ उस सौन्दर्य की प्यास, लालसा या तृष्णा अपवाद योग्य नहीं है। काव्य में सर्वत्र 'क्या' के स्थान पर 'कैसा' प्रश्न ही उपयुक्त होता है!

दुःख और विषाद की पृष्ठिभूमि पर ये तृष्णा, लालसा और प्यास और भी खिलती है। मैं कह चुका हूँ कि अंचल मुख्यतः विनष्ट सौन्दर्य की विषण्ण स्मृतियों गायक है। किन्तु यत्र-तत्र संयोग शृङ्गार के जो चमकीले वर्णन मिलते हैं वे

विवरणपूर्ण वस्तुसत्ता तथा प्रचुर कल्पनाप्रवणता के कारण प्राकृतिक सुषमापूर्ण ही हुए हैं। यद्यपि उत्तेजनाशील इन्द्रियता भी कहीं-कहीं है। अस्तु अब यहाँ अंचल के काव्य का एक क्रमबद्ध किन्तु संक्षिप्त अनुशीलन कर लेना अधिक अच्छा होगा।

'मधूलिका' और 'अपराजिता' ये ही दो अंचल के काव्य-संग्रह हैं। ये दोनों ही नाम छायावादी हैं और यह शंका उत्पन्न करते हैं कि अंचल ने पुरानी लीक छोड़ी भी है या नहीं। कुछ लोग, सम्भव है, यह भी कहने को तैयार हों कि अंचल ने छाया-वाद के साथ वही सलूक किया है जो लखनऊ के ह्रास-कालीन कवियों ने पूर्ववर्ती उर्दू कविता के साथ किया था। खुमारी, मादकता और उत्तेजना ही उसकी देन है। यह विषय विवादग्रस्त हो सकता है, किन्तु मेरे मन में इस विषय की शङ्का नहीं है कि अंचल में ह्रासोन्मुख प्रतिगामिता नहीं, जीवंत क्रान्ति के लक्षण हैं। अंचल के स्वरों में प्रसुप्त और क्षीण नहीं, जाग्रत और प्रदीप्त अतृप्ति का विह्वल रोदन है—

वासना बस कुछ न पूछो, है विरस निष्फल जवानी,
प्रखर अनियंत्रित महाविच्छेद की जलती निशानी।
ले प्रलय-सी एक आकांक्षा विपुल बरबाद यौवन—
मिट रहा अतृप्त वंचित लख न पाई तुम अचेतन।

अथवा—

आज की रजनी बड़ी लोलुप जलन से तप्त लथपथ,
आज निद्रा भी न आती कौन अन्तर है रहा मथ।
आज से जीवन मरण में रह गया कोई न अपना,
आज तो बस प्राण ले लेगा भयंकर रूप सपना।

आदि पंक्तियों में यह स्वर विशेष स्पष्ट है। इसका दूसरा प्रमाण यह भी है कि अंचल अपनी विद्रोही भावना के बल से उन्हीं दार्शनिक भूमियों पर आया है जिनपर अन्य नए क्रान्तिकारी आये हैं। एक तीसरा प्रमाण यह है कि वियोग की वह्नि में वह माधुर्य-पुञ्ज को जला रहा है—वही माधुर्य-पुञ्ज जो खुमारी, मादकता आदि में परिणत होता है। इसलिए पुस्तकों के नामों के आधार पर कोई निष्कर्ष न निकालकर हमें उनके अंतरङ्ग में प्रवेश करना होगा।

प्रसन्नता की बात है कि 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में अंचल के काव्य का एक सुन्दर क्रम निरूपित है। 'मधूलिका' में तृष्णा की प्रथम पुकार (आवाहन), रूपपरी या

रतिरानी का आगमन, प्रणय-निवेदन, तृष्णा की जागृति और तृष्णारूप पाप का समर्थन (सौन्दर्य से कौन आकर्षित नहीं होता, किसे प्यास नहीं लगती), 'वेणी बंधन' आदि की सुन्दर वर्णना और अचानक ही रूपपरी का जलती निशानी छोड़कर अदृश्य हो जाना—यह धारा ऊपर का वर्णन मानों आगे आनेवाले 'महाविच्छेद' की प्रस्तावना मात्र बनकर रह जाता है।

अंचल की विरह-साधना में बड़ी ही एकनिष्ठ, सजग, विह्वलताकारी तथा जीवनमय अनुभूतियों का संग्रह है। कवि के वास्तविक विद्रोह का यहीं से आरम्भ होता है। 'अरमानों और साधों की अरोप आहुतियाँ' डालकर उसने विरह-वह्नि को जगा रक्खा है। नैराश्य की तमिस्रा में जीवन पर एक दृष्टि डालने के लिए उसे इस आग का ही सहारा है। अतः उसका तमाम दर्शन इस आग की आँच से प्रज्वलित और पिघला हुआ है।

'सखी' नामक रचना में अंचल के दार्शनिक विचारों की एक झलक मिलती है। इनका एक क्रम बना कर उपस्थित करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि ये क्रमबद्ध होकर भी उतने ही सङ्गत या असङ्गत होंगे जितना बिना क्रम के। 'आज ही, वर्तमान क्षण ही, सब कुछ है, भविष्य की क्या आशा? कल होगा इसका निश्चय क्या? (प्रेम के) नशे में उन्मत्त होना ही सुख है। वृद्धावस्था आने पर कंधों के लिए माथे का भार भी दूभर हो जायगा। मञ्जिल की परवाह न कर चलते ही रहना है। सभी अपने आप में मस्त हैं, यहाँ हमें कोई ढूँढ़ेगा यह आशा ही व्यर्थ है। यौवन का उभार और मदिरा (प्रेम-तन्मयता) का ज्वार जो अभी है, फिर बहुत दिनों तक न मिल सकेंगे। सब को अपनाते हुए, सबसे हृदय मिलाकर, चलना ही सार है। हम चाहे किसी को न भायें, हमको सब भाते हैं।'

'संसार में दुःख-पीड़ा देखकर व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। प्रेम के दीवानों ने जगत् के दुःखों को ही सुख मान लिया है। अभी जीवन में कितने ही झंझावात (अंधड़) चलेंगे। कितने बार दीप बुझेंगे। इनकी क्या चिन्ता? हम सदा पुलकित और प्रहर्षित रहेंगे।

'उर में आग नयन में पानी, होठों में मुस्कान सजा।
हम हँसते इठलाते चलते, इतरा-इतरा बल खा-खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय की लहरों में खुल खेलें हम।
आज भाग्य के उल्कापातों को हँस-हँस कर झेलें हम।'

ये काफी संवेदनापूर्ण और दुःखी मनःस्थिति के द्योतक हैं। अंचल की ये अनुभूतियाँ अधिकांश वैयक्तिक हैं किन्तु इन्हीं में उस समवेदना का स्रोत भी निहित है जो आर्त और पीडित मात्र के प्रति प्रेम से उद्विग्न हो उठती है। उसके काव्य का यह दूसरा पहलू भी दर्शनीय है:—

> और चलीं तूफ़ान फूँकती वे पथ-कन्याएँ संतप्त,
> जिनकी कृश जंघाओं पर संघर्ष मनाते थे उन्मत्त।
> जिनकी छाती के गड्ढों पर दीर वासना के जलते,
> जिनके नील कपोलों पर मतवाले गाहक मुख मलते।

और उन मतवाले गाहकों (अमीरों) का जघन्य परिचय उसने इस प्रकार दिया है:—

> जिनकी आँखों में मदिरा नस-नस में कामुकता उद्दाम,
> बर्बर पशुता से लथपथ जो पी जाते नारी के जाम।
> किन्तु तनिक दिन ढलते ही ठुकरा देते जो भस्म समान,
> तृषित सतृष्ण दृगों से लखने को जघन्य औरों का काम।

अवश्य यह जघन्यता केवल नारी के उत्पीड़क इन नर-कीटों तक ही सीमित नहीं है। वह और भी बहुत व्यापक है। किन्तु अंचल का यही मुख्य काव्य-विषय होने के कारण उसने इन्हीं का उद्धरण देकर इन्हीं के प्रति विद्रोह प्रकट किया है।

यहीं अञ्चल ने प्रचलित प्रथा के अनुसार ईश्वर पर भी छींटे कसे हैं। देवताओं को तो वह प्रेमी-जनों की साधना का दृश्य दिखाकर ही सन्तोष करता है:—

> इन अमरों को आज दिखा दूँ, कैसे प्रेमीजन होते।
> कैसे प्यासे प्यास बुझाते, कैसे मधुप मगन होते।

किन्तु ईश्वर पर उसका आक्रोश अधिक उग्र है:—

> ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्म-प्रवंचक एक,
> जिसके प्राणों में विस्मृति है उर में सुखश्री का अतिरेक।
> जिसका ले ले नाम युगों से मांस लुटाते तुम रोये;
> किन्तु न चेता जो निशि-निशि भर जब न क्षुधातुर तुम सोये।

आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अस्त रौरव पोषक,
अरे, वही दुर्दान्त महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक।

आक्रमण के लिए ईश्वर के बराबर सस्ती और महत्त्वपूर्ण वस्तु मिल ही क्या सकती है – खासकर भारतवर्ष में, जहाँ कोई संघटित 'चर्च' है ही नहीं ! किन्तु इससे सिद्ध होता है कि भारतीय धार्मिक इतिहास का स्वतन्त्र अध्ययन न कर किस प्रकार पश्चिम की सुनी-सुनाई पद्धति का अंधानुकरण किया जा रहा है। आवश्यकता है भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन की और तदनुसार ही काव्य की गति निर्धारित करने की। ऐसा न होने से शक्तियों का अपव्यय होता है तथा सच्ची राष्ट्रीयता के निर्माण में अड़चन आती है। आशा है अंचल के अतिरिक्त अन्य कविगण भी इस राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान देंगे। कवियों के हाथों में राष्ट्र-निर्माण का दायित्व सदा रहा है और सदैव रहेगा—यह बात दूसरी है कि वे इस जिम्मेदारी से छूटने की सस्ती चेष्टा करें। किन्तु यह दूरदर्शिता नहीं, एक घातक चेष्टा ही कही जायगी।

'अपराजिता' में अंचल की अनुभूतियाँ अपेक्षा से अधिक व्यापक और बहुमुखी हो गई हैं। यद्यपि 'अपराजिता' आद्यन्त एक वियोग-काव्य है किन्तु वियोग के अन्तर्गत कवि की अनेकानेक अन्यवृत्तियों और मनोदशाओं का समारोह देखने योग्य हुआ है। इन पद्यों को पढ़ने पर यदा-कदा बाइरन और माइकेल मधुसूदनदत्त का स्मरण आता है। इसमें एक वैयक्तिक प्यास और विषण्णता है जिसके कारण यह 'उत्तर रामचरित' के स्मृति-बहुल विशुद्ध करुण संगीत से भिन्न है। न इसमें 'उत्तर रामचरित' का-सा प्रकृति का प्रशस्त रंगमंच है। किन्तु अंचल की वैयक्तिकता सवथा ऐकान्तिक नहीं है, न उसमें कोरी कल्पना की प्रधानता है। वैयक्तिकता में जहाँ पर ऊपर लिखी आशंकाएँ होती हैं वहीं उसकी एक विशेषता भी है। बिना वैयक्तिकता के विद्रोह पनप नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अञ्चल का विद्रोह इसी वैयक्तिक पहलू को लेकर है।

पूछा जा सकता है कि इस वैयक्तिक पहलू को लेकर विद्रोह हो कैसे सकता है ! किसी आकस्मिक; दैवी या वैयक्तिक घटना से भी क्या कभी विद्रोह की सृष्टि हुई है ? यदि हो भी तो केवल अदृष्ट या दैव के विरुद्ध ही तो होगी ! विस्तीर्ण मानव-जगत् से उसका क्या सम्बन्ध ? इन प्रश्नों का उत्तर पाठकों को 'अपराजिता' पढ़ लेने पर मिलेगा। वे देखेंगे कि सम्पूर्ण काव्य में एक आकस्मिक घटना कितने विद्रोही भावों की सृष्टि करती है—वियोग और विद्रोह किस प्रकार एक दूसरे से होड़ करते हुए चले हैं। किस प्रकार एक की शक्तिमत्ता दूसरे को जीवन-व्यापी बनाती है: —

बीच भँवर में पाल गिराकर ओ नैया के खेने वाले।
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुँच जाते मतवाले।
लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर।
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अंतर।
चिर विद्रोही मग्न जिसका बस निज आवर्तों में झुकना।
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकना।

तो भी 'अंचल' का मुख्य कार्य 'अपराजिता' में वियोग की उन्मादिनी अनुभूतियों का प्रकाशन ही है। उसकी तृष्णा की नई पुकार नए युग की प्रतिध्वनि है। इस नई पुकार का एक भविष्य भी है, वही जिसे मैं अंचल की 'क्रान्ति-सृष्टि की नैसर्गिक सीमा' ऊपर कह चुका हूँ। तभी यह तृष्णा की पुकार युगवाणी के रूप में परिवर्तित हो सकेगी। काव्य के इतिहास में इसे छायावाद के एक श्रेणी आगे की सृष्टि सिद्ध होना चाहिए। इसके लिए इतना ही आवश्यक नहीं कि छायावाद को निराकारता के स्थान पर साकारता की अभिवृद्धि हो, वैयक्तिक भावुकता के स्थान पर निस्संग वैज्ञानिकता का भी आगमन होना चाहिए। चित्रणों में अधिकाधिक वस्तुसत्ता (Objectvivity) का सौन्दर्य आना चाहिए और युग-जीवन की प्राणमयी धाराओं का यथार्थ संचय होना चाहिए। जहाँ-जहाँ जीवन की गतियाँ अवरुद्ध है, वहाँ-वहाँ कवि की संवेदना सब से पहले पहुँचनी चाहिए। युग की वास्तविकताओं को खुले दिल और खुली आँखों न देखकर उन्हें अभिशाप मानने और उनसे दूर भागने की चेष्टा जितनी प्रतिगामिनी है उतना ही प्रतिगामी है नक़ली और ह्रासोन्मुखी सामाजिक प्रवृत्तियों को नैतिकता और वास्तविकता का बाना पहनना। जिस प्रकार निराधार भावुकता आध्यात्मिक या आदर्शवादी साहित्य का एक दूषण है उसी प्रकार सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि जिस समय जैसी प्रवृत्ति हो रही है उसका प्रकाशन ही कभी श्रेष्ठ साहित्य का गुण हो सका है। जाग्रत चेतना द्वारा अनुभूतियों का संयमन(Culture) और परिष्करण भी अत्यावश्यक है।

स्वर्गीय प्रसादजी ने एक बार मुझसे कहा था कि हम हिन्दी में शरच्चन्द्र को देखना चाहते हैं पर हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वह समाज कहाँ है जो शरच्चन्द्र के उपन्यासों में है! मैं नहीं जानता, बङ्गाल में ठीक वही समाज है या नहीं जो उन उपन्यासों में चित्रित है और न यही कह सकता हूँ कि वहाँ और यहाँ के समाज में वास्तविक अन्तर

कितना है, किन्तु प्रसादजी की वह बात उस समय मुझे इसलिए अच्छी लगी थी और इस समय इसी लिए स्मरण आई कि उसमें एक सूक्ष्म किन्तु अकाट्य सत्य निहित है जिसकी ओर सब की दृष्टि सहसा नहीं जाती। वह सत्य यह है कि प्रत्येक युग के साहित्य पर उस युग की सामाजिक संस्कृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है। पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य भी अपने युग की संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सके हैं, अनिवार्यतः उससे प्रभावित हुए हैं। युग की उच्च संस्कृति का सम्बन्ध-विच्छेद होने से उनका ह्रास भी हो गया है। जब आध्यात्मिक साहित्य, जो अपने को शाश्वत आध्यात्मिक या नैतिक सत्ता के आधार पर प्रतिष्ठित कहता है, युग संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सकता, तब वस्तून्मुखी साहित्य उससे पृथक् रह ही कैसे सकता है! भारतेन्दु से लेकर आज तक की साहित्य प्रगति में यह हम अच्छी तरह देख सकते हैं (ऊपर संक्षेप में इसका निर्देश किया भी जा चुका है) कि किस प्रकार साहित्यिक आदर्शों में सामयिकता की छाप रहती है। स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव-संकेतों की पात्री न रह कर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतीष्ठा पा रही है, यह अंचल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है; इसलिए मैंने साहित्य को इतिहास की वस्तु ऊपर कहा भी है। अब कहना इतना ही शेष रहा है कि नवीन युग की नवीन सांस्कृतिक रुचियों और प्रगतियों के अनुरूप साहित्य-रचना करते हुए हमें दो बातें कभी नहीं भूलनी चाहिए। एक यह कि हम अपनी आत्मा—अपने हृदय का सर्वश्रेष्ठ सत्य सब के सामने रख रहे हैं (चाहे इससे किसी को चोट ही क्यों न लगती हो) और दूसरी यह कि हम साहित्य की—काव्य की रचना कर रहे हैं जिसका अनिवार्य अंग है सौन्दर्य (चाहे उस सौन्दर्य की व्याख्या कुछ भी हो)। इन दोनों का उचित ध्यान रखने पर साहित्य के सम्यक् और निर्बाध विकास में कोई अड़चन नहीं आ सकती।

—